

सचिन्त्र

श्रीमद्भाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्द्ध-३

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, पम० आर० ए०एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

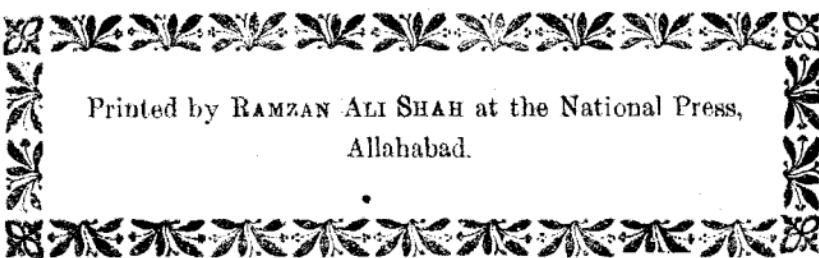
पटिलग्नर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००]

[पृष्ठ ३]



Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press,
Allahabad.

अयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध

की

विषय-सूची

चौवनवाँ सर्ग

५६३-५७३

गङ्गा-यमुना के सङ्गम-स्थल पर भरद्वाज के आश्रम में श्रीरामचन्द्रादि का पहुँचना । भरद्वाज को श्रीरामचन्द्र जी का अपने आगमन की सूचना दिलाना । भरद्वाज जी का आतिथ्य ग्रहण कर, श्रीरामचन्द्र जी का उनसे रहने के लिये किसी एकान्त स्थल के विषय में प्रश्न करना । उत्तर में भरद्वाज का चित्रकूटपर्वत पर रहने की सम्मति देना ।

पचपनवाँ सर्ग

५७४-५८२

भरद्वाज जी के बतलाये हुए मार्ग से श्रीरामचन्द्रादि का चित्रकूट की ओर प्रस्थान । यमुना के दक्षिणतट पर बढ़वृक्ष के नीचे सीता लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का टिकना ।

छप्पनवाँ सर्ग

५८२-५९३

सीता सहित श्रीरामलक्ष्मण का चित्रकूट पहुँचना, वहाँ वाल्मीकि मुनि से भेंट और उनसे वार्तालाप । चित्रकूट पर लक्ष्मण जी का पर्णकृटी बनाना ।

सत्तावनवाँ सर्ग

५९३-६०१

श्रीरामचन्द्रादि को विदा कर और गुह से विदा माँग सुमंत्र का अयोध्या की ओर प्रयाण । राजमार्ग में पुर-

वासियों का आर्तनाद सुनते हुए दशरथ-सदन में उनका प्रवेश । श्रीरामचन्द्र जी के बिना सुमंत्र के आया देख, महाराज दशरथ और उनकी खियों का पुनः विलाप ।

अट्टावनवाँ सर्ग

६०२-६११

पुत्रों के बनप्रवेश का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना । तदनन्तर किसी प्रकार सचेत होने पर महाराज दशरथ की सुमंत्र के साथ बातचीत । सुमंत्र द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का संदेश महाराज दशरथ को सुनाया जाना ।

उनसठवाँ सर्ग

६११-६२०

श्रीरामचन्द्र जी के बिरह में अपने राज्य में बसने वालों के विषाद का वृत्तान्त सुन, महाराज दशरथ का मूर्छित होना ।

साठवाँ सर्ग

६२०-६२६

पुत्रवात्सल्य के कारण पुत्र के वियोग का दारण दुःख सहने में असमर्थ कौशल्या जी को बन जाने का आग्रह करते देख, सुमंत्र जी का उनको समझाना बुझाना ।

इकसठवाँ सर्ग

६२६-६३३

महाराज के सामने कौशल्या का विलाप ।

बासठवाँ सर्ग

६३३-६३८

सचेत होने पर महाराज दशरथ का कौशल्या जी से, अपने पूर्वकृत कर्मों का स्मरण करते हुए, बार्तालाप ।

तिरसठवाँ सर्ग

६३९—६५२

अन्ध-मुनि-पुत्र-वध सम्बन्धो अपनी पापकथा का कौशल्या जी से दशरथ जी का निरूपण करना ।

चौसठवाँ सर्ग

६५३—६७२

अन्धमुनि से महाराज दशरथ का अपने हाथ से मारे गये मुनिकुमार के वध का वृत्तान्त निवेदन करना । अपने सुत के मरण का दुसंवाद सुन और दुःखी हो अन्धमुनि का महाराज दशरथ को शाप देना । महाराज दशरथ की मरणावस्था का वर्णन । महाराज के जीवन का अन्त ।

पैसठवाँ सर्ग

६७२—६८०

महाराज के मर जाने पर उनकी पत्नियों का रोनाधोना ।

छ्याछ्याठवाँ सर्ग

६८०—६८८

कैकेयो की निन्दा कर के कौशल्या जी का विलाप । अमात्यों द्वारा महाराज के शव की रक्षा ।

सरसठवाँ सर्ग

६८८—६९९

मार्कण्डेयादि द्वारा सार्वजनिक सभा का बुलाया जाना और उसमें अराजक राज्य के दोषों का वर्णन ।

अड्सठवाँ सर्ग

६९९—७०५

बशिष्ठ जी की सम्रति से राजदूतों का भरत जी के बुलाने को भेजा जाना ।

उनसठवाँ सर्ग

७०५—७१०

नमिहाल में उदास भरत जी का अपने सुहृदों से पिङ्कली रात के दुःस्वप्न का वर्णन करना ।

सत्तरवाँ सर्ग

७११-७१९

इतने ही में अयोध्या के दूतों का भरत जी के सामने पहुँचना । दूतों से भरत जी द्वारा कुशलप्रश्न पूँछा जाना । दूतों के साथ भरत शत्रुघ्न का अयोध्या की ओर प्रस्थान ।

इकहत्तरवाँ सर्ग

७१९-७३१

कैक्य देश से बड़ी हड्डबड़ी में प्रस्थान कर, भरत जी का उदास अयोध्या में पहुँच वहाँ की शोच्य निरानन्दमयी दशा को देखना ।

बहत्तरवाँ सर्ग

७३२-७४५

पिता के भवन में पिता के दर्शन न पाकर भरत का कैक्यी के भवन में जाना और वहाँ अपनी जननी के मुख से अपने पिता की मृत्यु का संवाद एवं अपने को राज्य दिलाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी के निवासिन का वृत्तान्त सुनना ।

तिहत्तरवाँ सर्ग

७४५-७५२

माता के वचनों को सुन शोकसन्तप्त भरत की शोकावस्था का वर्णन ।

चौहत्तरवाँ सर्ग

७५२-७६२

भरत द्वारा कैक्यी का फटकारा जाना ।

पचहत्तरवाँ सर्ग

७६२-७८१

विलाप करते हुए भरत का कण्ठस्वर पहचान, कौशल्या का सुमित्रा जी को भेज कर, भरत को अपने निकट बुल-

वाना । कौशल्या जी के सामने भरत जी का अपने को
निर्देष सिद्ध करने के लिये शपथें खाना ।

छिह्नरवाँ सर्ग

७८१-७८७

वशिष्ठ जी के समझाने बुझाने पर भरत जी का पिता
जी के शब्द का दाहकर्म करने को प्रवृत्त होना ।

सत्तरवाँ सर्ग

७८७-७९३

महाराज दशरथ के शब्द का प्रतकर्म पिता के गुणों को
स्मरण कर, भरत शत्रुघ्न का विलाप करना ।

अठत्तरवाँ सर्ग

७९३-८००

पूर्वद्वार पर खड़े हुए और आपस में बातचीत करते
हुए भरत शत्रुघ्न का कुञ्जा को देखना और भरत द्वारा
शत्रुघ्न का ध्यान उस ओर आकर्षित किया जाना, तब रोष
में भर शत्रुघ्न का मन्थरा को घसीटना ।

उन्नासीवाँ सर्ग

८००-८०४

राजकर्मचारियों द्वारा राजगद्वी पर बैठने की प्रार्थना किये
जाने पर, भरत जी का उसे अस्वीकार करना और
श्रीरामचन्द्र जी को वन से लाने के लिये वन जाने की इच्छा
प्रकट करना और मार्ग ठीक करने को कारीगरों को भेजने की
आज्ञा देना ।

अस्सीवाँ सर्ग

८०५-८११

भूप्रदेश-विशेषज्ञों द्वारा मार्ग की मरम्मत ।

इक्यासीवाँ सर्ग

८११-८१५

प्रातःकाल होने पर मागधवन्दीजनों द्वारा अपनी
स्तुति सुन, भरत जी का उनको वर्जना और स्वयं विलाप
करना ।

व्यासीवाँ सर्ग

८१५-८२४

सभा में बैठे हुए मध्यस्थों द्वारा भरत जी से अभिषेक कराने का अनुरोध किया जाना । उनके वचन को अस्तीकार कर, भरत का पास बैठे हुए सुमंत्र से वन जाने के लिये सेना तैयार करने की आशा देना ।

तिरासीवाँ सर्ग

८२५-८३१

अपने अनुयायियों के साथ भरत जी का गङ्गातट पर पहुँचना ।

चौरासीवाँ सर्ग

८३२-८३६

गङ्गातट पर पड़ी हुई भरत की सेना को देख और यह सेत्र कि भरत, श्रीरामचन्द्र जी को मारने जाते हैं, गुह का अपने अनुयायियों को एकत्र करना । तदनन्तर गुह का भरत जी को फल फूलों की भेंट देना ।

पचासीवाँ सर्ग

८३६-८४२

भरद्वाजाश्रम का मार्ग जानने के लिये भरत का गुह से प्रश्न । भरत और गुह का वार्तालाप ।

छ्यासीवाँ सर्ग

८४३-८४९

भरत के प्रति गुह का लक्ष्मण जी के गुणों का वर्णन करना ।

सत्तासीवाँ सर्ग

८४९-८५६

गुह की बातें सुन मूर्ढित भरत जी का कौशल्या जी को समझाना । भरत को गङ्गातट पर गुह द्वारा श्रीरामलक्ष्मण के टिकने का स्थान दिखलाया जाना ।

अद्वासीवाँ सर्ग

८५६-८६४

इड्गुदी वृक्ष के नीचे गुह की दिखलायी श्रीरामचन्द्र जी की साथरी देख, भरत जी का विलाप करना ।

नवासीवाँ सर्ग

८६५-८७१

सोकर ढठने पर भरत का शत्रुघ्न जी से गुह द्वारा नावें मँगवाने को कहना और गुह का भरत के समीप आना । भरतादि का गङ्गा के पार होना ।

नवेवाँ सर्ग

८७२-८७८

वशिष्ठ जी को आगे कर भरत का भरद्वाजाश्रम में प्रवेश । भरत और भरद्वाज जी का संवाद । भरद्वाज द्वारा भरत को श्रीरामचन्द्र जी के बसने का स्थान बतलाया जाना ।

इक्यानवेवाँ सर्ग

८७८-८९८

अपने तपःप्रभाव से भरद्वाज द्वारा भरत और उनके लश्कर का अतिथ्य किये जाने के वृत्तान्त का वर्णन ।

बानवेवाँ सर्ग

८९९-९०८

आतिथ्य ग्रहण करने के बाद भरत जी का भरद्वाज जी से विदा माँगना । मुनि का भरत जी को चित्रकूट का मार्ग बतलाना । भरद्वाज जी के पूँछने पर भरत जी का अपनी माताओं का परिचय देते हुए अपनी जननी कैकेयी की निन्दा करना । तब भरद्वाज जी का श्रीरामचन्द्र जी की वनयात्रा का प्रयोजन बतलाना । भरत जी का वहाँ से प्रस्थान ।

तिरानवेंवाँ सर्ग

९०८-९१५

दूर ही से भरत द्वारा चित्रकूट पर्वत पर श्रीरामचन्द्र जी का देखा जाना ।

चौरानवेंवाँ सर्ग

९१५-९२१

श्रीरामचन्द्र जी का सीता के प्रति चित्रकूट के बन की शामा का वर्णन करना ।

पञ्चानवेंवाँ सर्ग

९२२-९२७

चित्रकूट के निकट बहने वाली मन्दाकिनी के तट की शामा का वर्णन ।

छ़्यानवेंवाँ सर्ग

९२७-९३४

भरत जी के सैन्य-चालन का शब्द सुन बनवासी पशु-पक्षियों का भयभीत हो इधर उधर भागना । यह देख श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण को बुलाना । साल के बृक्ष पर चढ़ लक्ष्मण जी का भरत जी की सेना को देखना । सैन्य भरत को आया हुआ देख, सशङ्कित हो लक्ष्मण जी का भरत के बध के लिये श्रीरामचन्द्र जी से अनुरोध करना ।

सत्तानवेंवाँ सर्ग

९३५-९४२

श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण जी को उनकी भूल बतलाना । लक्ष्मण जी का अपनी भूल पर लज्जित होना । श्रीरामाश्रम से दूर भरत जी का अपनी सेना को ठहराना ।

अट्टानवेंवाँ सर्ग

९४२-९४६

श्रीरामाश्रम की ओर गुह के साथ भरत जी का पैदल प्रस्थान करना ।

निन्यानवेंवाँ सर्ग

१४६-१५७

पर्णशाला में श्रीरामचन्द्र जी को देख भरत जी का उनको प्रणाम करना ।

सौवाँ सर्ग

१५७-१७९

भरत के प्रति कुशल प्रश्न पूँछने के मिस श्रीरामचन्द्र जी का राजनीति का उपदेश ।

एक सौ पहला सर्ग

१८०-१८२

भरत को श्रीरामचन्द्र जी को महाराज दशरथ के स्वर्गवासी होने का संवाद सुनाना ।

एक सौ दूसरा सर्ग

१८२-१९४

पिता के मरने का दुसंवाद सुन, श्रीरामचन्द्र जी का विलाप करना और जलाञ्जलि देने के लिये सब भाइयों का मन्दाकिनी के तट पर जाना ।

एक सौ तीसरा सर्ग

१९४-१००२

वशिष्ठ जी को आगे कर, महाराज दशरथ की रानियों का मन्दाकिनी के तट पर जाना । कौशल्या जी का सीता जी को धोरज बँधाना ।

एक सौ चौथा सर्ग

१००३-१००९

श्रीरामचन्द्र जी का भरत जी से उनके वहाँ आने का कारण पूँछना । इस पर वन से लौट कर अयोध्या में जा, राज्य करने के लिये भरत जी की श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना । उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी का पिता के वचन का गौरव रखने तथा उनके सत्य की रक्षा करने के लिये अयोध्या जाना अस्तीकार करना ।

- एक सौ पाँचवाँ सर्ग** १००९—१०२१
 “पितृशोक को दूर कर तुम स्वयं राज्य करो”—यह
 उपदेश श्रीरामचन्द्र जी का भरत को देना ।
- एक सौ छठवाँ सर्ग** १०२१—१०३०
 श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिये भरत जी का प्रयत्न
 करना ।
- एक सौ सातवाँ सर्ग** १०३१—१०३६
 विरादरी वालों के बीच बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी का
 भरत के गुणों की प्रशंसा करना ।
- एक सौ आठवाँ सर्ग** १०३७—१०४२
 ब्राह्मणोत्तम जावालि का नास्तिकवाद के सहारे श्रीरा-
 चन्द्र जी को लौटाने का प्रयास करना ।
- एक सौ नवाँ सर्ग** १०४२—१०५४
 ‘जावालि’ की वातों का श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उत्तर ।
- एक सौ दसवाँ सर्ग** १०५४—१०६२
 इच्छाकुकुल में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजगद्दी पर बैठते आये
 हैं, यह समझाने के लिये वंशानुचरित कथनपूर्वक वशिष्ठ
 जी का श्रीरामचन्द्र को कुलधर्मोपदेश ।
- एक सौ ष्यारहवाँ सर्ग** १०६२—१०७१
 वशिष्ठ के समझाने पर भी श्रीरामचन्द्र जी को लौटने
 के लिये तैयार न देख, भरत जी का अनशनवत धारण
 करने की तैयारी करना । तब श्रीरामचन्द्र जी का भरत को
 सान्त्वना प्रदान करना ।

एक सौ बारहवाँ सर्ग

१०७१-१०७९

दशग्रोव-वधैषी महर्षि का भरत जी को समझाना कि,
वे श्रीरामचन्द्र जी का कहना मान लें और अयोध्या में जा
राज्य करें। इतने बड़े भारी राज्य का शासन करने के
विचार से भयभीत भरत का श्रीरामचन्द्र जी की
पादुकाओं का उनसे मींगना ।

एक सौ तेरहवाँ सर्ग

१०७९-१०८४

पादुका ग्रहण कर भरत जी का पुनः भरद्वाजाश्रम में
आना। भरद्वाज जी का भरत के आचरण की प्रशंसा
करना। भरत जी का शृङ्खलेरपुर में पहुँचना ।

एक सौ चौदहवाँ सर्ग

१०८५-१०९२

भरत के अयोध्या में जाने पर वहाँ की दुर्दशा देख, भरत
जी का विलाप करना ।

एक सौ पन्द्रहवाँ सर्ग

१०९२-१०९९

पुरोहित, मंत्री और पुरवासियों सहित भरत का
नन्दिग्राम में प्रवेश और वहाँ पर पादुकाओं का पट्टा-
भिषेक ।

एक सौ सोलहवाँ सर्ग

१०९९-११०६

अपने अपने आवासस्थानों को छोड़ कर भागे हुए
ऋषियों का श्रीरामचन्द्र जी के सामने खर की दुष्टता का
वर्णन करना ।

एक सौ सत्रहवाँ सर्ग

११०६-१११३

श्रीरामचन्द्र जी का महर्षि अत्रि के आश्रम में गमन ।
अनुसूया को सीता जी का प्रणाम करना और अनुसूया जी
का सीता को आशीर्वाद देना ।

एक सौ अद्वारहवाँ सर्ग

१११४—११२६

पातिव्रत्य धर्म के विषय में सीता और अनुसूया जो का परस्पर कथोपकथन। अत्रिपत्नी अनुसूया का सीता को प्रीतिपुरस्कार। सीता का अनुसूया जी को अपने स्वयंवर का समस्त वृत्तान्त सुनाना।

एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग

११२६—११३२

रात भर अत्रियाश्रम में रह कर, दूसरे दिन श्रीरामादि का मुनि से विदा माँग, दण्डकवन में प्रवेश करना।

धयोध्याकाण्ड के उत्तरार्द्ध की विषय-सूची
समाप्त हुई।

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भारामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्भारामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—*—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।

आख्या कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकितम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।

शृणुवन्नरामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।

अतृप्तस्तं मुनि वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ३ ॥

गोपदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।

रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दं वोरं जानकीशोकनाशनम् ।

कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्गुरम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं

जितेन्द्रियं बुद्धिमत्ता वरिष्ठम् ।

वातात्मजं वानरयूथमुख्यं

श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उद्धुद्धुच सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवहि जनकात्मजायाः ।

आदाय तनैव ददाह लड्डुं
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्जनांद्रकमर्नायविग्रहम् ।

पारिजाततरमूलवासिनं
भाष्यरामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपुर्णलोचनं
मार्हत नमत राज्ञसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।

वेदः प्राचेतसादासीत्सादाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥

तदुपगतसमाप्तसन्धियोगं
सममधुरं पनतार्थवाक्यबद्धम् ।

रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दर्शशरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्येयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरक्षदोपम् ।

आजानुवाहुमरविन्ददलायताक्षं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

वैदेहीसहितं सुग्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येषुष्पकमासने मरणमये धीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामबम् ॥१४॥

—:—

माधवसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं गणितर्ण च त्र्यम्बजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविद्धोपशान्तये ॥ १ ॥

लक्ष्मीनारायणं कन्दे तद्वक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थस्त्र्या गुहस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदाचन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविद्धनप्रगमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीषुप्रदं रामं स रीरिषुनिशारकम् ।
ज्ञानकीजानिमनिशं वन्दे पद्मगुहान्दितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतार्थमनुलं भजे तपत्रयापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेहमूर्खोऽपि वाग्मी
जडम तरपि जन्मुर्जयते प्राज्ञमौजिः ।

सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम चत्रसि वियतां सन्निविं मानसे च ॥ ७ ॥

मिश्चापिद्रान्नदुधर्वनिधिं पनविन्नताः ।
जयतोयोख्यतरणिर्मासतां ना हृदम्भरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मनैरखण्डतैः ।

गुहभावं व्यञ्जयन्तो भाति श्रीजयतीथेवाक् ॥ ६ ॥

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षसम् ।

आरुहा कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकिमुर्निसिहस्य कवितावनचारिणः ।

शृगवन्नामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।

अतृपस्तं मुर्नि वन्दे प्राचेतसमकलमषम् ॥ १२ ॥

गोष्ठदीकृतवारीशं मशकोकृतराक्षसम् ।

रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अज्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।

कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं

जितेन्द्रियं बुद्धिमत्तां वरिष्ठम्

वातात्मजं वानरयूथमुख्यं

श्रीरामदूतं शरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं

यः शोकवर्हिं जनकात्मजायाः ।

आदाय तेनैष ददाह लङ्घां

नमामि तं प्राञ्छलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं

काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततर्हमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत रात्रसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेदे परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमाम्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनताथेवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचर्याति प्रभञ्जनसुते तत्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ २२ ॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावद्यं सुवच्चितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथं नेव विद्वदर्धिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥ २३ ॥

भूषारत्नं भुवनघलयस्याख्लिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरत्नम् ।

चन्तारलं जगति भजतां सत्सरोजद्युरलं
 कौसल्याया लसतु मम हन्मण्डले पुत्ररक्षम् ॥ २४ ॥
 महान्याकरणामेऽपि मन्यमानसमन्दरम् ।
 कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुगास्महे ॥ २५ ॥
 मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।
 नानावोरछुवर्णानां निरुषाशमायितं वभै ॥ २६ ॥
 स्वान्तस्थानन्तश्याय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।
 उत्तुङ्गवाकः उत्तुङ्गाय मध्यदुग्धाव्यये नमः ॥ २७ ॥
 वाल्मीकिर्गीः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया
 यद्दुग्धुपज्ञोवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥
 सूक्तिरक्षाकरे रस्ये मूजरामायणार्णवे ।
 विहरन्तो महीयांसः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥
 हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।
 तस्य निःसरते वाणो जहुकन्याप्रदाहवत् ॥ ३० ॥

—*—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्रामश्वरथं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
 सन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥
 वागोशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुणकमे ।
 यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥
 दोर्भिर्युक्ता चतुर्भिः स्फुटिकमणिमयोमन्तमालां दधाना
 हस्तनैकेन पद्मं सितमपि च शुक्रं पुष्टकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्कुस्फटिकमणिभा भासमानासमाना
स। मे वाग्द्वतेयं निवशतु वदने सर्वदा तु प्रसन्ना ॥३॥

कृजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षम् ।
श्वारुद्ध्य कविताशाखां वन्दे वाल्मोक्षिकोक्षिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मोक्षिलम् निविहस्य कवितावनवागिणः ।
शृणुत्वामकथानां द का न यानि परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिवन्मततं रामचरितामृतमागरम् ।
अतृप्तस्तं मुति वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ ६ ॥

गोपदोक्तनवारोश मशकीकृतराक्षम् ।
रामायणमहामाज्ञारन्तं वन्देऽनिजात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं ज्ञानकीशोकनाशनम् ।
कपोशमलहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्करम् ॥ ८ ॥

उद्धुद्ध्य सिन्ध्राः सत्तिलं सत्तीलं
यः शोकवद्दिनकात्मजायाः ।
आदाय तेनेव ददाह लङ्घां
नमामि तं प्राञ्जितिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

आञ्जनेयमनिषाठताननं
काञ्जनद्रिकमनोयविग्रहम् ।
पारिजाततस्मूलवापिनं
भावयाम पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथरौतनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुति नमत रात्रसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कर्णाञ्जलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पिवत्यादरात्
वाल्मीकिर्वदनारविन्दगलितं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणौरत्यन्तसेषद्वं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥ १३ ॥
तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गकल्लोलसङ्कल्लम् ।
कागडग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

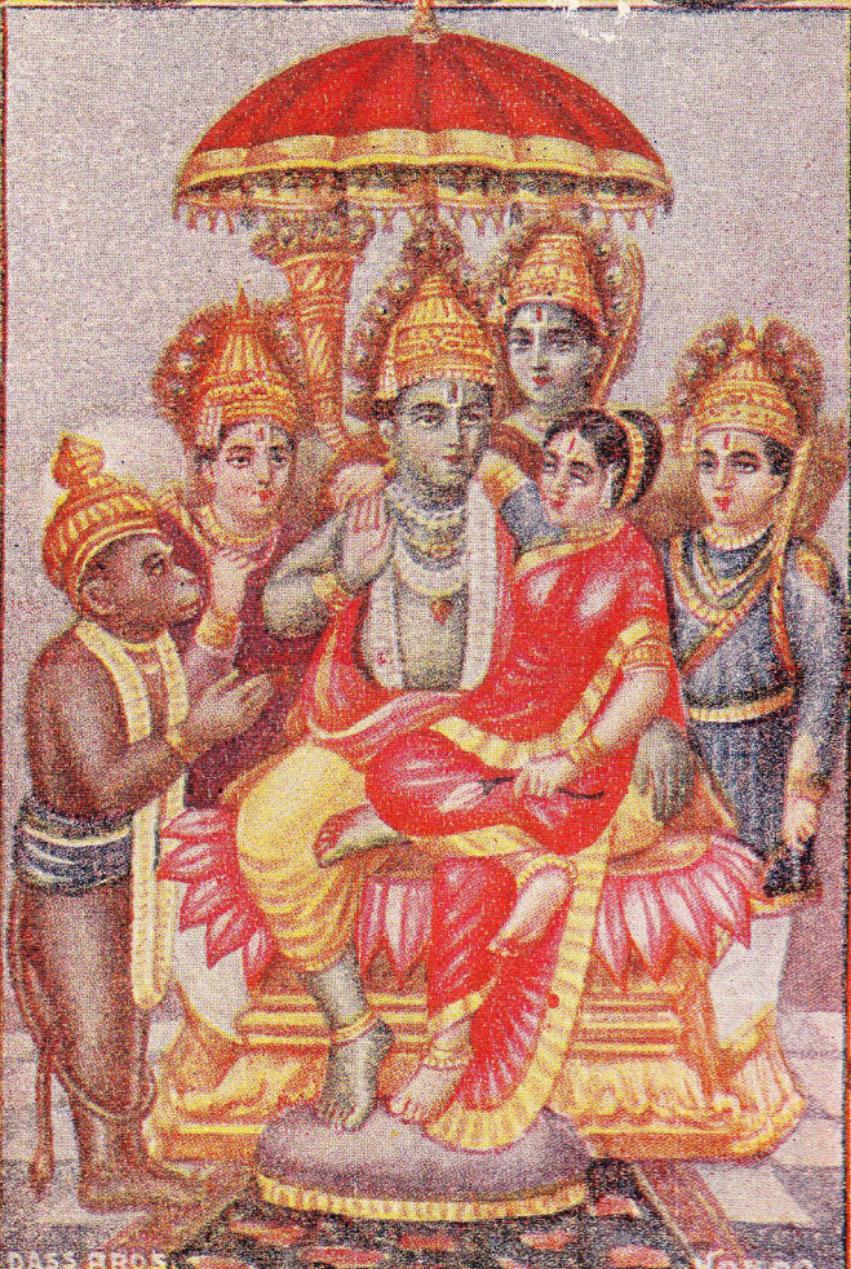
वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येषुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १८ ॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
 शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वायवादिकोणेषु च ।
 सुग्रीवश्च विभीषणश्च युधराट् तारासुतो जाम्बवान्
 मध्ये नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे इयामलम् ॥११॥

नमोऽस्तु रामाय सलद्मणाय
 देव्यै च तस्यै जनकात्मजाय ।
 नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिलेभ्यो
 नमोऽस्तु चन्द्राकर्मरुद्रगणेभ्यः ॥ २० ॥





DASS BROS.

NAGAR

आसाद्य नगरीं दिव्यामभिषिक्ताय सीतया ।

॥ १ ॥

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—: * :—

अर्थोद्ध्याकाण्डः

(उत्तरार्द्ध)

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—: * :—

ते तु तस्मिन्महावृक्ष उषित्वा रजनीं शिवाम् ।
विमलेऽभ्युदिते सूर्ये तस्मादेशात्प्रतस्थिरे ॥ १ ॥

इस प्रकार वे तीनों उस बड़े बटवृक्ष के नीचे रात बिता कर,
प्रातःकाल विमल सूर्योदय होने पर वहाँ से रवाना हुए ॥ १ ॥

यत्र भागीरथीं गङ्गां यमुनाऽभिप्रवर्तते ।

जग्मुस्तं देशमुद्दिश्य विगाह सुमहद्वनम् ॥ २ ॥

जहाँ पर श्रीगङ्गा और श्रीयमुना का सङ्गम होता था, वहाँ अर्थात्
उस देश की ओर, उस महावन में हो कर वे चले जाते थे ॥ २ ॥

ते 'भूमिभागान्विविधान्देशांश्चापि मनोरमान् ।

अदृष्टपूर्वान्पश्यन्तस्तत्र तत्र यशस्विनः ॥ ३ ॥

वे यशस्वी दोनों भाई रास्ते में अनेक वन प्रदेशों और अनेक
पहिले न देखे हुए और रमणीक देशों को देखते हुए चले जाते थे ॥ ३ ॥

यथा क्षेमेण^१ गच्छन्स पश्यंश्च विविधान्दुमान् ।

निवृत्तमात्रे दिवसे रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ४ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रास्ते में उठते बैठते तथा अनेक प्रकार के फूले हुए बृक्षों की शोभा निरखते हुए, जब दिन थोड़ा रह गया तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ ४ ॥

प्रयागमभितः पश्य सौमित्रे धूममुदगतम्* ।

अग्नेर्भगवतः केतुं मन्ये सन्निहितो मुनिः ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो प्रयाग तीर्थ की ओर जो धुशा उठ रहा है, वह मानों भगवान् अग्नि देव की पताका फहरा रही है । इससे जान पड़ता है कि, भरद्वाज जी का आश्रम भी यहीं कहीं पास ही है ॥ ५ ॥

नूनं प्राप्ताः स्म सम्भेदं^२ गङ्गायमुनयोर्वयम् ।

तथा हि श्रूयते शब्दो वारिणो वारिघट्टजः† ॥ ६ ॥

हम लोग गङ्गा यमुना के सङ्गम के समीप निश्चय ही आ पहुँचे हैं, क्योंकि दोनों नदियों के जलों की टक्कर से उत्पन्न शब्द साफ सुनाई दे रहा है ॥ ६ ॥

दारूणि परिभिन्नानि वनजैरूपजीविभिः ।

भरद्वाजाश्रमे चैते हृष्यन्ते विविधा द्रुमाः ॥ ७ ॥

यहीं के वन में से लकड़ी इत्यादि काट कर बेचने वालों ने लकड़ियाँ काटी हैं । देखो भरद्वाज जी के आश्रम में ये नाना प्रकार के बृक्ष कड़े हुए देख पड़ते हैं ॥ ७ ॥

^१ क्षेमेण — उपविश्वेत्यायच शनैः शनैः स्वेच्छानुरोधेन सम्पृश्यन् सम्पृश्यन् । (रा०) ^२ संभेदं — संगमं । (गो०) * पाठान्तरे — “धूम-मुच्छतम् ” † पाठान्तरे — “ वारिघटः ” ।

धन्विनौ तौ सुखं गत्वा लम्बमाने दिवाकरे ।
गङ्गायमुनयोः सङ्घौँ प्रापतुर्निलयं मुनेः ॥ ८ ॥

इस प्रकार आपस में बातचीत करते हुए दोनों धनुधर्षी भाई ; सूर्य के छिपते छिपते सङ्घम पर स्थित भरद्वाज जी के आश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

रामस्त्वाश्रममासाद्य त्रासयन्मृगपक्षिणः ।
गत्वा मुहूर्तमध्वानं भरद्वाजमुपागमत् ॥ ९ ॥

आश्रम में दो धनुर्द्धरों को आते देख, आश्रमवासी पशुपत्ती भयभीत हुए । इतने ही में श्रीरामबन्द जी एक मुहूर्त चल कर, भरद्वाज जी की (कुटी के) पास पहुँच गये ॥ ९ ॥

ततस्त्वाश्रममासाद्य मुनेर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ।
सीतयाऽनुगतौ वीरौ दूरादेवावतस्थतुः ॥ १० ॥

तदनन्तर सीता सहित दोनों वीर भरद्वाज जी के दर्शन करने की अभिलाषा से, कुटी से कुछ दूर रुक गये । (रुकने का कारण भूषण टीकाकार ने यह बतलाया है कि सन्ध्या का समय था । अतः उस समय अपिग्रन्त अग्निहोत्र कर रहे थे । कहीं उनके कार्य में विघ्न न पड़े, अतः कुछ देर बे टहर गये, किन्तु जब अनुमति मिल गयी तब) ॥ १० ॥

स प्रविश्य महात्मानमृषिं शिष्यगणैर्वृत्तम् ।
३संशितव्रतमेकाग्रं तपसा लब्धचक्षुषम् ॥ ११ ॥

१ सन्धौ—सङ्घमेवत्मानं । २ संशितव्रतं—तीक्ष्णव्रतं । (गो०)

फिर श्रीरामचन्द्र (आदि) आश्रम में गये । वहाँ पहुँच कर उन्होंने शिष्यों से घिरे, उग्र वतधारी एवं तपद्वारा भूत, भवित्य, वर्तमान का ज्ञान प्राप्त किये हुए, भरद्वाज जी को देखा ॥ ११ ॥

हुतायिहोत्रं दृष्टैव महाभागं कृताञ्जलिः ।

रामः सौमित्रिणा सार्धं सीतया चाभ्यवादयत् ॥ १२ ॥

महाभाग ऋषि को अग्निहोत्र करते हुए देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण और सीता सहित हाथ जोड़ कर, प्रणाम किया ॥ १२ ॥

न्यवेदयत चात्मानं तस्मै लक्ष्मणपूर्वजः ।

पुत्रौ दशरथस्यावां भगवन्रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

और यह कह कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपना परिचय दिया—
हे भगवन् ! हम दोनों श्रीराम और श्रीलक्ष्मण महाराज दशरथ
के पुत्र हैं ॥ १३ ॥

भार्या ममेयं वैदेही कल्याणी जनकात्मजा ।

मां चानुयाता विजनं तपेवनमनिन्दिता ॥ १४ ॥

और यह कल्याणी जानकी मेरी स्त्री और राजा जनक की
पुत्री है और यह अनिन्दिता जानकी मेरे साथ विजन तपेवन में
जाने के लिये आयी है ॥ १४ ॥

पित्रा प्रत्राज्यमानं मां सौमित्रिरनुजः प्रियः ।

अयमन्वगमदभ्राता वनमेव दृढव्रतः ॥ १५ ॥

पिता ने मुझे वनदास दिया है और सुमित्रा देवी के पुत्र तथा
मेरे प्रिय छोटे भाई लक्ष्मण दृढव्रत धारण किये हुए, मेरे पीछे हो
लिये हैं ॥ १५ ॥

पित्रा नियुक्ता भगवन्प्रवेक्ष्यामस्तपेवनम् ।

धर्ममेव चरिष्यामस्तत्र मूलफलाशनाः ॥ १६ ॥

हे भगवन् ! हम लोग पिता के आदेशानुसार तपेवन में प्रवेश करेंगे और वहाँ फलमूल खा कर धर्माचरण करेंगे ॥ १६ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

उपानयत^१ धर्मात्मा गामधर्यमुदकं ततः ॥ १७ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज ने धीमान् राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन कर, उनको मधुपर्क, अर्घ्य और चरण धोने को जल रखा ॥ १७ ॥

[श्रीरामचन्द्र जी को राजकुमार का विशेषण आदिकवि ने इसलिये दिया है कि, भरद्वाज ने उनको मधुपर्क दिया था मधुपर्क देने का विधान स्मृत्यानुसार राजा का भी है । यथा—

गो मधुपर्कर्हि वेदाध्याय्याचार्य ऋत्विक् स्नातको राजा वा धर्मयुक्तः इति ।]

नानाविधानैवरसान्वन्यमूलफलाश्रयान् ।

तेभ्यो ददौ तप्तपा वासं चैवान्वकल्पयतुः ॥ १८ ॥

नाना प्रकार के वन के कन्दमूल, फल अन्न तथा रसीले पदार्थ उनके भोजन के लिये दिये और टिकने के लिये स्थान बतलाया । (रसीले पदार्थ से अभिप्राय शरवत से जान पड़ता है) ॥ १८ ॥

मृगपक्षिभिरासीनो मुनिभिश्च समन्ततः ।

राममागतमभ्यर्च्य स्वागतेनाह तं मुनिः ॥ १९ ॥

१ उपानयत—रामसमीपं प्रापयत । (शि०) २ अन्नरसान्—रस प्रधानान्वदार्थविशेषानित्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—“चैवाभ्यकल्पयत् ।”

मृग, पक्षी और मुनियों के बीच में बैठे हुए महर्षि भरद्वाज ने श्रीरामचन्द्र जी का स्वागत किया और उनसे कुशल पूँछी ॥ १६ ॥

प्रतिगृह्य च तामर्चामुपविष्टं स राघवम् ।

भरद्वाजोऽब्रवीद्वाक्यं धर्मयुक्तमिदं तदा ॥ २० ॥

तदनन्तर, इस प्रकार महर्षि की पूजा ग्रहण कर के, आसीन श्रीरामचन्द्र जी से, भरद्वाज जी ने ये धर्मयुक्त वचन कहे ॥ २० ॥

चिरस्य खलु काकुत्स्थ पश्यामि त्वामिहागतम् ।

श्रुतं तत्र मया चेदं विवासनमकारणम् ॥ २१ ॥

हे काकुत्स्थ ! बहुत दिनों बाद आज मैं तुम्हें पुनः इस आश्रम में आया हुआ देखता हूँ । मैंने सुना है कि, तुमका अकारण वनवास हुआ है ॥ २१ ॥

अवकाशो विविक्तोऽयं महानद्योः समागमे ।

पुण्यश्च रमणोयश्च वसत्विह भवान्सुखम् ॥ २२ ॥

अतः इन दीनों महानदियों के सङ्गम पर, इस एकान्त, पवित्र एवं रम्य स्थान पर आप सुखपूर्वक वास करें ॥ २२ ॥

एवमुक्तः स वचनं भरद्वाजेन राघवः ।

प्रत्युवाच शुभं वाक्यं रामः सर्वहिते रतः ॥ २३ ॥

भरद्वाज के इन वचनों को सुन, सर्वहितैयो श्रीरामचन्द्र जी ने ये शुभ वचन कहे ॥ २३ ॥

भगवन्नित आसन्नः पौरजानपदो जनः ।

'सुदर्शमिह मां प्रेक्ष्य मन्येऽहमिमयमाश्रमम् ॥ २४ ॥

आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः ।
अनेन कारणेनाहमिह वासं न रोचये ॥ २५ ॥

हे भगवन् ! यह वासस्थान पुरवासियों को अत्यन्त निकट पड़ेगा । अतः मुझे और सीता जी को देखने के लिये लोग यहाँ आसानी से चले आया करेंगे । अतः मुझे यहाँ का रहना उचित नहीं जान पड़ता ॥ २५ ॥ २५ ॥

एकान्ते पश्य भगवन्नाश्रमस्थानमुत्तमम् ।
रमेत यत्र वैदेही सुखार्हा जनकात्मजा ॥ २६ ॥

हे भगवन् ! अतः मेरे रहने के लिये कोई ऐसा एकान्त और उत्तम स्थान आश्रम के लिये बतला दीजिये, जहाँ जानको जी का मन लगे और (यह) सुखपूर्वक रह सके ॥ २६ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरद्वाजो माहामुनिः ।
राघवस्य ततो वाक्यमर्थग्राहकमब्रवीत् ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के इन शुभ वचनों को सुन, महर्षि भरद्वाज उनसे यह अर्थबोधक वचन बोले ॥ २७ ॥

दशक्रोश इतस्तात गिरिर्यस्मिन्निवत्स्यसि ।
महर्षिसेवितः पुण्यः सर्वतः सुखदर्शनः ॥ २८ ॥

हे वन्स ! यहाँ से दस कोस पर तुम्हारे रहने योग्य एक पहाड़ है, जो महर्षियों से नेचित होने के कारण पवित्र है और उसके चारों ओर नयनाभिराम दृश्य है ॥ २८ ॥

गोलाङ्गूलानुचरितो वानरक्षनिषेवितः ।

चित्रकूट इति ख्यातो गन्धमादनसन्निभः ॥ २९ ॥

उस पर्वत पर लंगूर, बंदर और रोक घूमा फिरा करते हैं।
उस पर्वत का नाम चित्रकूट है और उसकी शोभा गन्धमादन को
तरह है ॥ २९ ॥

यावता चित्रकूटस्य नरः शृङ्गाण्यवेक्षते ।

कल्याणानि^१ समाधत्ते^२ न पापे कुरुते मनः ॥ ३० ॥

जब तक लोग चित्रकूट के शृङ्गों को देखते हैं, तब तक उनको
पुण्य होता है और उनका मन पाप की ओर नहीं दैड़ता। अथवा
जो लोग चित्रकूट पर्वत के शृङ्गों को देख लेते हैं, वे पुण्याचरण
करने लगते हैं, उनका मन कभी पापकर्मों की ओर नहीं जाता—
फिर जो लोग वहाँ रहते हैं, उनके पुण्य का क्या कहना है! ॥ ३० ॥

ऋषयस्त्र बहवो विहृत्य शरदां शतम् ।

तपसा दिवमारुढाः॑ कपालशिरसा सह ॥ ३१ ॥

वहाँ बहुत से ऋषि लोग सैकड़ों वर्षों तक तप कर (वृद्धावस्था
को प्राप्त हो कर भी, तपःप्रभाव से शरोर से हृष पुष्ट बने रह कर)
खेलते कूदते सशरीर स्वर्ग चले गये ॥ ३१ ॥

प्रविविक्तमहं मन्ये तं वासं भवतः सुखम् ।

इह वा वनवासाय वस राम मया सह ॥ ३२ ॥

^१ कल्याणानि — पुण्यकर्माणि । (गो०) ^२ समाधत्ते — प्राप्नोति । (गो०)

^३ कपालशिरसा — सशरीराः स्वर्गंगता इत्यर्थः । (गो०)

वह स्थान विलकुल एकान्त है । मेरी समझ में तो आप वहाँ आराम से रहेंगे । अथवा हे राम ! बनवास की अवधि पूरी होने तक आप मेरे साथ मेरे आश्रम ही में रहिये ॥ ३२ ॥

स रामं सर्वकामैस्तं भरद्वाजः प्रियातिथिम् ।

सभार्यं सह च भ्रात्रा प्रतिजग्राह धर्मवित् ॥ ३३ ॥

महर्षि भरद्वाज जो ने सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का, अतिथि योग्य सत्कार कर, उनको अपने वश में कर लिया ॥ ३३ ॥

तस्य प्रयागे रामस्य तं महर्षिमुपेयुषः ।

प्रपन्नार्यं रजनी पुण्या चित्राः कथयतः कथाः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का प्रयागलेव्र में महर्षि भरद्वाज जी के साथ समागम होने पर अनेक प्रकार की कथा वाच्चा होते होते पुण्यमयी रात्रि हो गयी ॥ ३४ ॥

सीतातृतीयः काकुत्स्थः परिश्रान्तः सुखोचितः ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये तां रात्रिमवसत्सुखम् ॥ ३५ ॥

सुख से रहने योग्य श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और तीसरी सीता अर्थात् तीनों मार्ग चलने की थकावट से कातर हो, रमणीक भरद्वाज के आश्रम में उस रात सुखपूर्वक वास करते हुए ॥ ३५ ॥

प्रभातायां रजन्यां तु भरद्वाजमुपागमत् ।

उवाच नरशार्दूलो मुनिं ज्वलिततेजसम् ॥ ३६ ॥

१ सर्वकामैः प्रतिजग्राह—अतिथियोऽयसत्कारैर्वशीकृतवान् । प्रतिजग्राह—उपचार । (गो०) २ प्रपन्ना—प्राप्ता । (गो०) ३ सीतातृतीयायस्यसः । (शि०)

जब रात व्यतीत हुई और सबेरा हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी तपस्या के तेज से जाज्वल्यमान महर्षि भरद्वाज के पास गये और यह बोले ॥ ३६ ॥

शर्वर्णं भवग्नव्य सत्यशीलं तवाश्रमे ।

उषिताः स्मेह वसतिमनुजानातु^१ नो भवान् ॥ ३७ ॥

हे सत्यशील भगवन ! आज हमने आपके इस आश्रम में बस कर, रात (बड़े आराम से) बिनायी । अब आप कृपा कर, हमें उस स्थान पर, जिसे आपने बतलाया है, जाने को आज्ञा दीजिये ॥ ३७ ॥

रात्र्यां तु तस्यां व्युष्टायां भरद्वाजोऽब्रवीदिदम् ।

मधुमूलफलोपेतं चित्रकूटं त्रनेति ह ॥ ३८ ॥

उस रात के बीत जाने पर भरद्वाज जी ने यह कहा—अब आप मधु, मूल, फलयुक्त चित्रकूट पर्वत पर जाइये ॥ ३८ ॥

वासमौपयिकं मन्ये तव राम महावल ।

नानानगगणोपेतः किन्नरोरंगसेवितः ॥ ३९ ॥

हे महावली राम ! मेरी समझ में चित्रकूट ही आपके रहने योग्य ठीक स्थान है । क्योंकि वहाँ अनेक प्रकार के वृक्ष हैं, वहाँ किन्नर और नाग बसते हैं ॥ ३९ ॥

मयूरनादाभिरुतो गजराजनिषेवितः ।

गम्यतां भवता शैलश्चित्रकूटः स विश्रुतः ॥ ४० ॥

वहाँ मेरा दोला करते हैं और बड़े बड़े हाथी घूमा करते हैं, अतः आप उस प्रसिद्ध चित्रकूट पर्वत पर जाइये ॥ ४० ॥

^१ अनुजानातु—आज्ञापयतु । (गो०)

पुण्यश्च रमणीयश्च बहुमूलफलायुतः ।

तत्र कुञ्जरथानि मृगयूथानि चाभितः ॥ ४१ ॥

वह स्थान अति पवित्र, रमणीय और नाना प्रकार के फूल फलों से परिपूर्ण है। वहाँ कुञ्जरों और मृगों के झुण्ड चरा करते हैं। उन्हें आप वहाँ देखेंगे ॥ ४१ ॥

विचरन्ति वनान्तेऽस्मिस्तानि द्रक्ष्यसि राघव ।

सरित्प्रस्त्रवणप्रस्थान्दरीकन्दरनिर्दरान् ।

चरतः सीतया सार्धं नन्दिष्यति मनस्तव ॥ ४२ ॥

वहाँ की नदियों, झरनों, पर्वतशिखरों और कन्दराओं को देखते हुए, विचरण करने पर, तुम्हारा और सीता का मन बहुत प्रसन्न होगा ॥ ४२ ॥

प्रहृष्टकोयष्टि^१ककोकिलस्वनै-

र्विनादितं तं वसुधाधरं शिवम् ।

मृगैश्च मत्तैर्बहुपिश्च कुञ्जरैः

सुरम्यमासाद्य समावसाश्रमम् ॥ ४३ ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

उस पवित्र पर्वत पर टिठहरी और कोयले प्रसन्न हो बोला करती हैं। उस पर अनेक मृग और बहुत से मत्त गज धूमा करते हैं। इस प्रकार के उस बड़े रमणीक पर्वत पर आप जा कर वास कीजिये ॥ ४३ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौबनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

^१ कोयष्टिकाः—टिट्टिभकाः । (गो०)

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—:०:—

**उषित्वा रजनीं तत्र राजपुत्रावरिन्दमौ ।
महर्षिमभिवाद्याथ जग्मतुस्तं गिरिं प्रति ॥ १ ॥**

शत्रुघ्नों के दमन करने वाले श्रीराम और लक्ष्मण प्रयाग में उस रात रह कर, प्रातःकाल होते ही मुनि को प्रणाम कर, चित्रकूट पर्वत की ओर प्रस्थानित हुए ॥ १ ॥

**तेषां चैव स्वस्त्ययनं महर्षिः स चकार ह ।
प्रस्थितांश्चैव तान्प्रेक्ष्य पिता पुत्रानिवान्वगात् ॥२॥**

उनको वहाँ से यात्रा करते देख, महर्षि भरद्वाज ने उसी प्रकार उनका स्वस्त्यवाचन किया जैसे पिता अपने निज पुत्र का करता हो ॥ २ ॥

**ततः प्रचक्रमे वक्तुं वचनं स महामुनिः ।
भरद्वाजो महातेजा रामं सत्यपराक्रमम् ॥ ३ ॥**

तदनन्तर महातेजस्वी महर्षि भरद्वाज सत्यपराक्रमी श्रीराम-चन्द्र जी से कहने लगे ॥ ३ ॥

**गङ्गायमुनयोः सन्धिमासाद्य मनुजर्षभौ ।
कालिन्दीमनुगच्छेतां नदीं पश्चान्मुखाश्रिताम् ॥ ४ ॥**

१ अनुगच्छेतां—अनुसृत्यगच्छेतां । (गो०) २ पञ्चान्मुखाश्रिताम्—पश्चिमाभिमुखैभूत्वागच्छेतां । (गो०)

हे मनुजश्रेष्ठ ! इस गङ्गा यमुना के सङ्गम से, पश्चिम की ओर यमुना के किनारे किनारे आप जाइये ॥ ४ ॥

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्नोतसमापगम् ।

तस्यास्तीर्थ॑ प्रचरितं॒ पुराणं प्रेक्ष्य राघवौ ॥ ५ ॥

आप लोग शीघ्र वहने वाली गङ्गा में मिलने वाली यमुना के किनारे किनारे चल कर, एक घाट देखेंगे, जो बहुत पुराना होने से दूटा फूटा है ॥ ५ ॥

तत्र यूर्यं पुर्वं कृत्वा तरतांशुमती॑ नदीम् ।

ततो न्यग्रोधमासाद्य महान्तं हरितच्छदम् ॥ ६ ॥

वहाँ पर घरनई बना कर तुम यमुना पार करना । तदनन्तर उस पार जाने पर एक बड़ा बरगद का बृक्ष मिलेगा, जिसके हरे हरे पत्ते हैं ॥ ६ ॥

विवृद्धं बहुभिर्वृक्षैः श्यामं सिद्धोपसेवितम् ।

तस्मै सीताऽङ्गलिं कृत्वा प्रयुज्ञीताशिषः५ शिवाः ॥ ७ ॥

वह बट बृक्ष अनेक बृक्षों के बीच में हैं, उसके पत्तों का रंग श्यामता लिये हुए हरा है और सिद्धों द्वारा वह सेवित है । वहाँ पहुँच कर, जानकी जी हाथ जोड़ कर, अपने शुभ मनोरथों के सफल होने के लिये प्रार्थना करें ॥ ७ ॥

समासाद्य तु तं वृक्षं वसेद्वाऽतिक्रमेत वा ।

क्रोशमात्रं ततो गत्वा नीलं द्रक्ष्यथ काननम् ॥ ८ ॥

१ तीर्थ—अवतरणप्रदेशः । (गो०) २ प्रचरितं—गमनागमनाभ्यामति क्षुण्णमित्यर्थः । (गो०) ३ अंशुमती—अंशुमतः सूर्यस्यापत्यभूतां । (गो०) ४ प्रयुज्ञीता—प्रार्थयेत् । (गो०) ५ आशिषः—मनोरथान् । (गो०)

या तो उस पेड़ के नीचे कुछ देर तक ठहर कर विश्राम कर लेना अथवा आगे को चले जाना। वहाँ से एक कोस आगे जाने पर नीलबन देख पड़ेगा ॥ ८ ॥

पलाशबदरीमिश्रं रम्यं वंशैश्च यामुनैः ।

स पन्थाश्चित्रकूटस्य गतः सुबहुशो मया ॥ ९ ॥

उस बन में सात, जामुन और बेरी के अनेक बृक्ष हैं। वही मार्ग चित्रकूट को जाता है और उस मार्ग से मैं कितनी ही बार चित्रकूट गया हूँ ॥ ९ ॥

रम्यो मार्दवयुक्तश्च वनदावैर्विवर्जितः ।

इति पन्थानमावेद्य महर्षिः संन्यवर्तत ॥ १० ॥

यह मार्ग रमणीक, कोमल (अर्थात् काँटों कंकड़ों से रहित अथवा रेतीला होने से कोमल) है। उस बन में दावानल का भी भय नहीं है। इस प्रकार (कुछ दूर साथ जा कर) रास्ता बतला महर्षि भरद्वाज लौट आये ॥ १० ॥

अभिवाद्य तथेत्युक्त्वा रामेण विनिवर्तितः ।

उपावृत्ते मुनौ तस्मिन्नरामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ ११ ॥

और श्रीरामचन्द्र जी ने भी प्रणाम कर उनको विदा किया। जब भरद्वाज लौट गये, तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ ११ ॥

कृतपुण्याः स्म सौमित्रे मुनिर्यन्नोऽनुकम्पते ।

इति तौ पुरुषव्याघ्रौ मन्त्रयित्वा मनस्विनौ ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वास्तव में हम लोग बड़े पुण्यवान हैं, तभी तो महिषि भरद्वाज हमारे ऊपर इतनी कृपा करते हैं, दोनों मनस्वी पुरुषसिंह राजकुमार इस प्रकार बातचीत करते ॥ १२ ॥

सीतामेवाग्रतः कृत्वा कालिन्दीं जग्मतुर्नदीम् ।

अथासाद्य तु कालिन्दीं शीघ्रस्तोतोवहां नदीम् ॥ १३ ॥

और सीता को आगे कर यमुना की ओर चले और शीघ्र वहने वाली यमुना के पास पहुँचे ॥ १३ ॥

चिन्तामापेदिरे सर्वे नदीजलतिर्षवः ।

तौ काष्ठसङ्घाटमथो चक्रतुः सुमहाष्ठवम् ॥ १४ ॥

वे सब उसको पार करने के लिये चिन्ता करने लगे । उन दोनों राजकुमारों ने बहुत सी लकड़ियाँ एकत्र कर एक बड़ा बेड़ा बनाया ॥ १४ ॥

शुष्कैर्वशैः समास्तीर्णमुशीरैश्च समावृतम् ।

ततो वेतसशाखाश्च जग्मूशाखाश्च वीर्यवान् ॥ १५ ॥

चकार लक्ष्मणशिछत्त्वा सीतायाः सुखमासनम् ।

तत्र श्रियमिवाचिन्त्यां रामो दाशरथिः प्रियाम् ॥ १६ ॥

(वह बेड़ा किस प्रकार बनाया गया—यह बतलाते हैं ।) उन वीर्यवान् राजकुमारों ने प्रथम तो सूखे बाँसों को पास पास बांध कर बेड़ा बनाया । फिर बाँसों की सन्धियाँ भरने को संधो में खस भरा । तदनन्तर लक्ष्मण जी ने उस पर वेत तथा जामुन की डालियाँ काट कर और बिछा कर सीता जी के आराम से बैठने के

१ अचिन्त्यां—अचिन्त्य सौन्दर्यां । (गो०)

लिये आसन बना दिया । तब श्रीरामचन्द्र जो ने लक्ष्मी की तरह अचिन्त्य सौन्दर्यवती प्यारी सीता को ॥ १५ ॥ १६ ॥

ईष्टसंलज्जमानां तामध्यारोपयत् प्लवम् ।

पार्वते च तत्र वैदेहा वसने भूषणानि च ॥ १७ ॥

जो (पति के हाथ का सहारा पाने से) कुछ कुछ लज्जायुक्त थीं, हाथ पकड़ कर उस बेड़े पर बैठाया । उनके पास ही उनके गहने कपड़े रख दिये ॥ १७ ॥

पुत्रे कठिनकाजं च रामश्चके सहायुधैः ।

आरोप्य प्रथमं सीतां सञ्चाटं परिगृह्ण तौ ॥ १८ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी ने काठ के बेट की कुदाली और मृगचर्म से मढ़ा हुआ पिटारा तथा अपने आयुध रखे । प्रथम सीता को उस पर बिठा दोनों भाइयों ने बेड़ा पकड़ कर चलाया ॥ १८ ॥

[नोट — इससे स्पष्ट है कि, उस बेड़े पर केवल सीता जी बैठी थीं और साथ का सारा सामान रखा था । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस बेड़े को दोनों ओर से पकड़ कर जल पर तैरते हुए उस पार हुए थे । आगे के इलाके में “प्रतेरतुर्युक्तौ” से यह बात समर्थित होती है ।]

ततः प्रतेरतुर्युक्तौ वीरौ दशरथात्मजौ ।

कालिन्दीमध्यमायाता सीता त्वेनामवन्दत ॥ १९ ॥

तदनन्तर दोनों वीर दशरथनन्दनों ने उस बेड़े में युक अर्थात् लग कर यमुना पार की । जब बेड़ा बीचेवीच धार में पहुँचा, तब सीता जी ने यमुना जी को प्रणाम किया ॥ १९ ॥

। कठिनकाजं — कठिनकं कन्दमूलखननसाधनं आयसाग्रंदारु । आजं— भ्रमर्चर्मपिनद्वं पिटकं । (गो०)

स्वस्ति देवि तरामि त्वां १पारयेन्मे पतिर्वतम् ।
यक्ष्ये त्वां गोसहस्रेण सुराघटशतेन च ॥ २० ॥

हे देवि ! हम लोग आपके पार जा रहे हैं । यदि मेरे पति का व्रत अर्थात् (वनवास का सङ्कल्प) निर्विघ्न पूरा हो गया, तो आपकी प्रसन्नता के लिये मैं एक हजार गौएँ दान कर तथा सौ बड़े खुरा के नैवेद्य से आपका पूजन करूँगी ॥ २० ॥

स्वस्ति प्रत्यागते रामे पुरीमिक्षवाकुपालिताम् ।

कालिन्दीमथ सीता तु याचमाना कृताञ्जलिः ॥ २१ ॥

सीता जी यमुना से हाथ जोड़ कर यह वर मांगती हुई कि, श्रीरामचन्द्रजी सकुशल इद्वा कुपालित अयोध्या में लौट आवें ॥ २१ ॥

तीरमेवाभि सम्प्राप्ता दक्षिणं वरवर्णिनी ।

ततः प्रुवेनांशुमतीं शीघ्रगामूर्मिमालिनीम् ॥ २२ ॥

शीघ्रगामिनी और तरङ्गवती सूर्यपुत्री यमुना को पार कर, उसके दक्षिण तट पर सीता जी पहुँची ॥ २२ ॥

तीरजैर्वहुभिर्वृक्षैः सन्तेर्ह्यमुनां नदीम् ।

ते तीर्णाः प्रुवमुत्सृज्य प्रस्थाय यमुनावनात् ॥ २३ ॥

वे यमुना के पार हो, उस बैड़े को त्याग कर, यमुना के तीर-वर्ती अनेक वृक्षों से युक्त बन में हो कर चले ॥ २३ ॥

श्यामं न्यग्रोधमासेदुः शीतलं हरितच्छदम् ।

न्यग्रोधं तमुपागम्य वैदेही वाक्यमब्रवीत् ॥ २४ ॥

१ पारयेत्—समापयेत् । (गो०) २ मेरतिः व्रतं—वनवाससङ्कल्पं । (गो०) ३ यमुनावनात्—यमुनातीरवनात् । (गो०)

वे श्यामवर्ण और हरितपक्षों से युक्त, शीतल छाया वाले बरगद वृक्ष के नीचे पहुँचे। वटवृक्ष के पास पहुँच, जानकी जी कहने लगीं ॥ २४ ॥

नमस्तेऽस्तु महावृक्ष पारयेन्मे पतिर्वतम् ।

कौशल्यां चैव पश्येयं सुमित्रां च यशस्विनीम् ॥ २५ ॥

हे महावृक्ष ! मैं आपको प्रणाम करती हूँ। आप मेरे पति का व्रत पूरा कीजिये, जिससे मैं अपनी यशस्विनी कौशल्या और सुमित्रा के किर दर्शन कर सकूँ ॥ २५ ॥

इति सीताऽङ्गलिं कृत्वा पर्यगच्छत्^१ वनस्पतिम् ।

अवलोक्य ततः सीतामायाचन्तीमनिन्दिताम् ॥ २६ ॥

दयितां च विधेयां च रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

सीतामादाय गच्छ त्वमग्रतो भरताग्रज^२ ॥ २७ ॥

यह प्रार्थना कर और हाथ जोड़े हुए सीता जी ने वट वृक्ष की परिक्रमा की। तब अनिन्दिता, प्राणप्यारी एवं अनुकूलवर्तिनी जानकी को इस प्रकार वर मांगते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा, हे भरत के द्वेषी भाई ! तुम सीता को अपने साथ ले आगे चलो ॥ २६ ॥ २७ ॥

पृष्ठतोऽहं गमिष्यामि सायुधो द्विपदांवर ।

यद्यत्फलं प्रार्थयते पुष्पं वा जनकात्मजा ॥ २८ ॥

हे नरोत्तम ! मैं शख्स लिये पीछे पीछे आता हूँ। सीता जी जिस फल और जिस फूल को मांगे ॥ २८ ॥

१ पर्यगच्छत्—प्रदक्षिणं चकार। (गो०) २ भरताग्रजेतिबहुब्रीहिः । (गो०)

तत्तत्प्रदद्या वैदेह्या यत्रास्या रमते मनः ।

गच्छतोऽतु तयोर्मध्ये* वथौ च जनकात्मजा ॥ २९ ॥

वह फूल और फल जानकी को दे दिया करना, जिससे इसका मन बहला रहे । जानकी जी उन दोनों के बीच में वैसे चलने लगीं ॥ २६ ॥

मातङ्ग्योर्मध्यगता शुभा नागवधूरिव ।

एकैकं पादर्प गुल्मं लतां वा पुष्पशालिनीम् ॥ ३० ॥

अदृष्टपूर्वा॑ पश्यन्ती रामं प्रच्छ साऽवला ।

रमणीयान्बहुविधान्पादपान्कुसुमोत्कटान् ॥ ३१ ॥

सीतावचनसन्नब्ध आनयामास लक्ष्मणः ।

विचित्रवालुकजलां हंससारसनादिताम् ।

रेमे जनकराजस्य शुता प्रेक्ष्य तदा नदीम् ॥ ३२ ॥

जैसे हाथियों के बीच हथिनी चले । सीता प्रत्येक वृक्ष गुल्म और पुष्पित लता के बारे में जिन्हें सीता जी ने कभी नहीं देखा था, श्रीरामचन्द्र जो से पूँछती जाती थी । वहाँ पर तरह तरह के रमणीय वृक्ष और फूल लगे थे, जिनमें से जैसे सीता जी पसंद करतीं, लक्ष्मण जी उसे ला दिया करते थे । उस नदी को, जिसका वालुकामय तट और निर्मल जल था तथा जिसके तट पर हंस सारस मधुर शब्द कर रहे थे, देख कर, सीता जी प्रसन्न होती जाती थीं ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

क्रोशभात्रं ततो गत्वा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

वहून्मेध्यान॑मृगान्हत्वा चरतुर्यमुनावने ॥ ३३ ॥

१ मेध्यान्—शुचीन् भक्ष्यानितियावत् । (गो०) २ चरेतुः भक्षितव्यतौ ।
चरगतिभक्षणयोः । (गो०) * पाठान्तरे—“ बभूव । ”

दोनों भाइयों ने एक कोस चल कर तथा यमुना तीरदर्ती वन में
अनेक पवित्र मृगों को मार कर, खाया ॥ ३३ ॥

विहृत्य ते बहिणपूगना॑ दिते
शुभे वने वानरवारणायुते ।
२८मं नदीवप्रमुपेत्य सम्मतं४
निवासमाजग्मुरदीनदर्शनाः ॥ ३४ ॥
इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार दोनों वीर भाइयों ने सीता सहित उस मनोहर
वन में, जहाँ मोरों के झुंड के झुंड बोल रहे थे, तथा हाथी
और बंदर घूम रहे थे; विहार कर, नदीतट पर एक सुन्दर
समथर स्थान पर, जिसे सीता जी ने भी पसंद किया, निर्भय हो,
वास किया ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचपनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

षट् पञ्चाशः सर्गः

—:०:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायामवसुप्त॑ मनन्तरम्॒ ।
प्रबोधयामास शनैर्लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १ ॥

१ पृगः—समूहः । (गो०) २ सम—अनिष्टोन्तं । (गो०) ३ नदीवप्रं—
नदीतीरं । (गो०) ४ सम्मतं—निवासं सीताभिमतंवासस्थानं । (गो०)
५ अवसुप्त—ईषत् सुप्तं । (गो०) ६ अनन्तरम्—स्वप्रबोधानन्तरं । (गो०)

जब रात बीत गयी तब श्रीरामचन्द्र जी ने स्वयं जाग कर, ओंघते हुए लक्ष्मण को धीरे धीरे चैतन्य किया ॥ १ ॥

सौमित्रे शृणु वन्यानां^१ वल्गु^२ व्याहरतां स्वनम् ।
सम्प्रतिष्ठामहे कालः प्रस्थानस्य परन्तप ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी ने कहा) हे लक्ष्मण ! देखो तो ये वन के तोते, कोयल मैंना आदि पक्षी कैसे मधुर स्वर से चहक रहे हैं । हे परन्तप ! मार्ग चलने के लिये यही समय (अच्छा) है । अतः अब हमको यहाँ से चल देना चाहिये ॥ २ ॥

स सुप्तः समये भ्रात्रा लक्ष्मणः प्रतिबोधितः ।

जहै निद्रां च तन्द्रां च प्रसक्तं च पथि श्रमम् ॥ ३ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने जागने के समय लक्ष्मण जी को जगाया, तब वे, निद्रा जनित आलस्य को त्याग और रास्ता चलने की थकावट को दूर कर उठ खड़े हुए ॥ ३ ॥

तत उत्थाय ते सर्वे स्पृष्टाः^४ नद्याः^५ शिवं जलम् ।

पन्थानै^६मृषिणाऽऽदिष्टं चित्रकूटस्य तं युः ॥ ४ ॥

तदनन्तर सब जनों ने उठ कर पवित्र यमुना जल में स्नानादि किया पूरी की । फिर उन सब ने महर्षि भरद्वाज के बतलाये हुए पलाशवन में हो कर, चित्रकूट का रास्ता पकड़ा ॥ ४ ॥

ततः सम्प्रस्थितः काले रामः सौमित्रिणा सह ।

सीतां कमलपत्राक्षीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

१ वन्यानां—शुकपिकशारिकादीनां । (गो०) २ वल्गु—सुन्दरं ।

(गो०) ३ स्पृष्ट्वा—स्पृष्टेत्युपलक्षणंतःकालिकस्नानादिकृत्यानां ।

(गो०) ४ नद्याः—कालिन्द्याः । (गो०) ५ पन्थानम्—पलाशवनरूपं । (गो०)

लक्ष्मण जी के साथ जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कमल के समान नेत्र वाली सीता जी से यह चर्चन बोले ॥ ५ ॥

आदीप्रानिव वैदेहि सर्वतः पुष्पितान्नगान् ।

स्वैः पुष्पैः किंशुकान्पश्य मालिनः॑ शिशिरात्यये ॥६॥

हे वैदेही ! वसन्त के आगमन से देखो पलास कैसा फूला है । पलास के लाल फूलों को देख ऐसा जान पड़ता है, मानों पलाश के वृक्षों में आग लग गयी है । फूलों से सब वृक्षों की ऐसी शोभा हो रही है, मानों सब वृक्ष पुष्पों की मालाएँ धारण किये हुए हों ॥ ६ ॥

पश्य भल्लातकान्फुल्लान्नरैनुपसेवितान् ।

फलपत्रैरवनतान्नूनं शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ७ ॥

देखो, भिलावे के वृक्ष कैसे फूले हैं । अगम्य होने के कारण मनुष्य की उनमें गुज़र नहीं । मैं तो फल और पत्ते खा कर ही अपना गुज़ारा कर सकता हूँ अथवा जीवित रह सकता हूँ ॥ ७ ॥

पश्य द्वोणप्रमाणानि लम्बमानानि लक्ष्मण ।

मधूनिः॒ मधुकारीभिः॒ सम्भृतानि॑ नगे॑ नगे ॥ ८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो हरेक वृक्ष में शहद की मक्खियों के लगाये शहद से भरे छक्टे लटक रहे हैं । इनमें ३२ सेर से कम शहद न था ॥ ८ ॥

१ मालिनः—मालावत इवस्थितान् (गो०) । २ द्वोण—आङ्कद्वयं । (गो०)

३ मधूनिर्कुर्वन्तीति मधुकार्यः कर्मण्यं डीप् । (गो०) ४ संभृतानि—निमित्तानि । (गो०) ५ नगे नगे—वृक्षे वृक्षे । (गो०)

एष क्रोशति नत्यूहस्तं^१ शिखी प्रतिकूजति ।

रमणीये वनोद्देशे^२ पुष्पसन्स्तं^३ रसङ्कटे ॥ ९ ॥

देखो यह जलकौवा कैसा बोल रहा है । इसका बोलना सुन मेर भी शोर करता है । इस रमणीय वन प्रदेश की भूमि फूलों से ढक गयी है ॥ ६ ॥

मातङ्ग॑यूथानुसृतं पक्षिसङ्घानुनादितम् ।

चित्रकूटमिमं पश्य प्रवृद्धशिखरं^४ गिरिम् ॥ १० ॥

देखो यह चित्रकूट पर्वत का उच्चशिखर देख पड़ता है, जहाँ पर हाथियों के भुंड धूम रहे हैं और पक्षियों के भुंड बोल रहे हैं ॥ १० ॥

समभूमितले रम्ये दुर्मैर्बहुभिरावृते ।

पुण्ये रंस्यामहे तात चित्रकूटस्य कानने ॥ ११ ॥

हम लोग इस चित्रकूट के वन में (कहीं) समतल भूमि, सुन्दर वृक्षों का सुरमुट तथा साफ सुथरा रमणीक स्थल देख, रमेंगे ॥ ११ ॥

ततस्तौ पादचारेण गच्छन्तौ सह सीतया ।

रम्यमासेदतुः शैलं चित्रकूटं मनोरमम् ॥ १२ ॥

इस प्रकार सीता को साथ लिये हुए दोनों भाई बातचीत करते पैदल चल कर, मनोरम और रम्य चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे ॥ १२ ॥

१ नत्यूहः—दात्यूहः । (गो०) २ वनोद्देश—वनप्रदेश । (गो०) ३ पुष्प-संस्तर सङ्कटे—पुष्पमयास्तरणेननिविडे । (गो०) ४ मातङ्ग॑यूथानुसृतं—गजकुलैः व्यासं । (गो०) ५ प्रवृद्धशिखरं—उच्चतशिखरं । (गो०)

तं तु पर्वतमासाद्य नानापक्षिगणायुतम् ।

बहुमूलफलं रम्यं सम्पन्नं सरसोदकम् ॥ १३ ॥

उस पर्वत पर अनेक प्रकार के पक्षी रहते थे, बहुत से फल व मूल थे तथा अनेक स्वादिष्ट जल के कुण्ड थे ॥ १३ ॥

मनोङ्गोऽयं गिरिः सौम्य नानादूमलतायुतः ।

बहुमूलफलो रम्यः स्वाजीवः^१ प्रतिभाति मे ॥ १४ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लहमण से कहा—हे सौम्य ! यह पर्वत कैसा मनोहर है । यह अनेक प्रकार के बृक्ष, लता और बहुत से फलों तथा मूलों से परिपूर्ण होने के कारण कैसा रमणीक देख पड़ता है । यहाँ बड़ी सरलता से हम लोगों का निर्वाह हो जायगा ॥ १४ ॥

मुनयश्च महात्मानो वसन्त्यस्मिञ्शिलोच्चये^२ ।

अयं वासो भवेत्तावदत्र सौम्य रमेमहि ॥ १५ ॥

इस पर्वत पर महात्मा और मुनि लोग भी निवास करते हैं । अतपव यही हमारे रहने योग्य है और हम यहाँ रहेंगे ॥ १५ ॥

इति^३ सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलिः ।

अभिगम्याश्रमं^४ सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन् ॥ १६ ॥

इस प्रकार निश्चय कर, श्रीरामचन्द्र, लहमण और सीता (तीनों जन) वाल्मीकि जी के आश्रम में गये और हाथ जोड़ कर, उनको प्रणाम किया ॥ १६ ॥

१ सरसोदकं—स्वादूदकम् । (गो०) २ स्वाजीवः—शोभनः जीविका यस्मिन् । (गो०) ३ शिलोच्चये—पर्वते । (गो०) ४ इति—इतिनिश्चित्य । (गो०) ५ आश्रमं—वाल्मीकियं । (गो०)

तान्महर्षिः प्रमुदितः पूजयामास धर्मवित् ।

आस्यतामिति चोवाच स्वागतं तु निवेद्य च ॥१७॥

तब धर्मात्मा महर्षि वाल्मीकि ने इनको देख और प्रसन्न हो, इनका पूजन किया और बैठने को आसन दे और यह कह कर कि, पधारिये स्वागत किया ॥ १७ ॥

ततोऽब्रवीन्महावाहुर्लक्ष्मणं लक्ष्मणाग्रजः ।

सन्निवेद्य 'यथान्यायमात्मानमृषये^१ प्रभुः ॥ १८ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी महर्षि को अपना, लक्ष्मण का तथा सीता का परिचय दे और वनवासादि का कारण बतला—लक्ष्मण से बोले ॥ १८ ॥

लक्ष्मणानय दाखणि दृढानि च वराणि च ।

कुरुष्वावसर्थं सौम्य वासे मेऽभिरतं मनः ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! अच्छी और मज़बूत लकड़ियाँ एकत्र कर कुटी बनाओ । क्योंकि हे सौम्य ! यहीं बसने की मेरी इच्छा है ॥ १९ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा सौमित्रिर्विविधान्दुमान् ।

आजहार ततश्क्रे पर्णशालामरिन्दमः ॥ २० ॥

यह सुन, लक्ष्मण जी अनेक प्रकार के वृक्षों की छोटी छोटी डालें काट कर लाये और उनसे पर्णकुटी बना दी ॥ २० ॥

^१ यथान्यायं—यथाक्रमं । (गो०) २ आत्मानं क्रषये सन्निवेद्य — अमुकस्य पुत्रोहं अयं मद्भ्राता इत्यादि । (गो०)

तां निष्ठितां^१ वद्धकटां^२ दृष्टा रामः सुदर्शनाम् ।

शुश्रूषमाणमेकाग्रमिदं^३ वचनमब्रवीत् ॥ २१ ॥

उस अचल और किलाड़ेदार और देखने में भी सुन्दर कुटी को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने सेवाकार्य में निरत लक्ष्मण जी से कहा ॥ २१ ॥

ऐण्यं मांसमाहृत्य शालां^४ यक्ष्यामहे वयम् ।

कर्तव्यं वास्तुशमनं सौमित्रे चिरवासिभिः* ॥ २२ ॥

हे लक्ष्मण ! हिरन का माँस ले आओ, जिससे हम दोनों पर्ण-शालाधिष्ठात्री देवता की पूजा करें । क्योंकि यदि बहुत दिनों (किसी नवीन बने हुए घर में) रहना चाहे, तो उसे वास्तुशान्ति (गृहप्रवेश कर्म) करनी चाहिये ॥ २२ ॥

[ब्रह्माण्डपुराण में वास्तुशान्ति की फलस्तुति के सम्बन्ध में यह एक श्लोक दिया है :—

“ न च व्याधिभयं तस्य न च बन्धुजनक्षयः ।

जीवेद्वृष्टशतं स्वर्गकल्पमेवं सेव्वरः ॥ ”

अर्थात् जो नवीन गृह में वास्तुशान्ति कर के रहता है उसको न तो किसी प्रकार की व्याधि का भय होता और न उसके बन्धुवान्धवों का वंशलेप होता है । उस घर का मालिक बहुत दिनों तक इस लोक में जीवित रह कर मरने पर एक कल्प भर स्वर्ग में रहता है ।]

मृगं हत्वाऽन्य क्षिप्रं लक्ष्मणेह शुभेक्षण ।

कर्तव्यः शास्त्रदृष्टो हि विधिर्धर्मं अनुस्मर ॥ २३ ॥

१ निष्ठितां—निश्चलां । (गो०) २ वद्धकटां—वद्धवाह्यावरणां वा । (गो०)

३ एकाग्रं लक्ष्मणं । (रा०) ४ शालां—शालधिष्ठात्रीः तत्तद्विवासिनीः देवताः । (गो०)

५ धर्मं—तदनुकूलधर्मशास्त्रं । (गो०) ६ अनुस्मर—अवधेहि । (गो०)

* पाठान्तरे—“ चिरजीविभिः ” ।

हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र एक काला हिरन मार कर ले आओ । क्योंकि भली भाँति विचार कर, इस विषय की धर्मशास्त्र द्वारा निर्णीत विधि को यथारीति करना उचित है ॥ २३ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय लक्ष्मणः परवीरहा ।

चकार स यथोक्तं च तं रामः पुनरब्रवीत् ॥ २४ ॥

महाबलवान लक्ष्मण जो भाई को आज्ञा के अनुसार लक्ष्मण काला मृग मार कर ले आये । फिर श्रीरामचन्द्र जी के कथनानुसार कार्य कर चुकने पर श्रीरामचन्द्रजी ने पुनः उनसे कहा ॥ २४ ॥

ऐणेयं १श्रपयस्वैतच्छालां यक्ष्यामहे वयम् ।

त्वर सौम्य मुहूर्तोऽयं ध्रुवश्चै दिवसोऽप्ययम् ॥२५॥

अच्छाअब इस मौस को राखो, जिससे हम हवन करें । हे सौम्य ! शीघ्रता करो । क्योंकि यह मुहूर्त भी स्थिर है और दिन भी अच्छा है ॥ २५ ॥

स लक्ष्मणः कृष्णमृगं हत्वा मेध्यं प्रतापवान् ।

अथ चिक्षेपै सौमित्रिः समिद्धै जातवेदसि५ ॥ २६ ॥

तब प्रतापी लक्ष्मण ने मारे हुए यज्ञीय काले मृग को अच्छी तरह जलती हुई आग में डाल कर भूना ॥ २६ ॥

तं तु पकं समाज्ञाय निष्टुं छिन्नशोणितम् ।

लक्ष्मणः पुरुषव्याघ्रमथ राघवमब्रवीत् ॥ २७ ॥

और जब वह भुन गया और उसका रुधिर जल गया, तब लक्ष्मण जो ने पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २७ ॥

१ श्रपयस्व—पञ्च । (गो०) २ ध्रुवः—स्थिरहृत्यर्थः । (गो०) ३ चिक्षेप—पपाच । (गो०) ४ समिद्धे—सम्यग्दीप्ते । (गो०) ५ जातवेदसि—अग्नौ । (गो०)

अर्यं कृष्णः समाप्ताङ्गः श्रृतः कृष्णमृगो यथा ।

देवतां देवसङ्काश यजस्व कुशलोऽ ह्यसि ॥ २८ ॥

हे देवतुल्य ! मैंने इस सम्पूर्ण अंगोंयुक्त कृष्ण मृग को राँध कर तैयार कर, दिया । आप यज्ञकर्म करने में समर्थ हैं, अतः वास्तुदेवता की प्रसन्नता के लिये यज्ञ कीजिये ॥ २८ ॥

रामः स्नात्वा तु नियतो गुणवाञ्चप्यकोविदः ।

संग्रहेणाऽकरोत्सर्वान्मन्त्रान्सत्रावसानिकान् ॥ २९ ॥

तब अमित तेजधारी, गुणवान् एवं जप करने में चतुर श्रीरामचन्द्र जी ने नियमपूर्वक स्नान किये और संक्षेप से वास्तुयज्ञ समाप्त करने के लिये, समाप्ति के सब मंत्रों को पढ़ा ॥ २९ ॥

इद्धा देवगणान्॑ सर्वान्विवेशः॒ सदनं शुचि ।

बभूव च मनोहादो रामस्यामिततेजसः ॥ ३० ॥

सब वास्तु देवताओं का पूजन कर, श्रीरामचन्द्र जी ने उस पवित्र घर में, प्रवेश किया । उस समय अपरमित तेजसम्पन्न श्रीराम जी बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३० ॥

वैश्वदेवबलि कृत्वा रौद्रं वैष्णवमेव च ।

॒ वास्तुसंशमनीयानि मङ्गलानि॑ प्रवर्तयन् ॥ ३१ ॥

१ कुशलोसि—समर्थोसि । (गो०) २ संग्रहेण—संक्षेपेण । ३ सत्रावसानिकान्—सत्रं वास्तुयागः॒ यैमन्त्रैव सीयतेपरिसमाप्तेतेसत्रावसानाः॑ सत्रावसाना एव सत्रावसानिकाः॑ । (गो०) ४ देवगणान्—वास्तुदेवताः । (गो०) ५ वास्तुसंशमनीयानि—गृहारिष्टाशमकानि । (गो०) ६ मङ्गलानि—मंगलकरणि—पुण्याहवाचन शानिजपदीनि । (गो०) * पाठान्तरे—“ सर्वान्विवेशावसर्थ-शुचिः । ”

अनन्तर उन्होंने वैश्वदेव के लिये रुद्र और विष्णु के निमित्त वलिदान किया । फिर उन्होंने गृह के अरिष्टादि दूर करने के लिये, पुण्याहवाचन, शान्ति, जप आदि किये ॥ ३१ ॥

जपं च न्यायतः कृत्वा स्नात्वा नदीं यथाविधि ।
पापसंशमनं रामश्वकार वलिमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

फिर यथोचित जप कर तथा यथाविधि फिर नदी में स्नान कर, पाप की शान्ति के लिये उत्तम वलिदान किया ॥ ३२ ॥

वेदिस्थलविधानानि चैत्यान्याय तनानिः च ।
आश्वमस्यानुरूपाणि स्थापयामास राघवः ॥ ३३ ॥

फिर आठों दिशाओं में वलिहरणार्थ, वेदिया और गन्धवौं के वासस्थानों को तथा विष्णु आदि देवताओं के वासस्थानों का आश्रम के अनुरूप स्थापन किया ॥ ३३ ॥

वन्यैर्माल्यैः फलैर्मूलैः पकैर्मासैर्यथाविधि ।
अद्विर्जपैश्च वेदोक्तदैर्भैश्च ससमित्कुशैः ॥ ३४ ॥
तौ तर्पयित्वा भूतानि राघवौ सह सीतया ।
तदा विविशतुः शालां सुशुभां शुभलक्षणौ ॥ ३५ ॥

फिर यथाविधि फूल मालाओं, फलों, मूलों और रंधे हुए मांस से, तथा कुश की पत्रियाँ धारण कर, कुश मिले हुए जल से, वैदिक मंत्रों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी ने भूतों को तृप्त कर, सीता सहित उस मनोहर और शुभलक्षण वाली (अर्थात् हवा

१ चैत्यानि—गन्धविधावासस्थानानि । (गो०) २ आयतनानि—विष्णविधावासस्थलानि । (गो०)

रोशनी जाने आने के लिये पर्याप्त साधनों से युक्त) शाला में प्रवेश करने की इच्छा की ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

तां वृक्षपर्णच्छदनां मनोज्ञां
यथाप्रदेशं सुकृतां निवाताम् ।
वासाय सर्वे विविशुः समेताः
सभां यथा देवगणाः सुधर्माम् ॥ ३६ ॥

देवतागण जिस प्रकार सुधर्मा नाम की सभा में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार (श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण और सीता) तीनों जनों ने एक साथ, उस वृक्षों के पत्तों से ढायी हुई, उचित स्थान में ग्रति-ष्ठित, मनोहर पर्वं वायु रहित पर्णशाला में रहने के लिये, उसमें प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनेकनानामृगपक्षिसङ्कुले
विचित्रपत्रस्तबकैदूर्मैर्युते ।
वनोत्तमे व्यालः मृगानुनादिते
तदा विजहुः सुसुखं जितेन्द्रियाः ॥ ३७ ॥

अनेक पशु पक्षियों से पूर्ण, तरह तरह के पत्र पुष्पों से शोभित, वृक्षों से युक्त उस उत्तम घन में, जिसमें हाथी और अन्य जङ्गली जानवर बोला करते थे, जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्र जी सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ ३७ ॥

सुरम्यमासाद्य तु चित्रकूटं
नदीं च तां॑ माल्यवतीं सुतीर्थाम्॒ ।

१ व्यालः—सर्पाः गजा वा । (गो०) २ तां—प्रसिद्धां । (गो०)

३ सुतीर्थाम्—शोभनजलावतरणप्रदेशां । (गो०)

ननन्द रामो* मृगपक्षिजुष्टां
जहौ च दुःखं पुरविप्रवासात् ॥ ३८ ॥
इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

इस प्रकार सुन्दर और रमणीय तथा सृग पक्षियों से युक्त चित्रकूट पर्वत पर, स्वच्छ मीठे जल वाली प्रसिद्ध माल्यदती नदी को पा कर, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और अयोध्या त्यागने का दुःख त्याग दिया अर्थात् भूल गये ॥ ३८ ॥

[नोट—इस सर्ग तक महर्षि ने श्रीरामचन्द्र जी की अयोध्या से चित्रकूट तक की यात्रा का वर्णन किया । अब आगे फिर अयोध्या का वर्णन आरम्भ होता है । स्मरण रखना चाहिये कि, श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या से चित्रकूट पाँच दिन में आये थे । रास्ते में तीन दिन तो केवल जल पी कर ही रह गये थे, चौथे दिन माँस खाया था और पाँचवे दिन चित्रकूट में नियमित रूप से भोजन किये थे ।]

अयोध्याकाण्ड का द्वप्पनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: * : —

सप्तपञ्चाशः सर्गः

—: o : —

कथयित्वा सुदुःखार्तः सुमन्त्रेण चिरं सह ।
रामे दक्षिणकूलस्थे जगाम स्वगृहं गुहः ॥ १ ॥

गुह अत्यन्त दुःखी है, सुमन्त्र के साथ बहुत देर तक बातचीत करता रहा और जब श्रीरामचन्द्र जी गङ्गा के दक्षिणतट पर पहुँच गये, तब गुह अपने घर को चला गया ॥ १ ॥

* पाठान्तरे—“ हृष्टो । ”

भरद्वाजाभिगमनं प्रयागे च सहासनम् ।
आगिरेगमनं तेषां तत्रस्थैरभिलक्षितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, शृङ्खलेश्वरपुर के चरों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का प्रयाग में भरद्वाज जी के आश्रम में जाना, उनके यहाँ ठहरना, तथा वहाँ से चित्रकूट पर्वत पर जाने आदि का पता लेते रहे ॥ २ ॥

अनुज्ञातः सुमन्त्रोऽथ योजयित्वा हयोत्तमान् ।
अयोध्यामेव नगरीं प्रययौ गाढदुर्मनाः ॥ ३ ॥

तदनन्तर गुह से विदा हो, सुमंत्र रथ में उत्तम धोड़े जोत अत्यन्त उदास हो अयोध्या को और चल दिये ॥ ३ ॥

स वनानि सुगन्धीनि सरितश्च सरांसि च ।
पश्यन्नतिययौ शीघ्रं ग्रामाणि नगराणि च ॥ ४ ॥

सुमंत्र जी सुगन्धित पुष्पों से पूर्ण वनों, नदियों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों को देखते हुए बड़ी तेज़ी से चले जाते थे ॥ ४ ॥

ततः सायाहसमये तृतीयेऽहनि सारथिः ।
अयोध्यां समनुप्राप्य निरानन्दां दर्दर्श ह ॥ ५ ॥

शृङ्खलेश्वर से रवाना होने के तीसरे दिन सायंकाल के सुमंत्र अयोध्या में पहुँचे और पुरो को उदास देखा ॥ ५ ॥

स शून्यामिव निःशब्दां दृष्टा परमदुर्मनाः ।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास शोकवेगसमाहतः ॥ ६ ॥

जनशून्य जैसी नगरी अयोध्या में सन्नाटा छाया हुआ देख, सुमंत्र बहुत उदास हुए और शोकाकुल हो सोचने लगे ॥ ६ ॥

कच्चिन्म सगजा साश्वा सजना सजनाधिपा ।
रामसन्तापदुःखेन दग्धा शोकाग्निना पुरी ॥ ७ ॥

कि कहीं यह नगरी हाथियों, घोड़ों, नगरनिवासियों और महाराज सहित ; श्रीरामचन्द्र के वियोगजन्य सन्ताप एवं दुःख से उत्पन्न, शोकरूपी आग से भस्म तो नहीं हो गयी ॥ ७ ॥

इति चिन्तापरः सूतो वाजिभिः शीघ्रयायिभिः ।
नगरद्वारमासाद्य त्वरितः प्रविवेश ह ॥ ८ ॥

इस प्रकार सोचते हुए सुमंत्र शीघ्रगामा घोड़ों के रथ पर संचार, नगरद्वार पर पहुँच, तुरन्त नगर में प्रवेश करते हुए ॥ ८ ॥

सुमन्त्रमभियान्तं तं शतशोऽथ सहस्रशः ।
क्व राम इति पृच्छन्तः सूतमध्यद्रवन्नराः ॥ ९ ॥

सुमंत्र को नगर में आया हुआ देख, सैकड़ों हज़ारों पुरी-वासी जनों ने दौड़ कर, उन्हें घेर लिया और यह पूँछने लगे कि, श्रीरामचन्द्र जी कहाँ हैं ? ॥ ९ ॥

तेषां शशंस गङ्गायामहमापृच्छय राघवम् ।
अनुज्ञातो निवृत्तोऽस्मि धार्मिकेण महात्मना ॥ १० ॥

उन सब को सुमंत्र ने यही उत्तर दिया कि, गङ्गा जी के तट पर पहुँच, धार्मिक श्रीरामचन्द्र जी ने जब मुझे लौटने की आज्ञा दी, तब मैं लौट कर आया हूँ ॥ १० ॥

ते तीर्णा इति विज्ञाय वाष्पपूर्णमुखा जनाः ।
अहो धिगिति निःश्वस्य हा रामेति च चुक्रुशः ॥ ११ ॥

तब वे पुरवासी श्रीरामचन्द्र जी को गङ्गा के पार उतरा जान, नेत्रों में आँख भर, मुख से हाय ! धिक्कार है कह, और दीर्घ श्वास ले “ हा राम ” कह कर चिल्हाने लगे ॥ ११ ॥

शुश्राव च वचस्तेषां बृन्दंबृन्दं च तिष्ठताम् ।

हताः स्म खलु ये नेह पश्याम इति राघवम् ॥ १२ ॥

उस समय उस जनसमुदाय से यहो सुन पड़ता था कि, हा ! हम लोग मारे गये जो हम राम को नहीं देख पाते ॥ १२ ॥

दानयज्ञविवाहेषु समाजेषु महत्सु च ।

न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु^१ धार्मिकं रामभन्तरा^२ ॥ १३ ॥

हाय ! दान, यज्ञ, विवाह, और बड़े बड़े समाजों में लोगों के बीच, माला के सुमेरु की तरह बैठे हुए श्रीराम को हम अब कभी न देख सकेंगे ॥ १३ ॥

किं समर्थं जनस्यास्य किं प्रियं किं सुखावहम् ।

इति रामेण नगरं पितृवत्परिपालितम् ॥ १४ ॥

हा ! वे श्रीरामचन्द्र जी तो अनुकजन के लिये क्या ठीक है, क्या अच्छा है और क्या सुखदायी है, इन सब वातों का विचार कर, पिता की तरह नगरवासियों का पालन करते थे ॥ १४ ॥

वातायनगतानां च स्त्रीणामन्वन्तरापणम् ।

रामशोकाभितपानां शुश्राव परिदेवनम् ॥ १५ ॥

सुमंत्र जाते जाते, सङ्क के दोनों तरफ़ झरोखों में बैठी हुई श्रीराम के विदेश से सन्तप्त पुरनारियों के विलाप सुनते थे ॥ १५ ॥

१ पुनःजातु—कदाचिदपि । (रा०) २ अन्तरा—मध्येनायकमर्जिवद्वर्तमानं ।

स राजमार्गमध्येन सुमन्त्रः पिहिताननः ।
यत्र राजा दशरथस्तदेवोपययौ गृहम् ॥ १६ ॥

राजमार्ग में इस प्रकार का विलाप सुन, सुमंत्र ने अपना मुख ढक लिया और बड़ी शीघ्रता से वे महाराज के देवोपम गृह को ओर गये ॥ १६ ॥

सोऽवतीर्य रथाच्छीर्वं राजवेशम प्रविश्य च ।
कक्ष्याः सप्ताभिचक्राम महाजनसमाकुलाः ॥ १७ ॥

सुमंत्र ने रथ से उतर बड़ी शीघ्रता से लोगों की भोड़ से परि-पूर्ण सात फाटकों को पार कर राजभवन में प्रवेश किया ॥ १७ ॥

इम्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्याथ समागतम् ।
हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्शिताः ॥ १८ ॥

ऋजों, सतखने मकानों की अद्यारियों और भवनों में बैठी तथा श्रीराम के वियोग से कर्षित खियाँ (अकेले) सुमंत्र को आया देख, हाहाकार करने लगीं ॥ १८ ॥

आयतैविमलैर्नेत्रैश्चुवेगपरिप्लुतैः ।
अन्योन्यमभिवीक्षन्तेऽव्यक्तमार्ततराः ख्यियः ॥ १९ ॥

वे बड़े बड़े विमल नेत्रों से आँखु ढलकाती हुईं परस्पर देखती थीं और अत्यन्त दुःखी हो ऐसे विलाप भरे वचन कहती थीं, जो अस्पष्ट थे ॥ १९ ॥

ततो दशरथस्त्रीणां प्रासादेभ्यस्ततस्ततः ।
रामशोकाभितप्तानां मन्दं शुश्राव जलिपतम् ॥ २० ॥

राजभवन के भीतर भी इधर उधर महाराज दशरथ की रानियों का जो श्रीरामचन्द्र के शोक से सन्तप्त थीं, धीमा आलाप सुन पड़ता था ॥ २० ॥

सह रामेण निर्याते विना राममिहागतः ।

सूतः किं नाम कौसल्यां शोचन्तीं प्रतिवक्ष्यति ॥२१॥

वे कहती थीं कि, यह सुमंत्र श्रीरामचन्द्र को ले कर गया था, किन्तु उनको क्षोड़ कर अकेला लौट कर आया है। अब देखें रोती हुई कौशल्या को किस प्रकार यह धीरज बंधाता है ॥ २१ ॥

यथा च मन्ये दुर्जीवमेवं न सुकरं ध्रुवम् ।

आच्छिद्य^१ पुत्रे निर्याते कौसल्या यत्र जीवति ॥२२॥

हम तो यही कहेंगी कि, जीव को दुःख भेगने के लिये जीना जैसा पसन्द है वैसा सुख के लिये नहीं। देखो इसीसे तो अपने पुत्र (श्रीरामचन्द्र) के राज्य क्षोड़ कर वन चले जाने पर भी, कौशल्या अब तक जी रही है ॥ २२ ॥

सत्यरूपं तु तद्राक्यं राज्ञः स्त्रीणां निशामयन् ।

*प्रदीप्तमिव शोकेन विवेश सहसा गृहम् ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन रानियों के ये सत्यवचन उनते हुए सुमंत्र, शोक से दग्ध हो, अचानक महाराज के घर में जा पहुँचा ॥ २३ ॥

स प्रविश्याष्टमीं कक्ष्यां राजानं दीनमातुरम् ।

पुत्रशोकपरिद्यूनैपपश्यत्पाण्डुरे गृहे ॥ २४ ॥

१ आच्छिद्य—राज्यत्वके । (शि०) २ परिद्यून—क्षीण । (गो०)

* पाठान्तरे—“ प्रदीप्तद्व । ”

आठवीं ज्योही लांघ उसने महाराज के सफेद रंग के कमरे में जा कर देखा कि, महाराज दीन, आतुर और पुष्टशोक से तीण हो रहे हैं ॥ २४ ॥

अभिगम्य तमासीनं नरेन्द्रमभिवाद्य च ।

सुमन्त्रो रामवचनं यथोक्तं प्रत्यवेदयत् ॥ २५ ॥

सुमन्त्र ने जा कर बैठे हुए महाराज को प्रणाम किया और जो बातें श्रीरामचन्द्र जी ने महाराज से कहने के लिये उससे कहाँ थीं—वे बातें ज्यों की त्यों उसने महाराज से कहाँ ॥ २५ ॥

स तूष्णीमेव तच्छ्रुत्वा राजा विभ्रान्तचेतनः ।

मूर्छितो न्यपतद्भूमौ रामशोकाभिषीडितः ॥ २६ ॥

उन बातों को चुपचाप सुन, महाराज की बुद्धि ठीक ठिकाने न रही । वे श्रीराम के वियोगजनित शोक से अत्यन्त विकल होने के कारण, अचेत हो पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

ततोऽन्तःपुरमाविद्धं^१ मूर्छिते पृथिवीपतौ ।

उद्धृत्य बाहू चुक्रोश नृपतौ पतिते क्षितौ ॥ २७ ॥

उस समय महाराज को मूर्कित हो, पृथिवी पर पड़ा देख, रनवास की सब रानियाँ बड़ी दुःखी हुईं और बाहें उठा उठा कर रोने लगीं ॥ २७ ॥

सुमित्रया तु सहिता कौसल्या पतितं पतिम् ।

उत्थापयामास तदा वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २८ ॥

तब सुमित्रा और कौशल्या ने ज़मीन पर पड़े हुए महाराज को उठाया और कहने लगीं ॥ २८ ॥

इमं तस्य महाभाग दूतं दुष्करकारिणः ।

वनवासादनुप्राप्तं कस्मान् प्रतिभाषसे ॥ २९ ॥

हे महाभाग ! महाकठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र के, ये दूत वन कर वन से आये हुए हैं । इनसे आप क्यों बातचीत नहीं करते ॥ २८ ॥

अद्येममनयं^१ कृत्वा व्यपत्रपसि राघव ।

उत्तिष्ठ सुकृतं^२ तेऽस्तु शोके न स्यात्सहायता ॥ ३० ॥

हे राघव ! श्रीरामचन्द्र जी को देशनिकाला दे कर, अब आप क्यों लज्जित हो रहे हैं । उठिये उठिये ! अब इस शोक के लिये कोई चारा नहीं—अतः अब आप शोक मत कीजिये । अर्थात् अब इस शोक को निवृत्त करने के लिये कोई उपाय शेष नहीं रहा । ऐसी दशा में आपके लिये अब शोक करना शोभा नहीं देता ॥ ३० ॥

देव यस्या भयाद्रामं नानुपृच्छसि सारथिम् ।

नेह तिष्ठति कैकेयी विस्वव्यं^३ प्रतिभाष्यताम् ॥ ३१ ॥

हे देव ! जिसके भय से आप सुमंत्र से बातचीत नहीं करते वह कैकेयी यहाँ नहीं है । आप निर्भय हो बातचीत कीजिये ॥ ३१ ॥

सा तथेकत्वा महाराजं कौसल्या शोकलालसा ।

धरण्यां निपपाताशु बाष्पविष्णुतभाषिणी ॥ ३२ ॥

१ इममनयं—पुत्रविवासनं । (गो०) २ सुकृतं—शोभनं । (गो०)

३ विस्वव्यं—निःशहम् । (गो०)

महाराज से ये वचन कहते कहते कौशल्या शोक से कातर हो गयीं, उनका कण्ठ गदगद हो गया । वे भूमि पर गिर पड़ीं ॥ ३२ ॥

एवं विलपतीं दृष्टा कौशल्यां पतितां भुवि ।

पतिं चावेक्ष्य ताः सर्वाः सुस्वरं रुदुः ख्यियः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुईं और भूमि पर मूर्ढितावस्था को प्राप्त कौशल्या को तथा महाराज को देख, वहाँ जो अन्य रानियाँ तथा अन्तःपुर की ख्यियाँ थीं—वे उच्चस्वर से रुदन करने लगीं ॥ ३३ ॥

ततस्तमन्तःपुरनादमुत्थितं

समीक्ष्य^१ दृद्धास्तरुणाश्च मानवाः ।

ख्यियश्च सर्वा रुदुः समन्ततः

पुरं तदासीऽपुनरेव^२ सङ्कुलम् ॥ ३४ ॥

इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

रनवास में रोने का शब्द सुन, अयोध्यापुरी में उस समय जितने वृद्धे और जवान पुरुष थे तथा वहाँ जितनी ख्यियाँ थीं, वे सब की सब चारों ओर रोने लगीं और समूची अयोध्यापुरी में फिर एक बार वैष्णा ही हाहाकार हुआ, जैसा श्रीरामचन्द्र के बन जाते समय हुआ था ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का नक्तावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



१ समीक्ष्य—श्रुत्वा । (गो०) २ पुनरेवसङ्कुलम् । रामगमनकाल-द्वयव्याकुलमासीत् । (गो०)

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—००—

प्रत्याश्वस्तो^१ यदा राजा मोहात्पत्यागतः^२ पुनः ।

अथाजुहाव तं सूतं रामवृत्तान्तकारणात् ॥ १ ॥

कुछ देर बाद जब महाराज उपचारद्वारा सचेत हुए, तब श्रीरामचन्द्र का वृत्तान्त सुनने के लिये सूत को पुकारा और उनकी ओर अपना मुख फेरा ॥ १ ॥

अथ सूतो महाराजं कृताञ्जलिरूपस्थितः ।

राममेवानुशोचन्तं दुःखशोकसमन्वितम् ॥ २ ॥

सुमंत्र, महाराज के सामने हाथ जोड़े खड़े थे। उस समय महाराज दशरथ, श्रीरामचन्द्र के वियोग से चिन्तित और शोक से विकल थे ॥ २ ॥

वृद्धं परमसन्तम् नवग्रहमिव द्विपम् ।

विनिःश्वसन्तं ध्यायन्तम् अस्वस्थमिव कुञ्जरम् ॥३॥

बूढ़े महाराज दशरथ, हाल के पकड़े हुए हाथी की तरह परम सन्तत थे और उसी तरह उसांसे ले रहे थे, जिस प्रकार एक व्याधिग्रस्त हाथी उसांसे लेता है ॥ ३ ॥

राजा तु रजसा सूतं^४ ध्वस्ताङ्गं समुपस्थितम् ।

अश्रुपूर्णमुखं दीनमुवाच परमार्तवत् ॥ ४ ॥

१ प्रत्याश्वस्तः—उपचारैरुद्भौधितः । (गो०) २ प्रत्यागतः—सूतस्याभिमुखागतः । (गो०) ३ नवग्रहं—सप्तश्चाष्टश्चीतं । (गो०) ४ अस्वस्थ—व्याधिग्रस्तं । (गो०) * पाठान्तरे—“धूतं”

सुमंत्र के सारे शरीर में धूल लगा थी, ग्रांखों से आँसू वह रहे थे, देखने से वे अत्यन्त विकल जान पड़ते थे। ऐसी दशा को प्राप्त सुमंत्र से, महाराज दशरथ अत्यन्त कातर मनुष्य की तरह बोले ॥ ४ ॥

कनु वत्स्यति धर्मात्मा वृक्षमूलमुपाश्रितः ।

सोऽत्यन्तसुखितः सूत किमिशिष्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे सुमंत्र ! वह धर्मात्मा कहाँ—वृक्ष के नोचे वास करता होगा और जो हर प्रकार से सुखपूर्वक रहने योग्य है—वह राम वन में क्या खायगा ? ॥ ५ ॥

दुःखस्यानुचितो दुखं सुमन्त्र शयनोचितः ।

भूमिपालात्मजो भूमौ शेते कथमनाथवत् ॥ ६ ॥

हे सुमंत्र ! हमारा राम दुःख भोगने योग्य नहीं—वह तो सेज पर सोने योग्य है। भला एक राजकुमार एक अनाथ की तरह कैसे भूमि पर सो सकता है ? ॥ ६ ॥

यं यान्तमनुयान्ति स्मपदातिरथकुञ्जराः ।

स वत्स्यति कथं रामो विजनं वनमाश्रितः ॥ ७ ॥

जिस राजकुमार की सबारी के पीछे अनेक पैदल सिपाही, रथ और घोड़े चला करते थे, वह राम जनशून्य वन में कैसे रह सकेगा ॥ ७ ॥

व्यालैर्मृगैराचरितं कृष्णसर्पनिषेवितम् ।

कथं कुमारौ वैदेह्या सार्धं वनमुपस्थितौ ॥ ८ ॥

जिस वन में अनेक अजगर और दुष्ट वनजन्तु विचरा करते हैं और जिसमें काले साँप रहा करते हैं, उस वन में सीता सहित दोनों राजकुमार कैसे रहते होंगे ॥ ८ ॥

सुकुमार्या तपस्विन्या सुमन्त्र सह सीतया ।

राजपुत्रो कथं पादैरवस्था रथादगतौ ॥ ९ ॥

हे सुमंत्र ! उस सुकुमारी और दुःखियारी सीता को साथ ले—वे दोनों राजकुमार किस तरह रथ से उतर कर पैदल चले होंगे ॥ १० ॥

सिद्धार्थः खलु सूत त्वं येन दृष्टौ ममात्मजौ ।

वनान्तं प्रविशन्तौ तावश्विनाविव मन्दरम् ॥ १० ॥

हे सुमंत्र ! तू बड़ा भाग्यवान् है, जिसने मेरे दोनों राजकुमारों को वन में उसी प्रकार जाते देखा, जिस प्रकार अश्विनीकुमार मन्दराचल पर जाते हैं ॥ १० ॥

किमुवाच वचो रामः किमुवाच च लक्ष्मणः ।

सुमन्त्र वनमासाद्य किमुवाच च मैथिली ॥ ११ ॥

हे सुमंत्र ! वन में पहुँच, राम ने क्या कहा, लक्ष्मण ने क्या कहा और सीता ने क्या कहा ? ॥ ११ ॥

आसितं शयितं भुक्तं सूत रामस्य कीर्तय ।

जीविष्याम्यहमेतेन ययातिरिव साधुषु ॥ १२ ॥

हे सूत ! तुम राम के उपवेशन, शयन तथा भोजन का वृत्तान्त कहो, जिसके सुनने से मैं कुछ देर और उसी प्रकार जीवित रह सकूँ, जिस प्रकार साधु के वचनों को सुन, राजा ययाति जीवित रहे थे ॥ १२ ॥

[नोट—लिखा है, राजा यथाति जब स्वर्ग में पहुंचे और अपने सुकृतों का वर्णन करने लगे ; तब इन्द्र ने उनसे कहा कि, जिह्वा पर अग्निदेव का वास है । तुमने अपने सुकृतों का अपने आप वर्णन कर अपने सुकृतों के दरध कर डाला, अतः अब तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते । मृत्युलोक के चले जाओ । तब यथाति ने यह प्रार्थना की कि, यदि आप मुझे मृत्युलोक में भेजते हैं, तो वहाँ ऐसी जगह भेजिये जहाँ साधुओं का साथ मिले । यथाति की यह प्रार्थना स्वीकृत हुई और इसका फल यह हुआ कि, यथाति को स्वर्ग से गिरने का जो दुःख हुआ था, वह साधुसमागम से दूर हो गया था ।]

इति सूतो नरेन्द्रेण चोदितः सज्जमानया ।

उवाच वाचा राजानं स वाष्पैपरिव्यया ॥ १३ ॥

जब महाराज ने इस प्रकार आज्ञा दी, तब सुमंत्र गद्गद कण्ठ हो, लड़खड़ाती वाणी से कहने लगे ॥ १३ ॥

अब्रवीन्मां महाराज धर्मेवानुपालयन् ।

अञ्जलि राघवः कृत्वा शिरसाभिप्रणम्य च ॥ १४ ॥

सूत मद्वचनात्तस्य तातस्य विदितात्मनः ४ ।

शिरसा वन्दनीयस्य वन्द्यौ ५ पादौ *पुनः पुनः ॥ १५ ॥

हे महाराज ! धर्म के पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र ने हाथ जोड़ और मस्तक झुका कर यह कहा कि, मेरी ओर से संसार में धर्मात्मा कह कर प्रसिद्ध एवं वन्दनीय महाराज पिता के चरणों को बार बार प्रणाम कर ॥ १४ ॥ १५ ॥

१ सज्जमानया—स्वरूप्यत्वा । (गो०) २ वाष्पपरिव्यया—कण्ठगतवाष्प रुद्धयेत्यर्थः । (गो०) ३ मद्वचनात्—ममप्रतिनिधित्वेन । (रा०) ४ विदितात्मनः लोकेभास्मिष्टत्वेनप्रसिद्धस्थ । (रा०) ५ वन्द्यौ—वन्दनीयौ । (रा०)

* पाठान्तरे—“महात्मनः । ”

सर्वमन्तःपुरं वाच्यं सूत मद्वचनात्त्वया ।

आरोग्यमविशेषेण यथार्हं चाभिवादनम् ॥ १६ ॥

अन्तःपुरवासी समस्त खियों और पुरुषों को भी मेरी ओर से मेरा कुशलसमाचार कहना और यथायोग्य प्रणामादि कहना ॥ १६ ॥

माता च मम कौशल्या कुशलं चाभिवादनम् ।

अप्रमादं च वक्तव्या ब्रूयाश्वैनामिदं वचः ॥ १७ ॥

मेरी माता कौशल्या से भी मेरा कुशलसमाचार कह कर, मेरी ओर से प्रणाम कहना और यह भी कह देना कि, अपने कर्तव्य के पालन में प्रमादन करें अर्थात् तत्पर रहें ॥ १७ ॥

धर्मनित्या यथाकालमन्यगारपरा^१ भव ।

देवि देवस्य पादौ च देववत्परिपालय^२ ॥ १८ ॥

और यथासमय नित्य धर्माद्विष्टानादि करती रहै और यज्ञशाला की चौकसी रखें। फिर यह कहा है कि, हे देवी ! महाराज को देवतावत् मान उनको चरणसेवा करो ॥ १८ ॥

अभिमानं च मानं च त्यक्त्वा वर्तस्य मातृषु ।

अनु राजानमार्या च कैकेयीमम्ब कारय^३ ॥ १९ ॥

और कुलाभिमान एवं बङ्गपन का विचार त्याग कर, मेरी अन्य माताओं के साथ व्यवहार करना। महाराज की विशेष

१ अग्न्यागारपरा—यागशालारक्षिकाभव । (शि०) २ परिपालय—निषेवस्व । (शि०) ३ कारय—राजानं कैकेयीयतुल्यअनुवर्तस्व ।

कुपापात्र माता कैकेयी है । : उसके प्रति भी जैसा हो व्यवहार करना जैसा महाराज के साथ ॥

कुमारे भरते वृत्तिर्वित्तिव्या च राजवत् ।

अर्थज्येष्ठा हि राजानो राजधर्ममनुस्मर ॥ २० ॥

और कुमार भरत से राजा जैसा वर्ताव करना—यद्यपि भरत वय में नहीं, तथापि धन से ज्येष्ठ होने के कारण, राजधर्मनुसार उनके प्रति राजा जैसा व्यवहार करना ॥ २० ॥

भरतः कुशलं वाच्यो वाच्यो मद्वचनेन च ।

सर्वास्वेव यथान्यायं वृत्तिं वर्तस्व मातृषु ॥ २१ ॥

(हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के लिये यह कहा है कि) भरत जी से मेरा कुशलवृत्त कहना और यह बात कहना कि, वे सब माताओं के साथ न्यायपूर्वक व्यवहार करें ॥ २१ ॥

वक्तव्यश्च महावाहुरिक्ष्वाकुकुलनन्दनः ।

पितरं यौवराज्यस्थो राज्यस्थमनुपालय ॥ २२ ॥

इद्वाकुकुलनन्दन भरत से यह भी कहना कि, युवराज हो कर महाराज पिता की आङ्गा में चलें ॥ २२ ॥

अतिक्रान्तवया राजा मा स्मैनं व्यवरोह्यः ।

कुमारराज्ये जीव त्वं तस्यैवाङ्गाप्रवर्तनात् ॥ २३ ॥

महाराज अब बहुत बूढ़े हैं, अतएव उनको राज्यभूष न करना अर्थात् राज्यासन की अभिलाष मत करना और युवराज पद पा कर ही सन्तोष कर, महाराज जो कहें सो करना ॥ २३ ॥

१ व्यवरोह्यः—व्यवरोह्यः राज्यात् अंशयेत्यर्थः । (रा०)

अब्रवीचापि मां भूयो भृशमश्रूणि वर्तयन् ।
मातेव मम माता ते द्रष्टव्या पुत्रगर्धिनी ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त दुखिया कर मुझसे यह भी कहा है कि, भरत जी से यह बात कह देना कि, मेरी पुत्रवत्सला माता को अपनी माता की तरह समझें ॥ २४ ॥

इत्येवं मां महाराज ब्रुवन्नेव महायशाः ।
रामो राजीवताम्राक्षो भृशमश्रूण्यवर्तयत् ॥ २५ ॥

महाबाहु, महायशस्त्री, पद्मपलाशलोचन श्रीरामचन्द्र ने मुझसे ये सन्देश कहे और बहुत रोये ॥ २५ ॥

लक्ष्मणस्तु सुसंकुद्धो निःश्वसन्वाक्यमब्रवीत् ।
केनायमपराधेन राजपुत्रो विवासितः ॥ २६ ॥

तब लक्ष्मण जी ने अत्यन्त कुपित हो और ऊँची सौस ले यह कहा । इन राजकुमार ने कौनसा ऐसा अपराध किया था जिससे इन्हें देशनिकाला दिया गया है ॥ २६ ॥

राजा तु खलु कैकेया लघु त्वाश्रित्य शासनम् ।
कृतं कार्यमकार्यं वा वर्यं येनाभिपीडिताः ॥ २७ ॥

महाराज ने कैकेयी की तुच्छ बात मान और प्रतिज्ञा कर, कार्य अकार्य का कुछ भी विचार न किया । (इसका फल यह हुआ कि) दुःख हम लोगों को भोगना पड़ता है ॥ २७ ॥

यदि प्रत्राजितो रामो लोभकारणकारितम् ।
वरदाननिमित्तं वा सर्वथा दुष्कृतं कृतम् ॥ २८ ॥

यदि श्रीरामचन्द्र जी, कैकेयी के (अनुचित) लालच वश अथवा वरदान पूरा करने के लिये वन भेजे गये हैं, तो यह कार्य सर्वथा बुरा है ॥ २८ ॥

इदं तावद्यथाकाममीश्वरस्य कृते कृतम् ।

रामस्य तु परित्यागे न हेतुमुपलक्षये ॥ २९ ॥

यदि ईश्वर के करने से उन्होंने ऐसा किया है, तो भी श्रीराम-चन्द्र के निर्वासन में ईश्वर की कृति का कोई हेतु या कारण नहीं देख पड़ता है ॥ २९ ॥

असमीक्ष्य समारब्धं विरुद्धं बुद्धिलाघवात् ।

जनयिष्यति संक्रोशं^१ राघवस्य विवासनम् ॥ ३० ॥

महाराज ने इसका परिणाम न सोचा, केवल बुद्धि की कोतार्ह ही से यह काम किया, अतः श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास महाराज को दुःख देगा ॥ ३० ॥

अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये ।

भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः ॥ ३१ ॥

मुझे तो महाराज में पितृकर्त्तव्य का पालन कुछ भी नहीं देख पड़ता । अतः अब तो मेरे भाई, स्वामी, बन्धु और पिता (जो कुछ हैं—से) श्रीरामचन्द्र हैं ॥ ३१ ॥

सर्वलोकप्रियं त्यक्त्वा सर्वलोकहिते रतम् ।

सर्वलोकोऽनुरज्येत कथं त्वाऽनेन कर्मणा ॥ ३२ ॥

^१ संक्रोश—दुःख । राज्ञोनुतापहृतिभावः । (गो०)

सब लोगों के प्रिय और सब लोगों की भलाई करने में निरत
श्रीरामचन्द्र जी को जब तुमने बनवास दिया—तब (तुम्हारे इस
कर्म से तुम्हारे ऊपर) प्रजाजन कैसे प्रसन्न होंगे ॥ ३२ ॥

सर्वप्रजाभिरामं हि रामं प्रव्राज्य धार्मिकम् ।

सर्वलोकं विरुद्धच्येमं कथं राजा भविष्यसि ॥३३॥

ऐसे धार्मिक और प्रजाप्रिय श्रीरामचन्द्र को वन में निकालने
के कारण सब प्रजाजनों के विरोधी वन, आप किस प्रकार राजा
कहला सकेंगे ॥ ३३ ॥

जानकी तु महाराज निःश्वसन्ती मनस्विनी ।

भूतोपहतचित्तेव विष्ट्रिता विस्मिता स्थिता ॥ ३४ ॥

हे महाराज ! जानकी जो बड़े गम्भीर मन की है—भूत लगे
हुए जन के चित्त की तरह आश्चर्यचकित हो, टकटकी बाँधे खड़ी
की खड़ी ही रह गयी ॥ ३४ ॥

अदृष्टपूर्वव्यसना राजपुत्री यशस्विनी ।

तेन दुःखेन रुदती नैव मां किञ्चिदब्रवीत् ॥ ३५ ॥

क्योंकि उस यशस्विनी राजदुलारी पर इसके पूर्व कभी दुःख
नहीं पड़ा था । अतः इस दुःख में, मुँह से कुछ भी न कह, केवल
वह बिलख रही थी ॥ ३५ ॥

उद्धीक्षमाणा भर्तारं मुखेन परिशुष्यता ।

मुमोच सहसा बाष्पं मां प्रयान्तमुदीक्ष्य सा ॥३६॥

और पति के अश्रुपूर्ण मुख को देख, उसका मुख सूख गया था और वह मेरी ओर देख सहसा आँख गिराने लगे थे ॥ ३६ ॥

तथैव रामोऽश्रुमुखः कृताञ्जलिः
स्थितोऽभवल्लक्ष्मणवाहुपालितः ।
तथैव सीता रुदती तपस्विनी
निरीक्षते राजरथं तथैव माम् ॥ ३७ ॥
इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी, जिनकी बाँह पकड़े लक्ष्मण खड़े थे, अश्रुमुख हो और हाथ जोड़े खड़े खड़े, मेरी ओर देख रहे थे । तपस्विनी सीता भी उसी तरह रोती हुई राजरथ को और मुझको देख रही थी ॥ ३७ ॥

अयोध्याकारण का अठावनवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—०—

मम त्वश्वा निवृत्तस्य न प्रावर्तन्त वर्त्मनि ।

उष्णमश्रु प्रमुच्चन्तो रामे सम्पस्थिते वनम् ॥ १ ॥

(सुमंत्र, महाराज दशरथ से कहने लगे) श्रीरामचन्द्र जी के बन को चले जाने पर जब मैं लौटने लगा, तब मेरे थके घोड़े रास्ते में आँड़ा गये और गरम गरम आँख गिराने लगे ॥ १ ॥

उभाभ्यां राजपुत्राभ्यामथ कृत्वाहमञ्जलिम् ।

प्रस्थितो रथमास्थाय तदुःखमपि धारयन् ॥ २ ॥

मैंने दोनों राजकुमारों को प्रणाम कर रथ में बैठ वहाँ से प्रस्थान किया और उस दुःख को भी किसी प्रकार सह लिया ॥ २ ॥

गुहेन सार्धं तत्रैव स्थितोऽस्मि दिवसान्बहून् ।

आशया यदि मां रामः पुनः शब्दापयेदिति ॥ ३ ॥

कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी मुझे बुला कर, (अपने साथ ले चलें) इस आशा में मैं गुह के साथ वहाँ कई दिनों तक ठहरा रहा ॥ ३ ॥

विषये ते महाराज रामव्यसनकर्शिताः ।

अपि वृक्षाः परिम्लानाः सपुष्पाङ्कुरकोरकाः ॥ ४ ॥

मैंने लौटते समय देखा कि, आपके राज्य के वृक्ष तक दुःखी हैं। क्योंकि उनके फूल अङ्कुर और कली कुम्हला गयी हैं ॥ ४ ॥

उपतसोदका नद्यः पल्वलानि सरांसि च ।

परिशुष्कपलाशानि वनान्युपवनानि च ॥ ५ ॥

नदियों, तलैयों और तालाबों का जल सूख रहा है। (और नदियों तलैयों और तालाबों में जल कम हो जाने के कारण) वनों और उपवनों के वृक्षों के पत्ते मुरझाये हुए हैं ॥ ५ ॥

न च सर्पन्ति^१ सत्त्वानि^२ व्यालाः^३ न प्रचरन्ति च

रामशोकाभिभूतं तन्निष्कृजमभवद्वनम् ॥ ६ ॥

१ न सर्पन्ति—नगच्छन्ति । (गो०) २ सत्त्वानि—जन्तवः । (गो०)

३ व्यालाः—हंसपशवः सर्वदासञ्चारस्वभावा गजावा । (गो०)

जीव जन्मुओं ने चलना बंद कर दिया है और हिंसा गशु अथवा सदैव घूमने वाले हाथी मो अब वनों में घूमते हुर नहाँ देख पड़ते । राम के वियोगजनित शोक से वनों में सन्नाटा छाया हुआ है ॥ ६ ॥

लीनपुष्करपत्राश्च' नरेन्द्र कलुषोदकाः ।

सन्तप्तपद्माः पद्मिन्यो लीनपीनैविहङ्गमाः ॥ ७ ॥

हे महाराज ! तालावों का जल गंदला हो गया है और कमलों के पत्ते राम-वियोग-जन्म अतिशय ज्ञानि उत्पन्न होने के कारण जल के भीतर छूट गये हैं । कमल के तालावों में कमल सूख रहे हैं । मछलियों और (जल) पक्षियों ने पानी में घूमना फिरना कोइ दिया है ॥ ७ ॥

जलजानि च पुष्पाणि माल्यानिं स्थलजानि च ।

नांद्य भान्त्यल्पगन्धीनि फलानि च यथापुरम् ॥८॥

जल में उत्पन्न होने वाले पुष्प और पृथिवी पर उत्पन्न होने वाले पुष्पों में न तो पहले जैसी गन्ध ही रह गयी और न फलों में पहले जैसा स्वाद ही रह गया ॥ ८ ॥

अत्रोद्यानानि शून्यानि प्रलीनविहगानि च ।

न चाभिरामानारामान्पश्यामि मनुर्जर्षभ ॥ ९ ॥

यहाँ के उपवनों में भी पक्षियों के चुपचाप घोंसलों में बैठे रहने से सन्नाटा छाया हुआ है । यहाँ की वाटिकाएँ भी मुझे शोभाहीन देख पड़ती हैं ॥ ९ ॥

प्रविशन्तमयोध्यां मां न कश्चिदभिनन्दति ।

नरा राममपश्यन्तो निःश्वसन्ति मुहुर्मुहुः ॥ १० ॥

१ लीनपुष्करपत्राः—१ लान्यतिशयैनजलान्तर्विलोनपद्ममाः । (गो०)

२ लीनाः—सञ्चाररहिताः । (गो०) ३ माल्यानि—पुष्पाणि । (गो०)

मैं जब अयोध्या में आया, तब मैंने किसी को भी प्रसन्न न पाया प्रत्युत लोग (मेरे रथ में) श्रीरामचन्द्र को न देख, बार बार लंबी ससि लेने लगे ॥ १० ॥

देव राजरथं दृष्ट्वा विना रामपिहागतम् ।

दुःखादश्रुमुखः सर्वो राजमार्गगतो जनः ॥ ११ ॥

हे देव ! राजरथ में बैठ कर श्रीरामचन्द्र जी को आते न देख, रास्ते में जितने लोग थे, वे सब दुःखी हो राने लगे ॥ ११ ॥

हम्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम् ।

हाहाकारकृता नार्यो रामादर्शनकर्तिः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को न देखने के कारण विकल और ढज्जों, सतखने मकानों की छतों और भवनों के झरोखों में बैठी हुई स्त्रियों ने सूने रथ को आते देख, बड़ा हाहाकार किया ॥ १२ ॥

आयतैर्विमलैर्नेत्रैरश्रुवेगपरिप्लुतैः ।

अन्योन्यमभिवीक्षन्ते व्यक्तमार्ततराः स्त्रियः ॥ १३ ॥

वे (स्त्रियाँ) बड़े बड़े विमल नेत्रों में आँख भर और बहुत कातर एक दूसरे को अच्छी तरह नहीं देखती थीं ॥ १३ ॥

[नेट—नेत्रों को विमल कहने का भाव यह है कि, नेत्रों में अंजन या काजल जॊ स्त्रियों के शह्नार का एक अङ्ग हैं, वह नहीं लगा था ।]

नामित्राणां न मित्राणामुदासीनजनस्य च ।

अहमार्ततया किञ्चिद्विशेषमुपलक्षये ॥ १४ ॥

मुझे तो आज क्या मित्र, क्या शत्रु और क्या उदासीन—
किसी भी जन में, सिवाय कातरता के और कोई भी विशेषता नहीं
देख पड़ती ॥ १४ ॥

अप्रहृष्टमनुष्या च दीननागतुरङ्गमा ।

आर्तस्वरपरिम्लाना विनिःश्वसितनिःश्वना ॥ १५ ॥

जितने प्रनुष्य हैं वे सब दुःखी हैं, जितने हाथी घोड़े हैं वे भी
उदास हैं। सब ही आर्तनाद करते हुए लंबी लंबी डसासे ले रहे
हैं ॥ १५ ॥

निरानन्दा महाराज रामप्रवाजनातुरा ।

कौसल्या पुत्रहीनेव अयोध्या प्रतिभाति मा ॥ १६ ॥

हे महाराज ! श्रीरामचन्द्र जी के चले जाने से सब लोग दुःखी
हैं। अयोध्यापुरी तो मुझे पुत्र से बिछुड़ी हुई कौशल्या की तरह
(दीन) दिल्लाई पड़ रही है ॥ १६ ॥

सूतस्य वचनं श्रुत्वा राजा परमदीनया ।

बाष्पोपहतया वाचा तं सूतमिदमब्रवीत् ॥ १७ ॥

सुमंत्र के वचन सुन महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो ग़ग़द
कण्ठ से सुमंत्र से यह बोले ॥ १७ ॥

कैकेया हि नियुक्तेन १पापाभिजनभावया ।

न मया मन्त्रकुशलैर्वृद्धैः सह समर्थितम् ॥ १८ ॥

१ पापाभिजनभावया—क्रृकर्मविषयकसंमतिदानजनितपापविशिष्टाये अभि-
जनाः अभितः समीपं विद्यमानाः जनाः मन्थरादयाः तैस्सहभावो
यस्थितिर्यस्याः । (शि०) २ नसमर्थितं—नविचारितं । (गो०)

हे सुमंत्र ! दुष्ट वृद्धिवाली मन्त्ररादि का सहवास करने वालों कैकेयी को जब मैं वर देने लगा, तब (शोक है कि) न तो परामर्श देने में निपुण वृद्ध जनों के साथ मैंने विचार किया ॥ १८ ॥

न सुहृद्दिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा च नैगमैः ।

मयाऽयमर्थः सम्पोहात्स्वीहेतोः सहसा कृतः ॥ १९ ॥

और न अपने सुहृदों और न अपने मंत्रियों और न (राजधानी के) महाजन साहूकारों से सलाह ली । मैंने यह अनर्थ केवल कैकेयी के लिये मोहवश सहसा कर डाला ॥ १६ ॥

भवितव्यतया नूर्मिदं वा व्यसनं महत् ।

कुलस्यास्य विनाशाय प्राप्तं सूतं यद्वच्छयाः ॥ २० ॥

हे सुमंत्र ! निश्चय हो यह दारुण कष्ट होनी के वश, इच्छाकु कुल का सर्वनाश करने को अपने आप अथवा दैवइच्छा से उपस्थित हुआ है ॥ २० ॥

सूतं यद्यस्ति ते किञ्चिन्मया तु सुकृतं^३ कृतम् ।

त्वं प्रापयाशु मां रामं प्राणाः सन्त्वरयन्ति माम् ॥ २१ ॥

हे सुमंत्र ! यदि मैंने तेरा कुछ भी उपकार किया हो, तो तू मुझे शीघ्र राम के पास पहुँचा । (क्योंकि) मेरे प्राण (शरीर से निकलने के लिये) जलदी कर रहे हैं ॥ २१ ॥

यद्यद्यापि ममैवाज्ञा निवर्त्यतु राघवम् ।

न शक्ष्यामि विना रामं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ २२ ॥

१ यद्वच्छया—दैववच्छया । (रा०) २ सुकृतं—उपकारः (गो०) ।

अथवा यदि अब भी श्रीराम मेरो आङ्गा मान वन से लौट सकें, तो तू ही जा कर उनको लौटा ला । क्योंकि मैं राम विना एक मुहूर्त भी नहीं जी सकता ॥ २२ ॥

अथवाऽपि महावाहुर्गते दूरं भविष्यति ।

मामेव रथमारोप्य शीघ्रं रामाय दर्शय ॥ २३ ॥

अथवा यदि महावाहु राम बहुत दूर निकल गये हों, तो मुझे रथ में बिठा शीघ्र ले चल कर, मुझे राम को दिखला दे ॥ २३ ॥

वृत्तदंष्ट्रो^१ महेष्वासः कासौ लक्ष्मणपूर्वजः ।

यदि जीवामि साध्वेन पश्येयं सीतया सह ॥ २४ ॥

कुन्दपुष्पसम दाँतों वाले, महाधनुर्धर और लक्ष्मण के बड़े भाई राम कहाँ हैं? यदि मैं जीता रहा तो सीता सहित इस साधु को अवश्य देखूँगा ॥ २४ ॥

लोहिताक्षं महावाहुमामुक्तमणिकुण्डलम् ।

रामं यदि न पश्येयं गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ २५ ॥

यदि मैं लाल नेत्र वाले, महावाहु, रत्नकुण्डलधारी राम को न देखूँगा तो मैं यमालय को चला जाऊँगा अर्थात् मर जाऊँगा ॥ २५ ॥

अतो नु किं दुःखतरं योऽहमिक्ष्वाकुनन्दनम् ।

इमामवस्थामापन्नो नेह पश्यामि राघवम् ॥ २६ ॥

^१ वृत्तदंष्ट्रो—कुन्दकुण्डमलाकारदंष्ट्रः । (गो०)

हा ! इससे अधिक दुःख की बात क्या होगो, जो मैं इद्वाकु-
कुल-नन्दन राम को इस (मरण) अवस्था में भी नहीं देख
सकता ॥ २६ ॥

हा राम रामानुज हा हा वैदेहि तपस्विनी ।

न माँ जानीत दुःखेन म्रियमाणमनाथवत् ॥ २७ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा तपस्विनी वैदेही ! मैं अनाथ की
तरह कष्ट के साथ मर रहा हूँ, यह तू नहीं जानती ॥ २७ ॥

स तेन राजा दुःखेन भृशमर्पित^१चेतनः ।

अवगाढः^२ सुदुष्पारं शोकसागरमब्रवीत् ॥ २८ ॥

यह कहते कहते महाराज दशरथ का मन बहुत दुःखी हो
गया । वे अपार शोकसागर में डूब कर कहने लगे ॥ २८ ॥

[शोकसागर का रूपक बाँधा है ।]

रामशोकमहावेगः सीताविरहपारगः ।

श्वसितोर्मिमहावर्तो वाष्पफेनजलाविलः ॥ २९ ॥

बाहुविक्षेपमीनौदो विक्रन्दितमहास्वनः ।

प्रकीर्णकेशशैवालः कैकेयीवडवामुखः ॥ ३० ॥

ममाश्रुवेगप्रभवः कुञ्जावाक्यमहाग्रहः ।

वरवेलो नृशंसाया रामप्रव्राजनायतः ॥ ३१ ॥

राम का विरहजन्य शोक उस सागर की गहराई या चौड़ाई है,
जिसके किनारे हैं सीता जी का विक्षेप । श्वास का निकलना उसके
भींवर हैं, नेत्रजल से मानों वह गंदला हो रहा है । हाथों का पट

१ अर्पित चेतनः—व्याप्तिचित्तः । (गो०) २ अवगाढः—प्रविष्टः । (गो०)

कना मानों मद्वलियाँ हैं और आर्तनाद उस महासागर का मानों
गर्जन तर्जन है। विखरे हुए बाल मानों सिवार हैं और कैकेयी
मानों बड़वानल (वह आग जो समुद्र के नीचे रहती है।) नेत्रों
का जल गम्भीरता उत्पन्न करने वाला है, मन्थरा के बाच्य मानों
बड़े बड़े घड़ियाल हैं, कैकेयी के बर, जिससे श्रीरामचन्द्र जो बन
गये मानों लंबे लंबे तढ़ हैं॥ ३६॥ ३०॥ ३१॥

यस्मिन्बत निमग्नोऽहं कौसल्ये राघवं विना ।

दुस्तरो जीवता देवि ममाऽयं शोकसागरः ॥ ३२ ॥

हे कौशल्या ! मैं विना राम के इस प्रकार के अथाह शोक-
सागर में छूट रहा हूँ, सो जीते जो तो मैं इसे पार न कर
सकूँगा॥ ३२॥

अशोभनं योऽहमिहाद्य राघवं

दिव्यक्षमाणो न लभे सलक्षणम् ।

इतीव राजा विलपन्महायशाः

पपात तूर्णं शयने स मूर्छितः ॥ ३३ ॥

मैं आज लक्ष्मण सहित राम को देखना चाहता हूँ, किन्तु
नहीं देख सकता, यह मेरे किसी महापातक का फल है। इस
प्रकार महायशस्वी महाराज अनेक प्रकार से विलाप करते हुए
तत्काल ही अचेत हो पलंग पर गिर पड़े॥ ३३॥

इति विलपति पार्थिवे प्रनष्टे २

करुणतरं द्विगुणं च रामहेतोः ।

वचनमनुनिशम्य तस्य देवी
भयमगमत्पुनरेव राममाता ॥ ३४ ॥
इति एकोनषष्ठितमः सर्गः ॥

महाराज जब श्रीरामचन्द्र के लिये अत्यन्त करुणपूर्ण विलाप करते करते मूर्छित हो गये तब राममाता महारानी कौशल्या देवी को उनके ऐसे वचन सुन, दूना भय हुआ । (अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी के लिये महाराज को करुणपूर्ण विलाप कर के मूर्छित हुआ देख, कौशल्या बहुत डरी कि, कहीं महाराज प्राण न त्याग दें) ॥ ३४ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

षष्ठितमः सर्गः

—:o:—

ततो भूतोपसृष्टेव वेषमाना पुनः पुनः ।

धरण्यां गतसत्वेव^१ कौसल्या सूतमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौशल्या, जो भूताविष्ट की तरह भूमि पर निर्जीव सी पड़ी कौप रही थी, सुमंत्र से बोलीं ॥ १ ॥

नय माँ यत्र काकुत्स्थः सीता यत्र च लक्ष्मणः ।

तान्विना क्षणमप्यत्र जीवितुं नोत्सहे श्वहम् ॥ २ ॥

हे सूत ! जहाँ राम, लक्ष्मण जानकी हों, वहीं मुझे ले चलो, क्योंकि विना उनके आज मैं एक ज्ञान भी नहीं जी सकती ॥ २ ॥

^१ गतसत्वेव—गतप्रागेव । (गो०)

निवर्तय रथं शीघ्रं दण्डकान्य मायपि ।

अथ तान्नानुगच्छामि गमिष्यामि यमक्षयम् ॥ ३ ॥

अतः अति शीघ्र रथ फिर लौटाओ और मुझे भी दण्डकवन में पहुँचा दो, जो मैं उनके पास न गयी तो मैं यमपुरो को चल दूँगी ॥ ३ ॥

बाष्पवेगोपहतया स वाचा सज्जमानया? ।

इदमाश्वासयन्देवीं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत् ॥ ४ ॥

यह सुन सुमंत्र आँसू बहा, विकल ही, और हाथ जोड़ कर, महारानी को धीरज बँधाते हुए बोले ॥ ४ ॥

त्यज शोकं च मोहं च सम्भ्रमं^२ दुःखं तथा ।

व्यवधूय च सन्तापं वने वत्स्यति राघवः ॥ ५ ॥

हे देवी ! तुम शोक, मोह और दुःख के कारण उत्पन्न विकलता को त्याग दो । क्योंकि श्रीरामचन्द्र सुख से वन में वास करेंगे ॥ ५ ॥

लक्ष्मणश्चापि रामस्य पादौ परिचरन्वने ।

आराधयति धर्मज्ञः परलोकं^३ जितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

लक्ष्मण भी श्रीरामचन्द्र को चरणसेवा कर, धर्मपूर्वक एवं जितेन्द्रिय हो, अपना परलोक सुधार रहे हैं ॥ ६ ॥

विजनेऽपि वने सीता वासं प्राप्य गृहेष्विव ।

विस्त्रभं^४ लभतेऽभीता रामे विन्यस्तमानसा ॥ ७ ॥

१ सज्जमानया—विकृवया । (गो०) २ सम्भ्रम—व्याकुलत्वं । (गो०) ३ परलोकमाराधयाति—परलोकं साधयति । (गो०) ४ विस्त्रभं—प्रणयं । (गो०)

विजन वन में भी सीता राम में अपना मन लगा, घर हो के समान, प्रीतिपूर्वक एवं निर्भय रहती हैं ॥ ७ ॥

नास्या दैन्यं कृतं किञ्चित्सुमूक्ष्मपि लक्ष्यते ।
उचितेव प्रवासानां वैदेही प्रतिभाति मा ॥ ८ ॥

सीता जी में मुझे ज़रा सी भी दीनता नहीं देख पड़ी । अतः मुझे तो वह प्रवास में रहने के योग्य ही मालूम पड़ती है ॥ ९ ॥

नगरोपवनं गत्वा यथा स्म रमते पुरा ।
तथैव रमते सीता निर्जनेषु वनेष्वपि ॥ ९ ॥

जिस प्रकार सीता नगर के बाग बगीचों में जा कर पहले यहाँ विहार किया करती थीं उसी प्रकार वह वहाँ निर्जन वन में भी विहार करती है ॥ १० ॥

बालेव रमते सीताऽबालचन्द्रनिभानना ।
रामा रामे ह्यधीनात्मा विजनेषपि वने सती ॥ १० ॥

पृष्ठिमा के चन्द्रमा की तरह मुखवाली सीता निर्जन वन में भी प्रसन्नचित्त हो कर राम में मन लगा और अधीन हो कीड़ा किया करती है ॥ १० ॥

तदगतं हृदयं ह्यस्यास्तदधीनं च जीवितम् ।
अयोध्यापि भवेत्स्या रामहीना तथा वनम् ॥ ११ ॥

क्योंकि केवल उसका मन ही सम्पूर्णतया श्रीराम के अधीन नहीं है, प्रत्युत उसका जीवन भी उन्हींके ऊपर निर्भर है । अतः

विना श्रीराम के उसके लिये यह अयोध्या भी वन के समान है ॥ ११ ॥

पथि पृच्छति वैदेही ग्रामांश्च नगराणि च ।

गतिं दृष्ट्वा नदीनां च पादपान्विधानपि ॥ १२ ॥

मार्ग में जो गाँव, नगर, नदी और अनेक प्रकार के वृक्ष सीता देखती, उनके विषय में वह ॥ १२ ॥

रामं वा लक्ष्मणं वापि पृष्ठा जानाति जानकी ।

अयोध्याक्रोशमात्रे तु विहारमिव संश्रिता ॥ १३ ॥

राम से और लक्ष्मण से पूँछ, उनका वृत्तान्त अथवा परिचय जान लेती थी। वह वन तो उसके लिये मानों अयोध्या से एक कोस के अन्तर पर उपस्थित विहारस्थल जैसा हो रहा है ॥ १३ ॥

इदमेव स्मराम्यस्याः सहसैवोपजलिपतम् ।

कैकेयीसंश्रितं वाक्यं नेदानीं प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

सीता जी के विषय में तो मुझे इन्हीं वातों की याद है, उसने कैकेयी के बारे में जो कहा था—वह मुझे इस समय याद नहीं है ॥ १४ ॥

धर्वसयित्वा तु तद्वाक्यं प्रमादात्पर्युपस्थितम् ।

हादनं वचनं सूतो देव्या मधुरमब्रवीत् ॥ १५ ॥

सुमंत्र ने भूल से कैकेयी की चर्चा क्लैड दी थी—सो उस चर्चा को वहीं क्लैड, फिर छुमंत्र कौशल्या को प्रसन्न करने वाले वचन कहने लगे ॥ १५ ॥

अध्वना वातवेगेन सम्भ्रमेणातपेन^१ च ।

न विगच्छति^२ वैदेह्याश्चन्द्रांशुसहशी प्रभा ॥ १६ ॥

हे महारानी ! जानकी के मुख की चन्द्रमा जैसी प्रभा, मार्ग की थकावट से, हवा के झोंको से, व्याघ्रादि भयङ्कर वन के जीव जन्तुओं के डर से, अथवा तेज़ धूप से फीकी नहीं होती है ॥ १६ ॥

सहशं शतपत्रस्य^३ पूर्णचन्द्रोपमप्रभम् ।

वदनं तद्वदान्याया वैदेह्या न विकम्पते ॥ १७ ॥

अलक्करसरक्ताभावलक्करसवर्जितौ ।

अद्यापि चरणौ तस्याः पद्मकोशसमप्रभौ ॥ १८ ॥

और न कमल एवं पूर्णचन्द्र के तुल्य सीता जी का मुख मलिन होता है । यद्यपि उसके चरणों में महावर नहीं लगायी गयी तथापि अब तक उसके दोनों चरण कमल की तरह लाल लाल देख पड़ते हैं ॥ १७ ॥ १६ ॥

नूपुरोदघुष्टहेलेव खेलं^४ गच्छति भामिनी ।

इदानीमपि वैदेही तद्रागान्यस्तभूषणा ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के प्रति अनुरागवती होने के कारण सीता ने अब तक आभूषण नहीं उतारे हैं, वह पैरों की पायजैबों की भनकार से हंस आदि के गमन को लजाती हुई बड़े आनन्द से चलती है ॥ १६ ॥

^१ सम्भ्रमेण—व्याघ्रादिदर्शनजन्यच्याकुलत्वेन । (गो०) ^२ नविगच्छति—नविकरोति । (गो०) ^३ शतपत्रस्य—पश्यस्य । (गो०) ^४ खेलं—सलीलं । (गो०)

गजं वा वीक्ष्य सिंहं वा व्याघ्रं वा वनमाश्रिता ।
नाहारयति संत्रासं बाहु रामस्य संश्रिता ॥ २० ॥

वन में हाथी, सिंह और व्याघ्र को देख—वह छरती नहीं, क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी के भुजबल पर विश्वास होने से वह निर्भय रहती है ॥ २० ॥

न शोच्यास्ते न चात्मानः^१ शोच्यो नापि जनाधिपः ।
इदं^२ हि चरितं लोके प्रतिष्ठास्यति शाश्वतम् ॥ २१ ॥

अतः हे देवी ! तुम उन तीनों के लिये, अपने लिये और महाराज के लिये ज़रा भी चिन्ता न करो । पिता की आज्ञा मान कर वन जाने का श्रीराम जी का चरित्र आचन्द्रार्क इस संसार में प्रसिद्ध हो, प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा ॥ २१ ॥

विधूय शोकं परिहृष्टमानसा
महर्षियाते^३ पथि सुव्यवस्थिताः ।
वने रता वन्यफलाशनाः पितुः
शुभां प्रतिज्ञां परिपालयन्ति ते ॥ २२ ॥

वे (श्रीरामचन्द्र) शोक को दूर कर, प्रसन्न मन से महर्षियों के चले हुए मार्ग का भली भाँति अनुसरण कर, अर्थात् तपस्त्रियों के नियमों को पालन करते हुए वन में रह और कन्दमूल फल स्था पिता की परम पवित्र आज्ञा का पालन कर रहे हैं ॥ २२ ॥

१ आत्मनः—वर्यं । (गो०) २ इदं चरितं—पितुवचनपरिपालनरूपं-
चरितं । (गो०) ३ महर्षियाते—महर्षिभिः प्राप्ते । (गो०)

तथापि सूतेन सुयुक्तवादिना
निवार्यमाणा सुतशोककर्शिता ।
न चैव देवी विरराम कूजितात्
प्रियेति पुत्रेति च राघवेतिच ॥ २३ ॥
इति षष्ठितमः सर्गः ॥

यद्यपि सूत ने कौशल्या को अनेक युक्तियों से बहुत कुछ समझाया, तथापि कौशल्या पुत्रवियोगजन्य शोक से पीड़ित हो, रोने चिल्हाने से न रुक्ती और “अरे मेरे लाङ्गोले,” “अरे मेरे बेटे,” “अरे राम ! ” बराबर कह कह रोती ही रहीं ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का साठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकषष्ठितमः सर्गः

—:०:—

वनं गते धर्मपरे रामे रमयतांवरे ।

कौसल्या रुदती* सार्ता भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

गुणाभिराम, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी के वन चले जाने पर, कौशल्या विकल हो रुदन करती हुई अपने पति से यह बोलीं ॥ १ ॥

यद्यपि त्रिषु लोकेषु प्रथितं ते महवशः ।

सानुक्रोशो वदान्यश्च प्रियवादी च राघवः ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—“स्वाती । ”

हे महाराज ! यद्यपि तीनों लोकों में आपकी यह कोर्ति फैली हुई है कि, महाराज वडे दयालु, उदार, और प्रियवादी हैं ॥ २ ॥

कथं न रवरश्रेष्ठ पुत्रौ तौ सह सीतया ।

दुखितौः सुखसंबृद्धौ वने दुःखं सहिष्यतः ॥ ३ ॥

तथापि हे पुरुषोत्तम ! (यह तो बतलाइये कि) सीता सहित आपके बे दोनों पुत्र, जो सुख में पाले पोसे गये हैं, दुःखी हो, किस तरह वन में दुःख सह सकेंगे ॥ ३ ॥

सा नूनं तरुणी^१ श्यामा^२ सुकुमारी सुखोचिता ।

कथमुष्णं च शीतं च मैथिली प्रसहिष्यते ॥ ४ ॥

निश्चय ही युवावस्था को प्राप्त युवती एवं सुकुमारी सीता, जो सुख से रहने योग्य है, किस प्रकार गर्मी सर्दी सह सकेगी ॥ ४ ॥

भुक्त्वाऽशनं विशालाक्षी सूपदंशान्वितं^३ शुभम् ।

वन्यं नैवारमाहारं कथं सीतोपभोक्ष्यते ॥ ५ ॥

जो वडे वडे नेत्र वाली, (रसाइयों के बनाये हुए) सुन्दर व्यञ्जन खाती थी, वह सीता क्योंकर वन के चाँवलों को खा सकेगी ॥ ५ ॥

गीतवादित्रनिर्धार्षं श्रुत्वा शुभमनिन्दिता ।

कथं क्रव्यादसिंहानां शब्दं श्रोष्यत्यशोभनम् ॥ ६ ॥

१ तरुणी—आरब्धयौवना । (गो०) २ श्यामा—यौवनमध्यस्था । (गो०) (श्यामातरुणी—यौवनमध्यस्था तरुणी । गो०) ३ सूपदंशान्वितं—शोभनव्यञ्जन सहितं । (गो०)

जो अनिन्दिता सीता गाने और बजाने की (मधुर) ध्वनि ही
सुना करती थी, इसे समय वह क्यों कर माँसाहारी सिंहों का
भयकुर शब्द सुनेगी ॥ ६ ॥

'महेन्द्रध्वजसङ्काशः क नु शेते महाभुजः ।

भुजं परिघसङ्काशमुपधाय *सहानुजः ॥ ७ ॥

जो इन्द्रधनुष के समान बड़ी भुजाओं वाले और महावली
हें, वे अपनी विशाल भुजा तकिये की जगह सिर के नीचे रख
कही शयन करते होंगे ॥ ७ ॥

पद्मवर्णं सुकेशान्तं पद्मनिःश्वासमुत्तमम् ।

कदा द्रक्ष्यामि रामस्य वदनं पुष्करेक्षणम् ॥ ८ ॥

कमल के समान और सुन्दर केशों से युक्त, कमल जैसी सुगन्ध
और कमलनयन श्रीरामचन्द्र जी के मुखारविन्द को, मैं कब
देखूँगी ॥ ८ ॥

वज्रसारमयं नूनं हृदये मे न संशयः ।

अपश्यन्त्या न तं यद्वै फलतीदं सहस्रधा ॥ ९ ॥

निश्चय ही मेरा हृदय वज्र का है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं
है। क्योंकि राम को न देखने से इसके सहस्र टुकड़े नहीं हो
जाते ॥ ९ ॥

यत्त्वयाऽकरुणं कर्म व्यपोह्य मम वान्धवाः ।

निरस्ताः परिधावन्ति सुखार्हाः कृपणा वने ॥ १० ॥

१ महेन्द्रध्वजोनाम इन्द्रधनुः । (गो०) * पाठान्तरे—“महावलः ।”

महाराज ! आपने मेरे प्रियजनों को राज्य से निकाल कर बड़ा निर्दयतापूर्ण कर्म किया है । जो सुख से रहने येत्य हैं, हाय वे दीन हो वन में मारे मारे फिरते हैं ॥ १० ॥

यदि पञ्चदशे वर्षे राघवः पुनरेष्यति ।

जग्नाद्राज्यं च कोशं च भरतो नोपभुज्यते ॥ ११ ॥

यदि चौदह वर्ष बाद श्रीरामचन्द्र लौट भी आवें (तो भी मुझे भरोसा नहीं कि) भरत उनको राज्य और कोश दे देंगे ॥ ११ ॥

भोजयन्ति किल श्राद्धे केचित्स्वानेव बान्धवान् ।

ततः पश्चात्समीक्षन्ते कृतकार्या द्विर्जर्षभान् ॥ १२ ॥

कोई कोई श्राद्ध करने वाले विद्वान् ब्राह्मण को निमंत्रण दे, पहले गुणहीन भाई बंदों को श्राद्ध में भोजन करवाते हैं । पीछे से उन निमंत्रित ब्राह्मणों को बुलाते हैं ॥ १२ ॥

तत्र ये गुणवन्तश्च विद्वांसश्च द्विजातयः ।

न पश्चात्तेऽनुमन्यन्ते सुधामपि सुरोपमाः ॥ १३ ॥

तब उन ब्राह्मणों में जो गुणवान् एवं विद्वान् होते हैं, वे श्राद्ध के अमृत तुल्य भोज्य पदार्थों को, मंदिरा के समान (त्यज्य) क्या नहीं समझते ? ॥ १३ ॥

ब्राह्मणेष्वपि तृसेषु पश्चाद्वोक्तुं द्विर्जर्षभाः ।

नाभ्युपैतुमलं प्राज्ञाः शृङ्गच्छेदमिवर्षभाः ॥ १४ ॥

(यही नहीं वल्कि) अन्य ब्राह्मणों के भोजन से बचे हुए अन्न को, विद्वान् ब्राह्मण अङ्गीकर करने में वैसा ही अपना अनादर समझते हैं, जैसा बैल का अनादर उसके सींगों के काटने से होता है ॥ १४ ॥

एवं कनीयसा भ्रात्रा भुक्तं राज्यं विशांपते ।
भ्राता ज्येष्ठो वरिष्ठश्च किमर्थं नावमंस्यते ॥ १५ ॥

हे प्रजानाथ ! इसी तरह छोटे भाई के भेगे हुए राज्य का ज्येष्ठ
और श्रेष्ठ भाई क्यों न अनादर करेगा, अर्थात् अवश्य अनादर
करेगा ॥ १५ ॥

न परेणाहृतं भक्ष्यं व्याघ्रः स्वादितुमिच्छति ।
एवमेव नरव्याघ्रः परलीढं^२ न मंस्यते ॥ १६ ॥

जिस प्रकार व्याघ्र दूसरे की मारी हुई शिकार का खाना पसंद
नहीं करता, वैसे ही पुरुषसिंह श्रीराम भी दूसरे की चक्खी हुई
वस्तु कदापि अङ्गोकार न करेंगे ॥ १६ ॥

हविराज्यं पुरोडाशः कुशा यूपाश्च स्वादिराः ।
नैतानि यातयामानि कुर्वन्ति पुनरध्वरे ॥ १७ ॥

जिस प्रकार एक यज्ञ में व्यवहृत हवि, धी, पुरोडाश, कुश
और खैर के खंभे दूसरे यज्ञ के काम के नहीं रहते ॥ १७ ॥

तथा ह्यात्मिदं राज्यं हृतसारां सुरामिव ।
नाभिमन्तु^३मलं रामो नष्टसोममिवाध्वरम् ॥ १८ ॥

उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इस उपयुक्त राज्य को सार
निकली हुई सुरा और सोमरहित यज्ञ की तरह कभी लेने का
इच्छा न करेंगे ॥ १८ ॥

^१ विशांपते—हे प्रजानाथ ! (गो०) ^२ परलीढं—परेणास्वादितं । (गो०)

^३ आत्म—उपसुक्षमूर्च्च । (गो०) ^४ अभिमन्तु—अभिलिषितु । (गो०)

नैवं विधमसत्कारं राघवो मर्षयिष्यति ।

बलवानिव शार्दूलो वालधेरभिमर्शनम् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार बलवान् सिंह अपनी पुँछ का मरुड़वाना नहीं सह सकता, उसी प्रकार श्रीराम भी इस तरह के असत्कार को न सह सकेंगे ॥ १९ ॥

नैतस्य सहिता लोका भयं कुर्युमहामृधे^१ ।

अधर्मं त्विह धर्मात्मा लोकं धर्मेण योजयेत् ॥ २० ॥

क्या सब लोग यहाँ संग्राम में श्रीरामचन्द्र जी से नहीं डरते (अर्थात् सब डरते हैं । अतः वे बड़े बलवान् हैं, वे चाहते तो यह राज्य अपने बाहुबल से ले सकते थे, किन्तु) वे (केवल स्वयं ही) धर्मात्मा (नहीं) हैं, प्रत्युत अधर्मियों को भी धर्म पर चलने की शिक्षा देते हैं । वे ही क्यों कर अधर्म करें (अर्थात् बलपूर्वक राज्य लें) ॥ २० ॥

नन्वसौ काञ्चनैर्वाणैर्महावीर्या महाभुजः ।

युगान्त इव भूतानि सागरानपि निर्दहेत् ॥ २१ ॥

बड़ो भुजाओं वाले और महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र जो अपने सुनहले रंग के बाणों से प्रलयकाल के समय जैसा, (केवल) सब प्राणियों हो को (नहीं) समुद्र (तक) को भस्म कर सकते हैं ॥ २१ ॥

स तादृशः सिंहबलो वृषभाक्षो नरर्षभः ।

स्वयमेव हतः पित्रा जलजेनात्मजो यथा ॥ २२ ॥

^१ महामृधे—महायुद्धे । (गो०)

वे सिंह के समान बलशाली, पुरुषश्रेष्ठ श्रीराम उसी प्रकार अपने पिता द्वारा मारे पड़े, जिस प्रकार मद्धली के बच्चे (अपने पिता) मत्स्य द्वारा नष्ट कर दिये जाते हैं (मत्स्य अपने सन्तान को खा डालते हैं) ॥ २२ ॥

द्विजातिचरितो धर्मः शास्त्रदृष्टः सनातनः ।

यदि ते धर्मनिरते त्वया पुत्रे विवासिते ॥ २३ ॥

यदि आप द्विजों द्वारा आचरित, शास्त्रोक सनातन धर्म मानते होते, तो ऐसे धर्मनिरत पुत्र को देश निकाला कभी न देते ॥ २३ ॥

गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीया गतिरात्मजः ।

तृतीया ज्ञातयो राज्यथतुर्थी नेह विद्यते ॥ २४ ॥

हे महाराज ! खी के लिये पहला सहारा पति का, दूसरा पुत्र का, तीसरा भाइबंदों का है । खी के लिये चौथा सहारा तो कोई है ही नहीं ॥ २४ ॥

तत्र त्वं चैव मे नास्ति रामस्य वनमाश्रितः ।

न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा निहता त्वया ॥२५॥

इनमें से आप तो मेरे हैं ही नहीं (और दूसरे सहारे) राम को आपने वन भेज ही दिया है । आपको छोड़ मैं वन भी नहीं जा सकती । आपने तो मुझे वारहवाट कर दिया (अर्थात् मुझे कहीं का नहीं रखा सब तरह से वरवाद कर दिया) ॥ २५ ॥

हतं त्वया राज्यमिदं सराष्ट्रं

हतस्तथाऽऽत्मा सह मन्त्रिभिश्च ।

हता सपुत्राऽस्मि हताश्च पैराः ।

सुतश्च भार्या च तव प्रहृष्टौ ॥ २६ ॥

हे महाराज ! (आपने श्रीराम को घन में भेज कर) अनेक छोटे राज्यों सहित इस विशाल राज्य को, मंत्रियों सहित आपने आपको, पुत्र सहित मुझको और समस्त अयोध्यावासियों को बरबाद कर डाला । (आपके इस कार्य से प्रसन्न केवल दो ही हैं) आपकी भार्या कैकेयी और उसका पुत्र भरत ॥ २६ ॥

इपां गिरं दारुणशब्दसंश्रितां
निशम्य राजाऽपि मुमोह दुःखितः ।
ततः स शोकं प्रविवेश पार्थिवः
स्वदुष्कृतं चापि पुनस्तदा स्मरन् ॥ २७ ॥
इति इकषष्टितमः सर्गः ॥

कौशल्या के इस प्रकार के कठोर घर्षन सुन, महाराज दशरथ अत्यन्त दुःखी हो मूर्कित हो गये और शोकसागर में निमग्न हो महाराज इस दुःख का आदिकारण विचारने लगे ॥ २७ ॥
अयोध्याकाण्ड का इक्षठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—: * :—

द्विषष्टितमः सर्गः

—: ० :—

एवं तु क्रुद्या राजा राममात्रा सशोकया ।

श्रावितः परुषं वाक्यं चिन्तयामास दुःखितः ॥ १ ॥

१ स्वदुष्कृतं स्मरन्—एतादशदुःखस्यनिदानभूतं किंकर्म पूर्वं कृतं इति स्मरन् । (गो०)

महाराज दशरथ शोक के कारण कुद्ध राममाता कौशल्या के
ऐसे कठोर वचन सुन, दुःखी हो सोचने लगे कि, अब क्या
करें ॥ १ ॥

चिन्तयित्वा स च नृपो मुमोह व्याकुलेन्द्रियः ।

अथ दीर्घेण कालेन संज्ञामाप परन्तपः ॥ २ ॥

यही सोचते सोचते महाराज विकल हो मूर्द्धित हो गये और
बहुत देर बाद वे सचेत हुए ॥ २ ॥

स संज्ञामुपलभ्यैव दीर्घमुष्णं च निःश्वसन् ।

कौशल्यां पार्श्वतो दृष्टा पुनश्चिन्तामुपागमत् ॥ ३ ॥

वे सचेत होने पर बड़ी गहरी सासे लेने लगे । कौशल्या को
पास बैठी देख, वे फिर सोच में पड़ गये ॥ ३ ॥

तस्य चिन्तयमानस्य प्रत्यभात्कर्म दुष्कृतम् ।

यदनेन कृतं पूर्वमज्ञानाच्छब्दवेधिना ॥ ४ ॥

सोचते सोचते उनको अपना दुष्कृत्याद पड़ा । (वह था)
पहले किसी समय अनजाने एक तपत्वी का शब्दवेधी बाण से
बध ॥ ४ ॥

विमनास्तेन शोकेन रामशोकेन च प्रभुः ।

द्वाभ्यामपि महाराजः शोकाभ्यामन्वतप्यत ॥ ५ ॥

महाराज एक तो श्रीरामचन्द्र के वियोग से दुःखी थे ही, अब
उस दुष्कर्मिका स्मरण भी उन्हें दुःखी करने लगा । इन दोनों के
शोक से महाराज सन्तप हो विकल हो गये ॥ ५ ॥

दद्यमानः स शोकाभ्यां कौसल्यामाह भूपतिः ।
वेपमानोऽञ्जलि कृत्वा प्रसादार्थमवाङ्मुखः ॥ ६ ॥

दोनों शोकों से दग्ध और दुःखित महाराज दशरथ ने काँप कर और नीचा सिर कर कौशल्या की प्रसन्न करने के उद्देश्य से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ६ ॥

प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलिः ।
वत्सला चानुशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ॥ ७ ॥

हे कौशल्ये ! मैं तेरी विनती करता हूँ और हाथ जोड़ता हूँ । तू तो अपने शबुद्धों पर भी सदा इया दिखाती और उनके प्रति अकोर व्यवहार करती है ॥ ७ ॥

भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान्निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ॥ ८ ॥

हे देवी ! (यह भी तू जानती ही है कि,) धर्म की दृष्टि से, धर्माचरण करने वाली ऋषि के लिये उसका पति ही चाहे गुणी हो अथवा निर्गुणी, प्रत्यक्ष देवता है ॥ ८ ॥

सा त्वं धर्मपरा नित्यं दृष्टलोकपरावरा' ।
नार्हसे विप्रियं वक्तुं दुःखितापि सुदुःखितम् ॥ ९ ॥

सो तू नित्य धर्माचरण में तत्पर और संसार का ऊँच नीच समझने वाली हो कर भी, तुझे ऐसे अप्रिय वचन कहना उचित

१ दृष्टलोकपरावरा—दृष्टौलोकेजनेपरावरौ—उत्कर्षापिकर्षौययासतथोक्ता । (गो०)

नहीं । (मैं यह जानता हूँ कि, तू दुःखी होने के कारण ऐसा कह रही है, तो भी) मुझे जैसे अत्यन्त दुःखी से तुझे ऐसा कहना उचित नहीं ॥ ६ ॥

तद्वाक्य करुणं राज्ञः श्रुत्वा दीनस्य भाषितम् ।

कौशल्या व्यस्तजद्वाष्पं प्रणालीव नवोदकम् ॥ १० ॥

महाराज के ऐसे करुणापूर्ण वचन सुन, कौशल्या के नेत्रों से आँखुओं की धार इस भाँति वही, जिस भाँति नालियों में वर्षा का जल बहता है ॥ १० ॥

सा मूर्धिन बद्धा रुदती राज्ञः पद्मिवाङ्गलिम् ।

सम्भ्रमादब्रवीत्रस्ता त्वरमाणाक्षरं वचः ॥ ११ ॥

कौशल्या ने महाराज के दोनों जुड़े हुए कमल सदृश हाथों को अपने सिर पर रख लिया और रोतो हुई घबड़ानी सी वह बोली ॥ ११ ॥

प्रसीद शिरसा याचे भूमौ॒ निपतिताऽस्मि ते ।

याचिताऽस्मि हता देव हन्तव्याहं न हि त्वया ॥ १२ ॥

हे देव ! आप दुःखी न हों ; प्रसन्न हों । मैं अपना सिर आपके चरणों में रख आपको प्रणाम करती हूँ । आपका मेरो विनती करना, मेरे लिये मरने के समान कष्टदायी है । अतः आप मुझसे क्षमा न मांग कर, मुझे मेरे अनुचित कर्म के लिये दण्ड दें ॥ १२ ॥

नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता ।

उभयोर्लोकयोर्वीर पत्या या सम्प्रसाद्यते ॥ १३ ॥

१ नवोदकं—वर्षजलं । (गो०) २ भूमौनिपतिताऽस्मि—प्रणताऽस्मीत्यर्थः । (गो०)

वह खीं कुलोन नहीं कहला सकती, जिसको दोनों लोकों की
एक मात्र गति (अर्थात् पति) विनती कर प्रसन्न करे ॥ १३ ॥

जानामि धर्मं धर्मज्ञं त्वां जाने सत्यवादिनम् ।

पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम् ॥ १४ ॥

हे धर्मज्ञ ! मैं खीं कर्तव्य को जानती हूँ और आपको सत्यवादी
मानती हूँ । उस समय मेरे मुख से जो थोड़ा बहुत अनुचित निकल
गया, वह पुत्रशोक से विकल होने के कारण निकल गया ॥ १४ ॥

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्^१ ।

शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो रिपुः ॥ १५ ॥

क्योंकि शोक (मनुष्य का केवल) धैर्य और शास्त्रज्ञान ही नष्ट
नहीं करता, प्रत्युत सर्वनाश कर देता है । अतः शोक से बढ़ कर
(मनुष्य का) शत्रु दूसरा कोई नहीं है ॥ १५ ॥

शक्यमापतितः सोदुं प्रहारो रिपुहस्ततः ।

सोदुमापतितः शोकः सुसूक्ष्मोऽपि न शक्यते ॥ १६ ॥

अतएव अन्य बैरी के हाथ का प्रहार तो सह भी लिया जा
सकता है, किन्तु हठात्यास बहुत थोड़ा सा भी शोक नहीं सहा जा
सकता ॥ १६ ॥

वनवासाय रामस्य पञ्चरात्रोऽद्य गण्यते ।

यः शोकहतहर्षायाः पञ्चवर्षोपमो मम ॥ १७ ॥

१ श्रुतम्—शास्त्रभवणजनितनिश्चितधर्मं । (शि०) २ आगतितः—
हठात्यप्राप्तः । (गो०)

राम को बनवास गये आज पाँचवीं रात है किन्तु, मेरे लिये ता ये पाँच रातें पाँच वर्ष के समान हो गयीं। क्योंकि राम-वियोग-जनित शोक के कारण हर्ष तो एकदम सुखसे विदा हो गया है ॥ १७ ॥

तं हि चिन्तयमानायाः शोकोऽयं हृदि वर्धते ।
नदीनामिव वेगेन समुद्रसलिलं महत् ॥ १८ ॥

श्रीराम की चिन्ता करने से मेरे हृदय में उसीं प्रकार शोक बढ़ता है, जिस प्रकार नदी के जल के वेग से समुद्र का जल बढ़ता है ॥ १८ ॥

एवं हि कथयन्त्यास्तु कौशल्यायाः शुभं वचः ।
मन्दरश्मिरभूत्सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १९ ॥

कौशल्या जी के इस प्रकार विनष्टतापूर्ण वचन कहते कहते, सूर्य अस्त हो गये और रात हो गयी ॥ १९ ॥

*अथ प्रह्लादितो वाक्यैर्देव्या कौशल्यया नृपः ।
शोकेन च समाक्रान्तो निद्राया वशमेयिवान् ॥ २० ॥

इति द्विषष्टितमः सर्गः ॥

महाराज दशरथ, कौशल्या की यह बातचीत सुन, हर्षित हुए और शोक से उत्पीड़ित होने के कारण उनको नींद आ गयी ॥ २० ॥

अयोध्याकाण्ड का वासठवां सर्ग समाप्त हुआ ।



त्रिषष्ठितमः सर्गः

—०—

प्रतिबुद्धो मुहूर्तेन शोकोपहतचेतनः ।

अथ राजा दशरथश्चिन्तामभ्यवपद्यत ॥ १ ॥

एक मुहूर्त साने के पीछे महाराज की आँखें खुलीं । आँखें खुलते ही शोक ने उनको आ घेरा और वे चिन्ता करने लगे ॥ १ ॥

रामलक्ष्मणयोश्चैव विवासाद्वासवोपमम् ।

आविवेशोपसर्गः३ तं तमः३ सूर्यमिवासुरमृ३ ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण के वनवास के उपद्रव से बढ़े हुए शोक ने इन्द्र के समान महाराज दशरथ को उसी प्रकार आच्छादित कर लिया, जिस प्रकार राहु सूर्य को आच्छादित कर लेता है ॥ २ ॥

सभार्ये निर्गते रामे कौसल्यां कोसलेश्वरः ।

विवक्षु४रसितापाङ्गां स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ॥ ३ ॥

सखीक श्रीराम जी के वनवासी होने पर महाराज ने अपने उस दुष्कृत कर्म की सुधि कर, उसे महारानी कौशल्या से कहने की इच्छा की ॥ ३ ॥

स राजा रजनीं पष्टीं रामे प्रवाजिते वनम् ।

अर्धरात्रे दशरथः संस्मरन्दुष्कृतं कृतम् ॥ ४ ॥

१ उपसर्गः—महोपद्रवःपुत्रशोकरूपः । (गो०) २ तमः—राहुः ।

३ आसुरं—असुर संबन्धि । (गो०) ४ विवक्षुः वक्तमिवद्युः । (शि०)

श्रीराम के बनवास के दिन से छठवीं रात को आधी रात के समय महाराज ने अपने उस पापकृत्य को स्मरण किया ॥ ४ ॥

स राजा पुत्रशोकार्तः स्मृत्वा दुष्कृतमात्मनः ।
कौसल्यां पुत्रशोकार्तामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

पुत्र के वियोग के शोक से विकल महाराज ने अपने पापकर्म को स्मरण कर, पुत्रवियोग से विकल महारानी कौशल्या से कहा ॥ ५ ॥

यदाचरति कल्याणि शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
तदेव लभते भद्रे कर्ता कर्मजमात्मनः ॥ ६ ॥

हे कल्याणि ! मनुष्य भला या बुरा—जैसा कर्म करता है, उस कर्म का फल, कर्ता को अवश्य मिलता है ॥ ६ ॥

गुरुलाघवमर्थानामारम्भे कर्मणां फलम् ।
दोषं वा यो न जानाति स बालैः इति होच्यते ॥ ७ ॥

अतपव कर्म करने के पूर्व जो मनुष्य कर्म के फल का गुरुत्व लघुत्व (भलाई बुराई) अथवा उसके दोष (त्रुटि) को नहीं जानता, वह अज्ञानी कहलाता है ॥ ७ ॥

कश्चिदाम्रवणं छित्वा पलांशाश्च निषिद्धति ।
पुष्पं दृष्ट्वा फले गृध्नुः स शोचति फलागमे ॥ ८ ॥

जो आदमी पलाश के लाल लाल फूलों को देख, फल पाने की अभिलाषा से, आम के पेड़ को काट कर, पलाश बूझ को

^१ अर्थानाम्—फलानाम् । (गो०) ^२ बालः—अज्ञः । (गो०)

सींचता है, फल लगने का समय आने पर वह अवश्य ही पञ्चताता है ॥ ८ ॥

अविज्ञाय फलं यो हि कर्मत्वेवानुधावति ।

स शोचेत्फलवेलायां यथा किंशुकसेचकः ॥ ९ ॥

अतः जो मनुष्य कर्म का परिणाम विचारे विना ही कर्म करने लगता है, उसे भी फल प्राप्ति के समय, पलाश वृक्ष सींचने वाले (अज्ञानी) मनुष्य की तरह पञ्चताना पड़ता है ॥ ९ ॥

सोऽहमाप्रवणं छित्त्वा पलाशांश्च न्यषेचयम् ।

रामं फलागमे त्यक्त्वा पश्चाच्छोचामि दुर्मतिः ॥ १० ॥

हे देवो ! मैंने भी आप के वृक्ष को काट कर पलाश के वृक्ष की सींचा है । सो फल लगने के समय, श्रीराम को त्याग कर मुझ दुष्टमति की भी पञ्चताना पड़ता है ॥ १० ॥

लब्धशब्देन^१ कौशल्ये कुमारेण धनुष्मता ।

कुमारः शब्दवेधीति मया पापमिदं कृतम् ॥ ११ ॥

हे कौशल्ये ! मैंने अपनी कुमारावस्था में अपने को शब्दवेधी कहला कर, प्रसिद्ध होने की अभिलाषा से धनुष धारण कर, यह पाप किया ॥ ११ ॥

तदिदं मेऽनुसम्प्राप्तं देवि दुःखं स्वयं कृतम् ।

सम्मोहादिह *वाल्येन यथा स्याद्रक्षितं विषम् ॥ १२ ॥

^१ लब्धशब्देन—प्राप्तरूपातिनामया यद्वालब्धगजतुल्य मुनिषुत्र शब्देन ।
(गो०) * पाठान्तरे—“ वालेन तदा । ”

से है देवी ! मैं इस दुःख का कारण स्वयं ही हूँ। जिस प्रकार बालक अज्ञानवश विष खा ले, वैसे ही मैंने भी अज्ञान में पाप कर अपना सर्वनाश अपने आप किया है ॥ १२ ॥

यथाऽन्यः पुरुषः कश्चित्पलाशैर्महितो भवेत् ।
एवं मयाप्यविज्ञातं शब्दवेध्यमिदं फलम् ॥ १३ ॥

जैसे कोई आदमी पलाशगुण को देख, उससे उत्तम फल पाने की आशा से उसकी सेवा करे, पर उससे उसे उत्तम फल की प्राप्ति नहीं होती—वैसे ही मैंने भी शब्दवेधी शिकार को उत्तम समझ बिना जाने बूझे ऐसा किया, उसका मुझे यह फल प्राप्त हुआ है ॥ १३ ॥

देव्यनृढा^१ त्वमभवो युवराजो^२ भवाम्यहम् ।
ततः^३ प्रावृद्धनुप्राप्ता मदकामविवर्धनी ॥ १४ ॥

हे देवी ! यह हाल उस समय का है जिस समय तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था और मैं युवराज था। उन्हीं दिनों काम के बेग को उत्तेजित करने वाली वर्षा ऋतु आयी ॥ १४ ॥

४उपास्य हि रसान्^५ भौमांस्तप्त्वा च^६ जगदंशुभिः ।
७परेताचरितां भीमां^७ रविराविशते^८ दिशम् ॥ १५ ॥

१ अनृढा—अकृत विवाह । (गो०) २ भवामि—अभव । (गो०)
३ प्रावृट्—वर्षाकालः । (गो०) ४ उपास्य—गृहीत्वा । (गो०) ५ रसान्—जलानि । (गो०) ६ जगत्—भूमि । (गो०) ७ परेताचरितां—प्रेताचरितां । (गो०) ८ भीमांदिशम्—दक्षिणामित्यर्थः । (गो०) ९ आविशते—आविशतेस्म । (गो०)

सूर्यदेव पृथिवी के जल को सेख, और अपनी किरणों से
भूमि को नम कर, प्रेनगण सेवित भयद्वार दक्षिण दिशा को चले गये
(अर्थात् दक्षिणायन हो गये) ॥ १५ ॥

उष्णमन्तर्दधे सद्यः स्निग्धाः ददृशिरे घनाः ।

ततो जहृषिरे सर्वे भेकसारङ्गवर्हिणः ॥ १६ ॥

गरमो एक दम दूर हो गयो । शीतल बादल दिखलाई देने
लगे । उनको देख, मेढ़क, चातक और मयूर हर्षित हो गये ॥ १६ ॥

क्लिन्पक्षोत्तराः स्नाताः कुच्छादिव पतत्रिणः ।

दृष्टिवातावधूताग्रान्पादपानभिपेदिरे ॥ १७ ॥

बरसाती हवा से हिलते हुए पेड़ों पर, उन पक्षियों ने, जिनके
पर जल से भींग जाने के कारण, स्नान किये हुए जैसे जान
पड़ते थे, बड़े कष्ट से बसेरा लिया ॥ १७ ॥

पंतितेनाम्भसाछन्नः पतमानेन ज्ञासकृत् ।

आबभौ रैमत्तसारङ्गस्तोयराशिरिवाचलः ॥ १८ ॥

बरसे हुए और बरसते हुए जल से आच्छादित मत्त हाथी उस
समय उसी प्रकार जान पड़ते थे, जिस प्रकार स्थिर महासागर में
पर्वत खड़ा हो ॥ १८ ॥

पाण्डुरारुणवर्णानि स्रोतांसि विमलान्यपि ।

सुस्तुवुर्गिरिधातुभ्यः सभस्मानि भुजङ्गवत् ॥ १९ ॥

१ स्निग्धाः—शीतलाः । (गो०) २ मत्तसारङ्गः—मत्तगजः ।

पर्वतों की धातुओं से मिश्रित होने के कारण चिमल जल के सेते भी पीले लाल अथवा राख मिलने से काले रंग के जल से युक हो, सांप की तरह टेढ़ी मेंढ़ी चाल से वह निकले ॥ १९ ॥

तस्मिन्नतिसुखे काले *धनुष्मान्कवची रथी ।

‘व्यायामकृतसङ्कल्पः सरयूमन्वगां नदीम् ॥ २० ॥

उस सुखदायी समय में शिकार खेलने के लिये धनुष बाण ले और रथ में बैठ सरयू नदी के तट पर पहुँचा ॥ २० ॥

निपाने महिषं रात्रौ गजं वाऽभ्यागतं नदीम् ।

अन्यं वा श्वापद^३ कश्चिज्जघांसुरजितेन्द्रियः ॥ २१ ॥

मैं वहाँ गया, जहाँ रान के समय बनभैसा, हाथी, तथा व्याघ्रादि अन्य दुष्ट जन्तु जल पीने आया करते थे । (मैं इस उद्देश्य से वहाँ गया कि, कोई जानवर आवे और उसे मैं मारूँ) क्योंकि उस समय तक मेरी प्रवृत्ति शिकार खेलने की ओर विशेष थी (अथवा मुझे शिकार से निवृत्ति नहीं हुई थी) ॥ २१ ॥

अथान्धकारे त्वश्रौषं जले कुम्भस्य पूर्यतः ।

अचक्षुर्विषये घोषं वारणस्येव नर्दतः ॥ २२ ॥

इसी बीच में अँधेरे में जल भरते हुए घड़े का शब्द सुन, मैंने समझा कि कोई हाथी चिंधार रहा है । मुझे कुछ दिखलाई न पड़ा, मैंने केवल वह शब्द ही सुना ॥ २२ ॥

१ व्यायामकृतसङ्कल्पः—सृग्याविहारेकृतसङ्कल्पः । (गो०) २ श्वापद—व्याघ्रादिदुष्टमृगं । (गो०) * पाठान्तरे—“ धनुष्मानिषुमान् रथी । ”

ततोऽहं शरमुद्धृत्य दीप्तमाशीविषोपमम् ।

शब्दं प्रति गजप्रेप्तुरभिलक्ष्य त्वपातयम् ॥ २३ ॥

(मैंने तरकस से सर्प के विष से बुझा अर्थात् पैना और चमचमाता बाण निकाल, उस हाथी को बेधने को इच्छा से, शब्द को लह्य कर छोड़ा ॥ २३ ॥)

अमुञ्चं निशितं बाणमहमाशीविषोपमम् ।

तत्र वागुषसि व्यक्ता प्रादुरासीद्वनौकसः^१ ॥ २४ ॥

मैंने ज्योंही वह विष का बुझा पैना बाण छोड़ा, ज्योंही किसी वनवासी का शब्द मुझे स्पष्ट सुनाई पड़ा ॥ २४ ॥

हाहेति पततस्तोये बाणाभिहतमर्मणः ।

तस्मिन्निपतिते बाणे वागभूतत्र मानुषी ॥ २५ ॥

वह (तपस्वी जिसके बाण लगा था) हाय हाय कह जल में गिर पड़ा—क्योंकि उस बाण से उस तपस्वी के मर्मस्थल विध गये थे । वह बाण की व्यथा से जब पानी में गिर पड़ा, तब मनुष्य जैसी बोली (इस प्रकार) सुन पड़ी ॥ २५ ॥

कथमस्मद्विधे^२ शस्त्रं निपतेत्तु तपस्त्विनि ।

प्रविविक्तां^३ नर्दीं रात्रावुदाहारोऽहमागतः ॥ २६ ॥

(वह बोला) मेरे जैसे अजातशत्रु तपस्वी के क्यों इस प्रकार बाण लगा । मैं तो रात्रि के समय, निराले में जल भरने आया था ॥ २६ ॥

^१ वनौकसः—तपस्त्विनः । (गो०) २ अस्मद्विधे—अजातशत्रौ । (गो०)

^३ प्रविविक्तां—प्रकर्षण निर्जनां । (गो०) ४ रात्रौ—अपररात्रौ । (गो०)

इषुणाऽपि हतः केन कस्य वा किं कृतं मया ।

ऋषे हि न्यस्तदण्डस्य^१ वने वन्येन जीवतः ॥ २७ ॥

किसने मुझे बाण से मारा, मैंने किसी का क्या बिगाढ़ा था ?
उस ऋषि को जो बाणी और शरीर से किसी जीव को नहीं
सताता और वन में रह कर जो वन में उत्पन्न कन्दमूल फल खा
कर जीन विताता है ॥ २७ ॥

कथं तु शख्वेण वधे मद्विधस्य विधीयते ।

जटाभारधरस्यै वलकलाजिनवाससः ॥ २८ ॥

ऐसे मुझ जैसे (ऋषि) का बाण मार कर वध कर्त्तों किया
जाता है । अरे मैं जटाभार धारण कर, बलकल और मृगचर्म
पहनता ओहता हूँ ॥ २८ ॥

को वधेन ममार्थी स्यात्कि वास्यापकृतं मया ।

एवं निष्फलमारब्धं केवलानर्थसंहितम् ॥ २९ ॥

इस दशा में रहने पर भी मुझे मारने से किसी का क्या अर्थ
साधन हो सकता है, अथवा मैंने किसी का कुछ बिगाढ़ा था (जो
उसने मुझे बाण से मारा) ऐसा निष्फल कर्म तो केवल अनर्थ
ही का मूल है ॥ २९ ॥

न कश्चित्साधु मन्येत यथैव गुरुतल्पगम् ।

नाहं तथातुशोचामि जीवितक्षयमात्मनः ॥ ३० ॥

जैसे गुरु की शश्या पर बैठने वाला साधु नहीं समझा जाता
(जैसे हो उमको भी कोई भना न कहेगा जिनने श्यकाण मेरा

^१ न्यस्तदण्डस्य — उपरतवाङ्मनःकायसम्बन्धिपरहितस्य । (गा०)

बध करना चाहा है ।) मुझे प्रपने प्राण जाने की उतनी चिन्ता अथवा शोक नहीं है ॥ ३० ॥

मातरं पितरं चेपाव तु शोवामि मद्वधे ।

तदेतन्मिथुनं वृद्धं चिरकालभृतं मया ॥ ३१ ॥

जितनी चिन्ता मुझे प्रपने मरने पर माता पिता की है । उन दोनों वृद्धों का अब तक तो मैंने पालन पोषण किया ॥ ३१ ॥

मयि पञ्चत्वमापन्ने कां वृत्तिं वर्तयिष्यति ।

वृद्धौ च मातापितरावहं चैकेषुणा हतः ॥ ३२ ॥

किन्तु मेरे मर जाने पर उनकी क्या दशा होगी, मेरी माता और मेरे पिता तो बूढ़े हैं और मैं इस प्रकार बाण से मारा गया ॥ ३२ ॥

केन स्म निहताः सर्वे सुवालेनाकृतात्मना ।

तां गिरं करुणां श्रुत्वा मम धर्माद्विकाङ्गिणः ॥ ३३ ॥

किसी दुर्बुद्धि मूर्ख ने (एक ही बाण से) हम सब को मार डाला । (हे कौशल्य !) इस प्रकार की कहणा भरो बाणी सुन, मुझ जैसे पुण्येषार्जन की इच्छा रखने वाले अथवा धर्मसोह ॥ ३३ ॥

कराभ्यां सशरं चापं व्यथितस्यापतद्भुवि ।

तस्याहं करुणं श्रुत्वा निशि लालपतो बहु ॥ ३४ ॥

सम्भ्रान्तः शोकवेगेन भृशमासं विचेतनः ।

तं देशमहमागम्य दीनसत्वः सुदुर्मनाः ॥ ३५ ॥

१ अकृतात्मन् — अनिरिक्ततुदेवता । (गो०) २ धर्माद्विकिणः — धर्मप्रतीक्षाशीलस्थ । (शि०)

ऐसा व्यथित हुआ कि मेरे हाथ से धनुष बाण भूमि पर गिर पड़े । उस रात में, मैं उस तपस्वी का विलाप सुन उद्दिश्य हो और अत्यन्त शोकाकुल हो अचेत हो गया । तदनन्तर मैं दुःखी और उदास हो उस जगह गया ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अपश्यमिषुणा तीरे सरथवास्तापसं हतम् ।

अवकीर्णजटाभारं प्रविद्धकलशोदकम् ॥ ३६ ॥

सरथू के तट पर जा कर देखा कि, एक तपस्वी बाण से घायल पड़ा है । उसके सिर की जटा विखरी हुई है और कलसा का जल फैला हुआ है अथवा पानी का कलसा अलग पड़ा है ॥ ३६ ॥

पांसुशोणितदिग्धाङ्गं शयार्न *शरपीडितम् ।

स मामुद्वीक्ष्य नेत्राभ्यां त्रस्तमस्वस्थचेतसम् ॥ ३७ ॥

इत्युवाच वचः क्रूरं दिधक्षन्निव तेजसा ।

किं तवापकृतं राजन्वने निवसता मया ॥ ३८ ॥

सारे शरीर में खून और धूल लगी हुई है, वह बाण की व्यथा से ज़मीन पर पड़ा तड़फड़ा रहा है । उसने मुझे भयभीत और विकल जोन अपने दोनों नेत्रों से मेरी ओर ऐसे देखा मानों अपने नेत्रांगि से मुझे भस्म कर डालेगा । तदनन्तर वह ये कठोर वचन बोला । हे राजन् ! मैंने बन में बसते हुए तुम्हारा कथा बिगाड़ा था ? ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

जिहीर्षुरम्भो गुर्वर्थं यदहं ताडितस्त्वया ।

एकेन खलु बाणेन मर्मण्यभिहते मयि ॥ ३९ ॥

१ प्रवृद्ध—ध्वस्तं । (रा०) २ गुर्वर्थ—मातापितृनिमित्तं । (गो०)

* पाठान्तरे—“शत्यगीडितम्” “शत्यवेधितं वा” † पाठान्तरे—“ततः ।”

जो माता पिता के (पीने के) लिये जल भरने आये हुए मुझको तुमने मरा । एक ही बाण से तुमने मेरा मर्मस्थल धायल कर दिया ॥ ३६ ॥

द्वावन्धौ निहतौ वृद्धौ माता जनयिता च मे ।

तौ कथं दुर्बलावन्धौ मत्प्रतीक्षौ पिपासितौ ॥ ४० ॥

और मेरे माता पिता को भी, जो दुर्बल तथा अन्धे हैं एवं मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए प्यासे बैठे होंगे, मार डाला ॥ ४० ॥

चिरमाशाकुतां तृष्णां *कथं सन्धारयिष्यतः ।

न नूरं तपसो वाऽस्ति फलयोगः श्रुतस्य^१ वा ॥ ४१ ॥

वे मेरे आने की बाट देखते हुए प्यास के कष को कैसे सह सकेंगे ! हा ! इससे तो तप का व इतिहास पुराणादि के श्रवण का कुछ भी सम्बन्ध न ठहरा ॥ ४१ ॥

पिता यन्मां न जानाति शयानं पतितं भुवि ।

जानन्नपि च किं कुर्यादशक्तिरपरिक्रमः ॥ ४२ ॥

जो पिता जी यह नहीं जानते कि मैं इस दशा में यहाँ ज़मीन पर पड़ा हूँ और यदि जान भी जाय तो कर ही क्या सकते हैं, क्योंकि उनमें (अन्धे होने से) चलने की शक्ति नहीं है अर्थात् वे पङ्कु हैं ॥ ४२ ॥

भिद्यमानमिवाशक्तस्तुमन्यो नगो नगम् ।

पितुस्त्वमेव मे गत्वा शीघ्रमाचक्ष्व राघव ॥ ४३ ॥

^१ श्रुतस्य—मच्छ्रवणविषयीभूतेतिहासपुराणादेवीकलयोगः । (शि०)

* पाठान्तरे—“ कष्टा । ”

जैसे कठते हुए वृत्त की रक्षा दूसरा वृत्त नहीं कर सकता (क्योंकि उसमें चलने की शक्ति नहीं) उसी प्रकार मेरे माता पिता भी अंत्रे और पङ्ग होने के कारण मेरी रक्षा करने में असमर्थ हैं—अतः हे राजन् ! मेरे पिता के पास जा कर तुरन्त यह समाचार उनसे कहा ॥ ४३ ॥

न त्वामुदहेत्कुद्धो वनं वद्विरिवैधितः ।

इयमेकपदी^१ राजन्यतो मे पितुराश्रमः ॥ ४४ ॥

नहीं तो वे क्रोध में भर तुम्हें बैसे ही (शाप द्वारा) भस्म कर डालेंगे, जिस प्रकार आग वन को भस्म कर डालती है। हे राजन् ! यह पगड़ंडी, जो देख पड़ती है, वही मेरे पिता के आश्रम तक चलो गयी है ॥ ४४ ॥

तं प्रसादय गत्वा त्वं न त्वां स कुपितः शपेत् ।

विशल्यं कुरु मां राजन्मर्म मे निशितः शरः ॥ ४५ ॥

सा तुम वहाँ जा कर उनको प्रसन्न करो नहीं तो कुपित हो वे तुमको शाप दे देंगे। हे राजन् ! तुम इस बाण को जो मेरे मर्मस्थल में घुमा हुआ है, निकाल दो ॥ ४५ ॥

रुणद्धि मृदु सोत्सेधं तीरम्भुरयो^२ यथा ।

सशल्यः क्लिश्यते प्राणौर्विशल्यो विनशिष्यति ॥ ४६ ॥

इति मामविशच्चिन्ता तस्य शल्यापकर्षणे ।

दुःखितस्य च दीनस्य मम शोकातुरस्य^३ च ॥ ४७ ॥

१ एकपदी—एषपदन्यासमात्रयुक्ता । सरणिरित्यर्थः । (गो०) २ अभ्युरयः—नदीवेगः । (गो०) ३ शोकातुरस्य—ब्रह्मत्याभविष्यतीतिभियाशोकेन पीडितस्य । (गो०)

क्योंकि यह वाण मेरे कोमल पर्मश्चन को उसी प्रकार काट रहा है, जिन प्रकार ऊँचे और वालु हानय करारे को नदी की धार का वेग काटता है। हे देवी! उस समय इस वात की विन्ता उत्पन्न हुई कि, जब तक यह वाण गड़ा है तब तक उसे पीड़ा तो है, किन्तु जीता भी तभी तक है। क्योंकि वाण निकालते ही यह मर जायगा। अतः वाण निकालने में मेरे मन में खटका पैदा हो गया। उसने मुझे दोन दुःखों और शोकातुर देखा ॥ ४६ ॥ ४७ ॥

लक्षयामास हृदये चिन्तां मुनिसुतस्तदा ।

ताम्यमानः स मां कृच्छ्रादुवाच परमार्तवत् ॥ ४८ ॥

तब उस मुनिपुत्र ने मेरे मन को चिन्ता को लख लिया और मुझे सन्तप्त देख, अत्यन्त दुःखों का बड़े कष्ट से कहा ॥ ४८ ॥

सीदमानो विवृत्ताङ्गो^१ वेष्टमानो गतः क्षयम् ।

संस्तम्य शोकं धैर्यं ग स्थिरचितो भवाम्यहम् ॥ ४९ ॥

यद्यपि मैं इस समय बहुत कष्ट में हूँ, मुझे साफ साफ कुछ दिखलाई भी नहीं पड़ रहा, पीड़ा से छटाटा रहा हूँ, और मरा ही चाहता हूँ, तथापि बोरज वर के शोक के वेग को दोक मैं स्थिर चित्त होता हूँ ॥ ४९ ॥

ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ।

न द्विजातिरहं राजन्मा भूते मनसो व्यथा ॥ ५० ॥

हे राजन्! आप ब्रह्महत्या के पाप के भय को अपने मन से निकाल अपने मन को व्यथा दूर कीजिये। क्योंकि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ ॥ ५० ॥

^१ विवृत्ताङ्ग.—परावृत्तनेत्रः । (५०)

शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो जनपदाधिप ।

*इत्येवं वदतः कुच्छुद्वाणाभिहतमर्मणः ।

विघूर्णतो विचेष्टस्य वेष्मानस्य भूतले ॥ ५१ ॥

हे भूपाल ! मैं शूद्रा माता के गर्भ से एक वैश्य द्वारा उत्पन्न हुआ हूँ । यह कहते कहते बाण से धायल मर्मस्थल की पीड़ा से उसकी दोनों आँखें उलट गयीं, उसकी चेष्टा विगड़ गयी और वह ज़मीन पर तड़कड़ाने लगा ॥ ५१ ॥

तस्य त्वानम्यमानस्य तं वाणमहमुद्धरम् ।

स मामुद्दीक्ष्य सन्त्रस्तो जहौ प्राणांस्तपोधनः ॥ ५२ ॥

उसकी यह दशा देख, मैंने बाण खींच लिया । बाण खींचते ही उस मुनिपुत्र ने अत्यन्त भयभीत हो मेरी ओर देखा और प्राण छोड़ दिये ॥ ५२ ॥

जलाद्रिगात्रं तु विलप्य कृच्छ्रात्

मर्मव्रणं सन्ततमुच्छ्वसन्तत् ।

ततः सरयवां तमहं शयानं

समीक्ष्य भद्रेऽस्मि भृशं विषण्णः ॥ ५३ ॥

इति त्रिषष्ठितमः सर्गः ॥

हे कौशल्ये ! उस तपोधन को, (जो कुछ ही दृश्यों पूर्व) मर्मस्थल में बाण का धाव लगने से अत्यन्त कष्टित हो विलाप कर रहा था और जिसका शरीर (कटपटाने से) जल से तर हो गया था—उस समय सरयू के तट पर, प्राणरहित पड़ा देख, मुझे बड़ा ही विषाद हुआ ॥ ५३ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिरसठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-:—

* पाठान्तरे—“ इतीव । ”

चतुःषष्ठितमः सर्गः

— : * : —

वधमप्रतिरूपं तु महर्षेस्तस्य राघवः ।

‘विलपन्नेव धर्मात्मा कौशल्यां पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

मुनिपुत्र के अनुचित वध को वर्णन कर और बीच बीच में अपने पुत्र का स्मरण कर के विलाप करते हुए, धर्मात्मा महाराज दशरथ, कौशल्या से फिर बोले ॥ २ ॥

तदज्ञानान्महत्पापं कृत्वाहं सङ्कुलेन्द्रियः ।

एकस्त्वचिन्तयं बुद्ध्या कर्थं नु सुकृतं भवेत् ॥ २ ॥

हे कौशल्या ! उस समय, अनज्ञाने उस महापाप को कर, विकल हो, मैं अकेला सोचने लगा कि, अब मेरा कल्याण किस तरह हो ॥ २ ॥

ततस्तं घटमादाय पूर्णं परमवारिणा ।

आश्रमं तमहं प्राप्य यथाख्यातपथं गतः ॥ ३ ॥

अन्त में यह निश्चय कर कि, अब मेरा कल्याण इसीमें है कि, मैं मुनि-कुमार के कथनानुसार उसके पिता को जा कर प्रसन्न करूँ । अतः मैं उस मुनिपुत्र के कल्से में जल भर उसे लेकर, उसके बतलाये रास्ते से मुनि के आश्रम में गया ॥ ३ ॥

तत्राहं दुर्बलावन्धौ बृद्धावपरिणायकौ ।

अपश्यं तस्य पितरौ लूनपक्षाविव द्विजौ ॥ ४ ॥

बहाँ जा कर देवा कि, पंख रहित पक्षियों की तरह उसके माता
पिता जो वृद्ध, दुर्वल और दीन थे, बैठे हुए थे ॥ ४ ॥

तन्निमित्ताभिरासीनौ कथाभिरपरिक्रमौ ।

तामाशां मत्कृते हीनाबुदासीनावनाथवद् ॥ ५ ॥

वे जल की प्रतीक्षा में बैठे पुत्र ही की चर्चा कर रहे थे । उनकी
आगा पर मैंने पानों फेर दिया था । वे अनाथ की तरह निश्चेष्ट
बैठे हुए थे ॥ ५ ॥

शोकोपहतचित्तश्च भयसन्त्रस्तचेतनः ।

तच्चाश्रमपदं गत्वा भूयः शोकमहं गतः ॥ ६ ॥

उम समय मैं शोक से विकल और भय से ग्रस्त तो था ही,
उस आश्रम में पहुँचने पर, (उन दोनों की दशा देख कर) मुझे
और भी अधिक दुःख हुआ ॥ ६ ॥

पदशब्दं तु मे श्रुत्वा मुनिर्वाक्यमभाषत ।

किं चिरायसि मे पुत्र पानीयं क्षिप्रमानय ॥ ७ ॥

मेरे पांवों की आहट पा, उस मुनि ने कहा—हे चत्स ! क्यों
देर कर रहे हो, शीघ्र जल लाओ ॥ ७ ॥

किन्निमित्तमिदं तात सलिले क्रीडितं त्वया ।

उत्कण्ठिता ते मातेयं प्रविश क्षिप्रमाश्रमम् ॥ ८ ॥

तुम इतनी देर तक क्यों जल में खेलते रहे । आश्रम में तुरन्त
जाओ, तुम्हारी माता वडी उत्कण्ठित हो रही है ॥ ८ ॥

यद्यलीकं कृतं पुत्र मात्रा ते यदि वा मया ।

न तन्मनसि कर्तव्यं त्वया तात तपस्यिना ॥ ९ ॥

बेटा ! यदि मुझसे या तेरी माता से कोई अप्रिय कार्य बन पड़ा हो तो हे तपस्वी ! उस पर तू ध्यान मत देना ॥ ६ ॥

*गतिस्त्वगतीनां च चक्षुस्त्वं हीनचक्षुषाम् ।

समासकास्त्वयि प्राणाः किं त्वं नो नाभिभाषसे ॥ १० ॥

तुम्हीं हम दोनों असमर्थों के पक्षमात्र अवलंब हो और हम अधीं की तुम्हीं आखिं हो और तुम्हारे ही अधीन हमारे दोनों के प्राण हैं । तुम जवाब क्यों नहीं देते ॥ १० ॥

मुनिमव्यक्तया वाचा तमहं सज्जमानया^१ ।

^२हीनव्यञ्जनया प्रेक्ष्य भीतोऽभीत^३ इवाब्रवम् ॥ ११ ॥

मैंने उस मुनि को देख, अत्यन्त डरे हुए मनुष्य की तरह, लड़खड़ाती ज़धान से अतः अस्पष्ट अक्षरों में, उससे कहा ॥ ११ ॥

मनसः कर्म चेष्टाभिरभिसंस्तम्य^४ वाग्वलम् ।

आचचक्षे त्वहं तस्मै पुत्रव्यसनजं भयम् ॥ १२ ॥

बोलने के समय मैंने मन से और क्रियात्मक प्रयत्नों से जिहा को अपने वश में किया और धीरे से उसके पुत्र का कष्टमय वृत्तान्त उससे कहा ॥ १२ ॥

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः ।

सज्जना^५वमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम् ॥ १३ ॥

१ सज्जमानया—सखलन्त्या । (गो०) २ होनव्यञ्जनया—अस्पष्टाक्षरया । (गो०) ३ भीतोभीतः—अत्यन्तभीतः । (गो०) ४ अभिसंस्तम्य—सख-
लितां वाचांवलाद्वीकृत्येति । (गो०) ५ सज्जनावमतं—सत्पुरुषगहितं ।
(गो०) # पाठान्तरे—“त्वं गतिस्त्वगतीनां”

हे महात्मन् ! मैं दशरथ नाम का ज्ञात्रिय हूँ । आपका पुत्र नहीं हूँ । मुझसे एक निष्ठा कर्म बन पड़ा है, जिसका मुझे बड़ा ही दुःख है ॥ १३ ॥

भगवंशापहस्तोऽहं सरयूतीरमागतः ।

जिधांसुः श्वापदं कश्चिन्निपाने चागतं गजम् ॥ १४ ॥

हे भगवन् ! मैं हाथ में धनुष ले सरयू नदी के तट पर इसलिये आया कि, यदि कोई हाथी या शेर बाघ आदि बनजन्तु पानी पीने आवे तो उसका शिकार खेलूँ ॥ १४ ॥

तत्र श्रुतो मया शब्दो जले कुम्भस्य पूर्यतः ।

द्विपोऽयमिति मत्वाय बाणेनाभिहतो मया ॥ १५ ॥

इसी बीच में मैंने घड़े में जल भरने का शब्द सुना और यह समझा कि, हाथी बोल रहा है, अतः मैंने बाण मारा ॥ १५ ॥

गत्वा नद्यास्ततस्तीरमपश्यमिषुणा हृदि ।

विनिर्भिन्नं गतप्राणं शयानं भुवि तापसम् ॥ १६ ॥

किन्तु जब मैं सरयू के तट पर पहुँचा तब मैंने देखा कि, छाती में बाण लगने के कारण एक तपस्वी मृतप्राय अवस्था में भूमि पर पड़ा है ॥ १६ ॥

भगवञ्चशब्दमालक्ष्य मया गजजिधांसुना ।

विसृष्टोऽभसि *नाराचस्तेन तेऽभिहतः सुतः ॥ १७ ॥

हे भगवन् ! हाथी की शिकार के धोखे में, शब्दवेधी बाण चला कर मैंने जल भरने के लिये गये हुए आपके पुत्र को मार डाला है ॥ १७ ॥

* पाठान्तरे—“नाराचस्ततस्ते निहतः सुतः” ।

ततस्तस्यैव वचनादुपेत्य परितप्यतः ।

स मया सहसा बाण उद्धूतोऽ मर्मणस्तदा ॥ १८ ॥

तदनन्तर मैंने उसीके कहने से, अत्यन्त कष्टदायी बाण सहसा उसकी द्राती से खींचा ॥ १९ ॥

स चोद्धूतेन बाणेन तत्रैव स्वर्गमास्थितः ।

भवन्तौ पितरौ शोचन्नन्धाविति विलप्य च ॥ २० ॥

बाण के खींचते ही वह वहीं स्वर्गवासी हो गया । (मरने के पूर्व) उसने आप दोनों अँधे माता पिता के लिये विलाप और आप ही के लिये शोक किया ॥ २१ ॥

अज्ञानाद्वयतः पुत्रः सहसाऽभिहतो मया ।

शेषमेवं गते यत्स्यात्तप्रसीदतुं मे मुनिः ॥ २० ॥

अनज्ञान में अचानक आपके पुत्र को मैंने मारा है । जो होना था वह तो हो गया । आप मुनि हैं ; अब आप जैसा उचित समझें वैसा करें (अर्थात् शापानुग्रह जो कुछ उचित समझें से मेरे प्रति करें) ॥ २० ॥

स तच्छ्रुत्वा वचः क्रूरं मयोक्तमघशंसिना ।

नाशकत्तीव्रमायासमकर्तुं भगवान्मुनिः ॥ २१ ॥

मेरे किये हुए पापकर्म का दारण वृत्तान्त मेरे ही मुख से सुन कर, वे महात्मा मुनि (जो सब प्रकार का शाप दे सकते थे, किन्तु) मुझे तीव्र शाप न दे सके ॥ २१ ॥

* पाठान्तरे—“मर्मतस्तदा ।” † पाठान्तरे—“भगवान्नृषि” ।

प्रसीदतु—शापोवाऽनुग्रहोवामः कर्तव्यस्तंकरोत्वित्यर्थः । (गो०)

स वाष्पपूर्णनयनो* निःश्वसञ्चोककर्तिः ।

मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ २२ ॥

किन्तु लेखों में आसू भर और शोक से व्याकुल हो ठंडी ठंडी ससि लेते हुए उन महातेजस्वी मुनि ने हाथ जोड़े खड़े हुए मुझसे कहा ॥ २२ ॥

यदेतदशुभं कर्म न त्वं मे कथयेः स्वयम् ।

फलेन्मूर्धा स्म ते राजनसद्यः शतसहस्रधा ॥ २३ ॥

हे राजन् ! अगर तू अपने इस कर्म को स्वयं ही मुक्षसे न कहता, तो मेरे शाप से तेरे सिर के अभी हजारों टुकड़े हो जाते ॥ २३ ॥

क्षत्रियेण वधो राजन्वानप्रस्थे विशेषतः ।

ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम् ॥ २४ ॥

हे राजन् ! जो क्षत्रिय जान बूझ कर किसी वानप्रस्थ का वध करे तो वह भले ही इन्द्र ही क्यों न हो, उसे अवश्य स्थानच्युत होना पड़ता है ॥ २४ ॥

सप्तधा तु फलेन्मूर्धा मुनौ तपसि तिष्ठति ।

ज्ञानाद्विसृजतः शस्त्रं तादृशे ब्रह्मवादिनि ॥ २५ ॥

जो कोई मेरे पुत्र जैसे तपस्वी एवं ब्रह्मवादी मुनि पर जान बूझ कर शस्त्र का प्रयोग करता है, तो उसके सिर के सात टुकड़े हो जाते हैं ॥ २५ ॥

अज्ञानाद्वि कृतं यस्मादिदं तेनैव जीवसि ।

अपि ह्य द्वि कुलं न स्यादिक्ष्वाकूणां कुतो भवान् ॥२६॥

* पाठान्तरे—“वाष्पपूर्णवदनो” । । फलेत्—विशीर्येत् । (गो०)

तूने अनजाने यह निन्द्य कर्म किया है, इसीसे तू अब तक जोवित (भो) है। नहीं तो अभी (समस्त) रघुकुल ही का नाश हो जाता, तेरी तो हस्ती ही क्या है ॥ २६ ॥

नय नौ वृप तं देशमिति मां चाभ्यभाषत ।

अद्य तं द्रष्टुमिच्छावः पुत्रं पश्चिमदर्शनम् ॥ २७ ॥

हे कौशलये ! मुनि ने मुझसे कहा, हे राजन् ! अब तू मुझे उस स्थान पर ले चल, जहाँ वह पड़ा है। क्योंकि अपने पुत्र की अन्तिम दशा देखने की मेरी इच्छा है ॥ २७ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गं प्रकीर्णाजिनवाससम् ।

शयानं भुवि निःसंज्ञं धर्मराजवशं गतम् ॥ २८ ॥

हा ! वह काल के बश और अचेत हो भूमि पर पड़ा होगा। उसका सारा शरीर रक्त से सना होगा, मृगचर्म जो वह ओढ़े था वह अलग पड़ा होगा ॥ २८ ॥

अथाहमेकस्तं देशं नीत्वा तौ भृशदुःखितौ ।

अस्पर्शयमहं पुत्रं तं मुनिं सह भार्यया ॥ २९ ॥

हे कौशलये ! मैं अकेला उन अत्यन्त दुःखित मुनि और उनकी स्त्री को उस जगह ले गया। (अंधे होने के कारण वे देख तो न सके, किन्तु) हाथ से उन्होंने मृतपुत्र का शरीर ढोला ॥ २९ ॥

तौ पुत्रमात्मानः स्पृष्टा तमासाद्य तपस्तिनौ ।

निषेततुः शरीरेऽस्य पिता चास्येदमब्रवीत् ॥ ३० ॥

वे दोनों जन पुत्र के पास जा और हाथ से उसका शरीर टटोल, दोनों के दोनों पुत्र के मृतशरीर से लिपट गये। उसका पिता कहने लगा ॥ ३० ॥

नाभिवाद्यसे माऽद्य न च मामभिभाषसे ।

किन्तु शेषेऽद्य भूमौ त्वं वत्स किं कुपितो ह्यसि ॥ ३१ ॥

हे वत्स ! तूने आज न तो मुझे प्रणाम किया और न मुझसे कुछ बातचीत की। तू ज़मीन पर क्यों पड़ा है ? क्या तू मुझसे रुठ गया है ? ॥ ३१ ॥

न त्वहं ते प्रियः पुत्र मातरं पश्य धार्मिक ।

किन्तु नालिङ्गसे पुत्र सुकुमार वचो वद ॥ ३२ ॥

यदि तू मुझसे रुठा है तो हे वत्स ! तू अपनी धार्मिक माता की ओर तंता देख। तू क्यों मुझसे आ कर नहीं लिपटता और क्यों कोमल वचन नहीं बोलता ॥ ३२ ॥

कस्य वाऽपररात्रेऽहं श्रोष्यामि हृदयङ्गमम्^१ ।

अधीयानस्य मधुरं शास्त्रं वाऽन्य^२द्विशेषतः ॥ ३३ ॥

अब मैं पिछली रात में धर्मशास्त्र और पुराणादि पढ़ते समय किसका मनोहर एवं मधुर स्वर सुनूँगा ॥ ३३ ॥

को मां सन्ध्यामुपास्यैव स्नात्वा हुतहुताशनः ।

श्लाघयिष्यत्युपासीनः पुत्रशोकभयादितम् ॥ ३४ ॥

१ हृदयङ्गम्—मधुरस्वरं । (गो०) २ अन्याद्वापुराणं—वैश्याच्छ्रद्धांजात-
त्वेन सहृदत्वाद्वेदप्रसङ्गोनोक्तः । (रा०) ३ इलाघयिष्यति—उपचरिष्यति । (गो०)

हे बेटा ! अब शोक और भय से कातर हुए प्रातःकाल स्नान कर, सन्ध्योपासन एवं होम कर मेरे निकट आ कौन सेवा करेगा ॥ ३४ ॥

[नोट—मुनिपुत्र तो वर्णसङ्घर था अतः उसे सन्ध्योपासन एवं होम का शास्त्ररीत्या अधिकार प्राप्त नहीं था ; तब सन्ध्योपासन और होम करने की बात यहाँ इयों लिखी गयी ; इस शङ्ख का समाधान शास्त्रानुसार इस प्रकार किया गया है ।]

“ नमस्कारेणमंत्रेणपञ्चयज्ञान् समाप्येत् ”

इस वचनानुसार पञ्चयज्ञों के (इस प्रकार) करने का अधिकार चतुर्थ वर्ण को भी प्राप्त है ।]

‘कन्दमूलैफलं हृत्वा को मां प्रियमिवातिथिम् ।
भोजयिष्यत्यकर्मण्यमैप्रग्रहमनायकम्’ ॥ ३५ ॥

मुझ जैसे असमर्थ, असंग्रही (वन्य चाँचल आदि जिसके पास एकत्र नहीं) और अनाथ को अब कौन वन से कन्दमूल फल ला कर प्यारे अतिथि की तरह भोजन करावेगा ॥ ३५ ॥

इमामन्धां च वृद्धां च मातरं ते तपस्विनीम् ।
कथं वत्स भरिष्यामि कृपणां पुत्रगर्धिनीम् ॥ ३६ ॥

हे वत्स ! इस अंधी, तपस्विनो एवं दुःखिनो एवं पुत्रवत्सज । तेरी बूढ़ी माता का भरण पोषण अब मैं कैसे करूँगा ॥ ३६ ॥

१ कन्दं—जलोद्भवानपद्मादीनां । (गो०) २ मूलं—स्थलोद्भवानाम् । (गो०) ३ अप्रग्रहम्—नीतारादि संप्रदाहतम् । (गो०) ४ अनायकम्—अनाथम् । (गो०)

तिष्ठ मामागमः पुत्र यमस्य सदनं प्रति ।

श्वो मया सह गन्तासि जनन्या च समेधितः ॥३७॥

हे पुत्र ! ठहर जा और आज यमालय को मत ज्ञा । कल मेरे और अपनी माता के साथ चलना ॥ ३७ ॥

उभावपि च शोकार्तविनाथौ कृपणौ वने ।

क्षिप्रमेव गमिष्यावस्त्वया सह यमक्षयम् ॥ ३८ ॥

तुझे छोड़ कर, शोकपीड़ित, अनाथ और असहाय हम दोनों इस वन में नहीं रह सकेंगे, अतः तेरे साथ ही हम भी शीघ्र यमालय को चलेंगे ॥ ३८ ॥

ततो वैवस्वतं दृष्टा तं प्रवक्ष्यामि भारतीम् ।

क्षमतां धर्मराजो मे विभूयात्पितरावयम् ॥ ३९ ॥

और चल कर यमराज से मिल उनसे कहेंगे कि, पुत्र-वियोग-कारी पूर्वजन्म में किये हुए हमारे अपराध को आप क्षमा करें, और यह बालक हमारा (दोनों का) पालन करे ॥ ३९ ॥

दातुर्महति धर्मात्मा लोकपालो महायशाः ।

ईदृशस्य ममाक्षय्यामेकामभयदक्षिणाम् ॥ ४० ॥

ऐसी अक्षम्य और अभय-प्रदायिनी दक्षिणा हम जैसों को दीजिये । क्योंकि आप धर्मात्मा एवं महायशस्वी लोकपाल हैं ॥ ४० ॥

अपापेऽसि यदा पुत्र निहतः पापकर्मणा ।

तेन सत्येन गच्छाशु ये लोकाः शख्योधिनाम् ॥४१॥

हे पुत्र ! तू निर्देष होने पर भी इस पापी द्वारा मारा गया है । अतः तू अपने सत्य बल से, उस लोक में जा, जहाँ योद्धा लोग जाते हैं ॥ ४१ ॥

यान्ति शूरा गतिं यां च संग्रामेष्वनिवर्तिनः ।

हताःस्त्वभिमुखाः पुत्र गति तां परमां व्रज ॥ ४२ ॥

हे वत्स ! युद्ध में पीठ न दिखाने वाले वीर लोग, शशु द्वारा मारे जाने पर, जिस गति को प्राप्त होते हैं, तू भी उसी परम गति को प्राप्त हो ॥ ४२ ॥

यां गतिं सगरः शैव्यो दिलीपो जनमेजयः ।

नहुषो धुन्धमारश्च प्रापास्तां गच्छ पुत्रक ॥ ४३ ॥

हे बेटा ! महाराज सगर, शैव्य, दिलीप, जनमेजय, नहुष और धुन्धमार जिस गति को प्राप्त हुए हैं, उसी गति को तू भी प्राप्त हो ॥ ४३ ॥

या गतिः सर्वसाधूनां स्वाध्यायात्तपसा च या ।

भूमिदस्याहिताग्नेरेकपलीत्रतस्य च ॥ ४४ ॥

जो गति स्वाध्याय और तप में निरत सब महात्मा पुरुषों को प्राप्त होती है वही गति तुझे भी प्राप्त हो । जो गति भूमिदान करने वाले अग्निहोत्री और एक-पह्लो-बत-धारी को प्राप्त होती है, वही तुझे भी प्राप्त हो ॥ ४४ ॥

गोसहस्रप्रदातृणां या या गुरुभृतामपि ।

देहन्यासकृतां॑ या च तां गतिं गच्छ पुत्रक ॥ ४५ ॥

हे वत्स ! जो गति सहस्र गौ दान करने वाले को, गुरुशुश्रूषा करने वाले को तथा महाप्रस्थान का सङ्कल्प कर (प्रयाग में या अय्मि में) शरीर त्याग करने वाले को प्राप्त होती है, वह तुझे भी प्राप्त हो ॥ ४५ ॥

न हि त्वस्मत्कुले जातो गच्छत्यकुशलां गतिम् ।

स तु यास्यति येन त्वं निहतो मम वान्धवः॒ ॥ ४६ ॥

क्योंकि हमारे तपस्विकुल में उत्पन्न हो कर्ह भी नीच गति को प्राप्त नहीं हुआ । नीच गति को तो वह प्राप्त होगा जिसने मेरे पुत्र तुझे को मारा है ॥ ४६ ॥

एवं स कृपणं तत्र पर्यदेवयतासकृत् ।

ततोऽस्मै कर्तुमुदकं प्रवृत्तः सह भार्यया ॥ ४७ ॥

इस प्रकार वह तपस्वी बार बार करुणापूर्ण विलाप कर, खी सहित अपने मृतपुत्र को जलाञ्जलि देने में प्रवृत्त हुआ ॥ ४७ ॥

स तु दिव्येन रूपेण मुनिपुत्रः स्वकर्मभिः ।

स्वर्गमध्यारुहत्क्षिप्रं शक्रेण सह धर्मवित् ॥ ४८ ॥

तब तो वह धर्मात्मा मुनिकुमार अपने पुण्यकर्मों के बल, दिव्य रूप धारण कर, इन्द्र के साथ तुरन्त स्वर्ग को चला गया ॥ ४८ ॥

१ गुरुभृतां—गुरुशुश्रूषाकारिणां । (गो०) २ देहन्यासकृतां—महाप्रस्थानादिनापरलोकार्थंतनुत्यजः । (रा०) परलोकप्राप्तिसङ्कल्पपूर्वकं गङ्गायमुना संगमादौजलेननौ वातनुत्यज्यता मित्यर्थः । (गो०) ३ ममवान्धवः—ममपुत्रः । (गो०)

[नेट—स्वर्ग को, इन्द्र के साथ जाने से, जान पड़ता है कि स्वयं इन्द्र उसे स्वर्ग में ले जाने को आये थे ।]

आवभाषे च तौ वृद्धौ शक्रेण सह तापसः ।

आश्वास्य च मुहूर्तं तु पितरौ वाक्यमब्रवीत् ॥ ४९ ॥

मुनिकुमार स्वर्ग जाते समय, इन्द्र के सहित, उन दोनों वृद्धों को एक मुहूर्त तक समझा दुझा, पिता से बोला ॥ ५० ॥

स्थानमस्मि महत्प्राप्तो भवतोः परिचारणात् ।

भवन्तावपि च क्षिप्रं मम मूलमुपैष्यतः ॥ ५० ॥

मैंने जो आपकी सेवा की थी उसी पुण्य के बल मुझे यह उत्तम स्थान मिला । आप दोनों भी अति शीघ्र मेरे पास आवेंगे ॥ ५० ॥

एवमुक्त्वा तु दिव्येन विमानेन वपुष्मता ।

आरुरोह दिवं क्षिप्रं मुनिपुत्रो जितेन्द्रियः ॥ ५१ ॥

यह कह, वह जितेन्द्रिय मुनिपुत्र अति दिव्य विमान में बैठ, तुरन्त स्वर्ग का चला गया ॥ ५१ ॥

स कृत्वाथेदकं* तूर्णं तापसः सह भार्यया ।

मामुवाच महातेजाः कृताञ्जलिमुपस्थितम् ॥ ५२ ॥

महाराज दशरथ कहने लगे, हे देवी ! उस महातेजस्वी तपस्वी ने भार्या सहित झटपट पुत्र को जलाञ्जलि दं, मुझसे, जो वहाँ हाथ जोड़े हुए खड़ा था, कहा ॥ ५२ ॥

अद्यैव जहि मां राजन्मरणे नास्ति मे व्यथा ।

यच्छरेणैकपुत्रं मां त्वमकार्षीरपुत्रकम् ॥ ५३ ॥

* पाठान्तरे—“ कृत्वातूदकं ” ।

हे राजन् ! तुम अब मुझे भी मार डालो । मुझे मरने में कुछ भी कष्ट न होगा । क्योंकि मेरे यही इकलौता पुत्र था सो इसे तुमने एक ही बाण से मार मुझे विना पुत्र का कर दिया ॥ ५३ ॥

त्वया तु यदविज्ञानान्निहतो मे सुतः शुचिः ।

तेन त्वामभिशप्त्यामि सुदुःखमतिदारुणम् ॥ ५४ ॥

हे राजन् ! तुमने यद्यपि अनज्ञान में मेरे धर्मात्मा पुत्र का वध किया है, तथापि मैं इसके लिये तुम्हें यह अति दुस्सह दारुण शाप देता हूँ ॥ ५४ ॥

पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम् ।

एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं *गमिष्यसि ॥ ५५ ॥

हे राजन् ! मुझको इस समय जैसा यह पुत्रशोक हुआ है, ऐसे ही पुत्रशोक से तुम्हारी भी मृत्यु होगी ॥ ५५ ॥

अज्ञानात्तु हतो यस्मात्क्षत्रियेण त्वया मुनिः ।

तस्मात्त्वां नाविशत्यागु ब्रह्महत्या नराधिप ॥ ५६ ॥

तुम क्षत्रिय हो और अनज्ञान में तुमने मुनि की हत्या कर दाली है । इसीसे हे नरेन्द्र ! तुमको ब्रह्महत्या नहीं लगी ॥ ५६ ॥

त्वामप्येताहशो भावः क्षिप्रमेव गमिष्यति ।

जीवितान्तकरो घोरो दातारमिव दक्षिणा ॥ ५७ ॥

किन्तु जिस प्रकार दाता को दान का फल अवश्य मिलता है, उसी प्रकार तुमको भी घोर दुःख प्राप्त होगा और उसी दुःख से तुम्हें प्राण भी त्यागने पड़ेंगे ॥ ५७ ॥

* पाठान्तरे—‘करिष्यसि’ ।

एवं शापं मयि न्यस्य विलप्य करुणं बहु ।

चितामारोप्य देहं तन्मिथुनं स्वर्गमभ्ययात् ॥ ५८ ॥

(दशरथ जी कौशल्या से कहने लगे) हे देवि ! इस प्रकार मुझे शाप दे और बहुत सा विलाप कर, चिता बना और उस पर बैठ (भस्म हो) वे दोनों स्वर्ग को चले गये ॥ ५८ ॥

तदेतच्चिन्तयानेन स्मृतं पापं मया स्वयम् ।

तदा बाल्यात्कृतं देवि शब्दवेध्यनुकर्षिणा ॥ ५९ ॥

हे देवि ! इस चिन्ता में पड़ कर, आज मुझे अपना वह पापकर्म स्मरण हो आया, जो मैंने मूर्खतावश, शब्दवेधी बाण चला कर किया था ॥ ५९ ॥

तस्यायं कर्मणो देवि विपाकः समुपस्थितः ।

अपथ्यैः* सह सम्भुक्ते व्याधिमन्त्रसे यथा ॥ ६० ॥

हे देवि ! जिस प्रकार खाये हुए अपथ्य अन्न के रस से रोग उत्पन्न होता है, उसी प्रकार उस पापकर्म का फल स्वरूप यह कर्मविपाक आ कर उपस्थित हुआ है ॥ ६० ॥

तस्मान्मामागतं भद्रे तस्योदारस्य तद्वचः ।

इत्युक्त्वा स रुदंखस्तो भार्यामाह च भूमिपः ॥ ६१ ॥

हे भद्रे ! उस उदार तपस्वी के दिये हुए शाप के पूरे होने का समय आ गया है । यह कह, रुदन कर और (मरण) भय से अस्त हो, महाराज दशरथ कौशल्या से कहने लगे ॥ ६१ ॥

यदहं पुत्रशोकेन सन्त्यक्ष्याम्यद्य जीवितम् ।

चक्षुभ्यां त्वां न पश्यामि कौसल्ये साधु मां स्पृश ॥ ६२ ॥

* पाठान्तरे—“ सम्भुक्तो । ”

हे कौशलये ! पुत्रशीक के कारण मेरे प्राण अब निकलना चाहते हैं, इसीसे तू अब मुझे नहीं देख पड़तो । अतः तू मेरे शरीर को छू ॥ ६२ ॥

यमक्षयमनुप्राप्तं *द्रक्ष्यन्ति न हि मानवाः ।

यदि मां संसपृशेद्रामः सकृदद्य लभेत वा ॥ ६३ ॥

[धनं वा यौवराज्यं वा जीवेयमिति मे मतिः ।

न तन्मे सदृशं देवि यन्मया राघवे कृतम् ॥ ६४ ॥

क्योंकि यमधाम को जाने वाले लोगों को आँखों से नहीं देख पड़ता । यदि श्रीरामचन्द्र इस घड़ी एक बार भी मुझे छू लें अथवा यौवराज्यपद तथा धन सम्पत्ति ग्रहण करना स्वीकार कर लें, तो बोध होता है कि, कदाचित् मैं जीता बन जाऊँ । हे कल्याणी ! मैंने श्रीरामचन्द्र के साथ जैसा व्यवहार किया है, वैसा करना मेरे लिये उचित नहीं था ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

सदृशं तत्तु तस्यैव यदनेन कृतं मयि ।

दुर्वृत्तमपि कः पुत्रं त्यजेद्भुवि विचक्षणः ॥ ६५ ॥

प्रत्युत श्रीरामचन्द्र का मेरे प्रति वह व्यवहार सर्वथा उचित है । इस संसार में कौन ऐसा विचारवान् मनुष्य होगा, जो अपने दुष्ट भी पुत्र को त्याग दे ॥ ६५ ॥

कश्च प्रवाज्यमानो वा नासूयेत्पितरं सुतः ।

चक्षुषा त्वां न पश्यामि स्मृतिर्मम विलुप्यते ॥६६॥]

और कौन ऐसा पुत्र होगा, जो घर से निकाले जाने पर भी पिता की निन्दा न करे । हे देवि ! आँखों से तू अब मुझे नहीं देख पड़ती और मेरी स्मरणप्रक्रिया भी नष्ट होती जाती है ॥ ६६ ॥

दूता वैवस्वतस्यैते कौसल्ये त्वरयन्ति माम् ।

अतस्तु किं दुःखतरं यदहं जीवितक्षये ॥ ६७ ॥

हे कौशल्ये ! यमराज के दूत, चलने के लिये जलदी कर रहे हैं । अतः अब इससे बढ़ कर अन्य दुःख कौन सा हो सकता है कि, मैं मरते समय भी ॥ ६७ ॥

न हि पश्यामि धर्मज्ञं रामं सत्यपराक्रमम् ।

तस्यादर्शनजः शोकः सुतस्याप्रतिकर्मणः^१ ॥ ६८ ॥

उस सत्यपराक्रमी और धर्मात्मा राम को नहीं देख रहा हूँ । उस पुत्र को, जिसने कभी मेरा किसी बात में सामना नहीं किया, न देखने से उत्पन्न शोक ॥ ६८ ॥

उच्छोषयति मे प्राणान्वारि स्तोकमिवातपः ।

न ते मनुष्या देवास्ते ये चारुशुभकुण्डलम् ॥ ६९ ॥

मेरे प्राणों को उसी प्रकार सोख रहा है, जिस प्रकार उषणा जल को थोड़ा थोड़ा कर सुखाती है । वे मनुष्य नहीं, किन्तु देवता हैं, जो सुन्दर कुण्डल पहिने हुए ॥ ६९ ॥

मुखं द्रक्ष्यन्ति रामस्य वर्षे पञ्चदशे पुनः ।

पद्मपत्रेक्षणं सुभ्रुं सुदंष्टं चारुनासिकम् ॥ ७० ॥

कमल नेत्र वाले, सुन्दर भ्रुवुटि वाले सुन्दर दाँतों वाले और सुन्दर नासिका युक्त श्रीराम के मुख को पन्द्रहवें वर्ष पुनः देखेंगे ॥ ७० ॥

^१ अप्रतिकर्मणः—प्रतिक्रियारहितस्य । (गो०)

थन्या द्रक्ष्यन्ति रामस्य ताराधिपनिभं मुखम् ।
सदृशं शारदस्येन्द्राः फुलस्य कमलस्य च ॥ ७१ ॥

सुगन्धि मम नाथस्य थन्या द्रक्ष्यन्ति तन्मुखम् ।
निवृत्तवनवासं तमयोध्यां पुनरागतम् ॥ ७२ ॥

वे लोग धन्य हैं, जो श्रीराम के चन्द्रमा तुल्य मुख को देखेंगे ।
शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान, प्रफुल्लित कमल की सुगन्ध से
युक्त, श्रीराम का मुख जो लोग उनके बनवास से लौट कर
अयोध्या में आने पर देखेंगे, वे धन्य हैं ॥ ७१ ॥ ७२ ॥

द्रक्ष्यन्ति सुखिनो रामं शुक्रं मार्गगतं यथा ।
कौसल्ये चित्तमोहेन हृदयं^१ सीदतीव^२ मे ॥ ७३ ॥

अथवा अपने मार्ग को प्राप्त हुए शुक्र की तरह बनवास से
अयोध्या में आये हुए श्रीराम को जो लोग देखेंगे, वे यथार्थ में
सुखी होंगे । हे कौशल्ये ! मन की घबड़ाहठ से मेरा हृदय फटा
जाता है ॥ ७३ ॥

येन वेद न संयुक्ताऽशब्दस्पर्शरसानहम् ।
चित्तनाशाद्विपद्यन्ते३सर्वाण्येवेन्द्रियाणि मे ॥ ७४ ॥

अतएव इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द, स्पर्श, रसादि
गुण भी मुझे नहीं जान पड़ते । क्योंकि चित्त के नाश होने पर
ये सब इन्द्रियाँ भी वैसे ही नष्ट हो जाती हैं ; ॥ ७४ ॥

^१ हृदयं—मनसोधिष्ठानं । (गो०) ^२ सीदतीव—विसीर्यतीव । (गो०)

^३ विपद्यन्ते—परिणतानिभवन्ति । (शि०) * पाठान्तरे—“वेदये न च” ।

क्षीणस्नेहस्य दीपस्य संसक्ता^१ रशयो यथा ।

अयमात्मभवः शोको मामनाथमचेतसम्^२ ॥ ७५ ॥

जैसे तेल के जल जाने पर दीपक का प्रकाश नष्ट हो जाता है ।
यह मेरे हृदय में उत्पन्न शोक सुख अचेत और अनाथ को, ॥ ७५ ॥

संसादयति वेगेन यथा कूलं नदीरयः ।

हा राघव महावाहो हा ममायासनाशन^३ ॥ ७६ ॥

उसी प्रकार गिरा रहा है, जिस प्रकार नदी की धार का वेग
नदी के करारे को गिराता है । हा राघव ! हा महावाहो ! हा मेरे
दुःख को दूर करने वाले ! ॥ ७६ ॥

हा पितृप्रिय मे नाथ हाऽव्य कासि गतः सुत ।

हा कौशल्ये विनश्यामि^४ हा सुमित्रे तपस्विनि ।

हां नृशंसे ममामित्रे कैकेयि कुलपांसनि ॥ ७७ ॥

हा पिता के लाडले, हे मेरे नाथ ! हे मेरे बेटा, तुम कहाँ गये ?
हा कौशल्या, हा तपस्विनो सुमित्रा ! अब मैं मरता हूँ । हा कूर
मेरी बैरिन, और कुलनाशिनी कैकेयी ! ॥ ७७ ॥

इति रामस्य मातुश्च सुमित्रायाश्चसन्निधौ ।

राजा दशरथः शोचञ्जीवितान्तमुपागमत् ॥ ७८ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ ने राममाता और सुमित्रा की
सन्निधि में, विलाप करते हुए अपने प्राण त्याग दिये ॥ ७८ ॥

१ संसक्तः—दीपाविनाभूताः । (गो०) २ आयासनाशन—दुःखनाशन ।
(गो०) * पाठान्तरे—“अचेतनम्” । † पाठान्तरे—“नशिष्यामि” ।

तथा* तु दीनं कथयन्नराधिपः
 प्रियस्य पुत्रस्य विवासनातुरः ।
 गतेऽर्धरात्रे भृशदुःखपीडितः
 तदा जहौ प्राणमुदारदर्शनः ॥ ७९ ॥
 इति चतुःषष्ठितमः सर्गः ॥

उदार एवं दर्शनीय महाराज ने दोन वचन कहते हुए, प्रिय पुत्र के वनवास से व्याकुल हो, आधी रात बीतने पर अत्यन्त दुःखी हो प्राण त्यागे ॥ ७६ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

पञ्चषष्ठितमः सर्गः

—:०:—

अथ रात्र्यां व्यतीतायां प्रातरेवापरेऽहनि ।
 वन्दिनः पर्युपातिष्ठन्पार्थिवस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

रात बीतने पर अगले दिन प्रातःकाल के समय, महाराज के राजद्वार पर बन्दीजन आये ॥ १ ॥

सूताः परमसंस्काराः॑ मागधाश्चोत्तमश्रुताः॒ ।
 गायकाः स्तुतिशीलाश्च निगदन्तः पृथक्पृथक् ॥ २ ॥

१ परमसंस्काराः—व्याकरणाद्युत्तमसंस्कारयुक्ताः । (गो०) २ उत्तम श्रुताः—वंशपरम्पराश्रवणमेषाते मागधाः । (रा०) * पाठान्तरे—यदा तु” ।

व्याकरणादि शास्त्रों में चतुर सूत, और वंशपरम्परा का कीर्तन करने में निपुण मागध; तान, लय एवं, स्वर के ज्ञाता गवैया राजभवन के द्वार पर उपस्थित हो, पृथक् पृथक् अपनी रीति के अनुसार महाराज के गुण कीर्तन करने लगे ॥ २ ॥

राजानं स्तुवतां तेषामुदात्ताभिहिताशिषाम् ।

प्रासादाभोगविस्तीर्णः स्तुतिशब्दोऽव्यवर्धत ॥ ३ ॥

उच्चस्वर से महाराज की स्तुति करने वाले और आशीर्वाद देने वाले उन लोगों के नाद से सम्पूर्ण राजभवन भर गया ॥ ३ ॥

ततस्तु स्तुवतां तेषां सूतानां पाणिवादकाः ।

'अपदानान्युदाहृत्य पाणिवादानवादयन् ॥ ४ ॥

तदनन्तर ताली बजा कर ताल देने में निपुण (पाणिवादक) लोग ताली बजा बजा कर महाराज के अद्भुत कर्मों का वर्णन करने लगे ॥ ४ ॥

तेन शब्देन विहगाः प्रतिबुद्धा विस्त्वनुः ।

शाखास्थाः पञ्चरस्थाश्च ये राजकुलगोचराः ॥ ५ ॥

इससे वे पक्षी जो राजभवन के वृक्षों की शाखाओं पर रहते थे और जो पालतू होने के कारण विजड़ों में रहते थे, जागे और बोलने लगे ॥ ५ ॥

व्याहृताः^२ पुण्यशब्दाश्च^३ वीणानां चापि निःस्वनाः ।

आशीर्गेयं च गाथानां^४ पूर्णयामास वेश्म तत् ॥ ६ ॥

१ अपदानानि—वृत्तान्यद्भुतकर्मणि । (गो०) २ व्याहृताः—बाह्यणैहक्ताः । (गो०) ३ पुण्यशब्दाः—पुरुषश्चेत्रतीर्थकीर्तनादिरूपाः । (गो०) ४ गाथानां—दशरथ विषय प्रबन्ध पुण्य विशेषानां । (गो०) * गाठान्तरे—“ह्यवर्तत” ।

ब्राह्मणों के आशीर्वादात्मक वाच्यों से, पालतु पक्षियों की उन बोलियों से, जो भगवन्नाम अथवा पवित्र तीर्थों के नाम ले कर बोल रहे थे, वीणा की ध्वनि से, आशीर्वाद से तथा महाराज दशरथ सम्बन्धी प्रवन्ध विशेषों के बखान से राजभवन पूरित हो गया ॥६॥

ततः शुचिसप्तमाचाराः पर्युपस्थानकोविदाः ।

स्त्रीवर्षधरैभूयिष्ठा उपतस्थुर्यथापुरम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर सदाचार सम्पन्न कालोचित सेवा करने में निपुण और नपुंसक (खोजा लोग) प्रतिदिन की प्रथानुसार आ कर उपस्थित हुए ॥ ७ ॥

हरिचन्दनसंमृक्तमुदकं काञ्चनैर्घटैः ।

आनिन्युः स्नानशिक्षाज्ञा यथाकालं यथाविधि ॥८॥

महाराज को स्नान करवाने वाले लोग जो स्नान कराने की विधि के विशेषज्ञ थे, सुवर्ण के कलसों में हरिचन्दन मिला हुआ जल भर कर यथासमय और यथाविधान लाये ॥ ८ ॥

मङ्गलालम्भनीयानि प्राशनीयान्युपस्करान् ।

उपानिन्युस्तथाऽप्यन्याः कुमारीवहुलाः स्त्रियः ॥ ९ ॥

अनेक कुमारीप्राय सुन्दर स्त्रियों ने तेल उबटनादि, दन्तधावन तथा कुह्ली करने के लिये जलादि तथा शीशा, कंघा, तोलिया आदि सामग्री ला कर उपस्थित की ॥ ९ ॥

१ पर्युपस्थानकोविदाः—काञ्चनैर्चितपरिचर्याविचक्षणाः । (गो०) २ स्त्रीवर्षधरभूयिष्ठाः—अन्तःपुराध्यक्षस्त्रीमिः वर्षधरैःषणैश्वसमृद्धाः । (गो०) ३ कुमारीवहुला—कुमारीप्रायाः । (गो०)

सर्वलक्षणसम्पन्नं सर्वं विधिवदर्चितम् ।

सर्वं सुगुणलक्ष्मीवत्तद्भूवाभिहारिकम् ॥ १० ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण लक्षण युक्त, विधि पूर्वक सज्जी हुई, अतः सर्वगुण और शोभायुक्त, महाराज के लिये प्रातःकृत्य की सब सामग्री ला कर एकत्र की गयी ॥ १० ॥

तत्तु सूर्योदयं यावत्सर्वं परिसमुत्सुकम् ।

तस्थावनुपसम्प्राप्तं किंस्त्रिदित्युपशङ्कितम् ॥ ११ ॥

सूर्योदय पर्यन्त सब लोग महाराज के दर्शनों के लिये उत्कण्ठित रहे और आपस में कहते थे कि, कारण क्या है जो महाराज आज अब तक सो कर नहीं उठे ॥ ११ ॥

अथ याः कोसलेन्द्रस्य शयनं^१ प्रत्यनन्तराः ।

ताः स्त्रियस्तु समागम्य भर्तारं प्रत्यबोधयन् ॥ १२ ॥

कौशल्या जी के अतिरिक्त और जो सब स्त्रियाँ वहाँ महाराज की सेज के समीप थीं, मिल कर महाराज को जगाने लगीं ॥ १२ ॥

तथाप्युचितैवृत्तास्ता विनयेन^२ नयेन^३ च ।

न ह्यस्य शयनं स्पृश्वा किञ्चिदप्युपलेभिरे ॥ १३ ॥

उन स्त्रियों ने बड़े प्यार से और युक्ति से महाराज के शरीर को स्पर्श कर, जब देखा, तब उनमें जीवित पुरुष जैसी कुछ भी

१ शयनंप्रत्यन्तरा — शयनवस्त्रिकृष्टाहृत्यर्थः । (गो०) २ उचितवृत्ताः — स्पर्शनादिव्यापारोचिताः । (गो०) ३ विनयेन — प्रश्नयेण । (गो०) ४ नयेन — युक्त्या । (गो०)

चेष्टा न पायो (अर्थात् सौत का आना जाना आदि न जान पड़ा) ॥ १३ ॥

**ताः स्त्रियः 'स्वप्नशीलज्ञाशेषासञ्चलनांदिषु ।
तां वेपथुपरीतात्र राज्ञः प्राणेषु शङ्किताः ॥ १४ ॥**

तब वे सब स्त्रियाँ, जो महाराज के सोने के समय की हालत चेष्टा और नाड़ीसञ्चार को भली भाँति जानती थीं, महाराज की यह दशा देख, थरथरा उठीं और महाराज के जीवित रहने में उनको सन्देह उत्पन्न हो गया ॥ १४ ॥

प्रतिस्तोतस्तृणग्राणां सदृशं सञ्चकम्पिरे* ।

अथ संवेपमानानां स्त्रीणां दृष्ट्वा च पार्थिवम् ॥ १५ ॥

महाराज के जीवित रहने में सन्देह उत्पन्न हो जाने के कारण, वे सब स्त्रियाँ उसी प्रकार थरथर कींगे लगें जिस प्रकार नदी के सोत में उत्पन्न वेत या नरकुल कींगा करता है ॥ १५ ॥

यत्तदाशङ्कितं पापं॑ तस्य जडे विनिश्चयः ।

कौशल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकपराजिते॒ ॥ १६ ॥

उन लोगों को महाराज के जीवित रहने में जो सन्देह था, वह अब निश्चय में परिणत हो गया—(अर्थात् उनको निश्चय हो गया कि, महाराज ने शरीर त्याग दिया) । तब कौशल्या और सुमित्रा जो युत्रों के वियोगजन्य गोक से अस्त हों ॥ १६ ॥

१ स्वप्नशीलज्ञा—स्वाप्नस्वभावज्ञाः । (गो०) २ मत्पापं—मरणरूप माशहितं । (गो०) ३ पराजिते—आक्रान्ते । (गो०) * पाठान्तरे—“संचकाशिरे” ।

प्रसुप्ते न प्रबुध्येते यथाकालसमन्विते ।

निष्पत्ता च विवर्णा च सन्ना शोकेन सन्नता ॥ १७ ॥

मृतक की तरह सो रही थीं न जागीं । मारे शोक के कौशल्या
निस्तेज और पीली पड़ गयी थीं, उनका शरीर एकदम कृश हो
गया था ॥ १७ ॥

न व्यराजत कौसल्या तारेव तिमिरावृता ।

कौसल्यानन्तरं राज्ञः सुमित्रा तदनन्तरम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार बादल के अधेरे में द्विपे नक्षत्र शोभित नहीं होते
वैसे ही महाराज के समीप कौशल्या व सुमित्रा शोकरूपी बादल
से ढकी होने के कारण शोभा रहित हो रही थीं ॥ १८ ॥

न स्म विभ्राजते देवी शोकाश्रुलितानना ।

ते च दृष्टा तथा सुप्ते उभे देव्यौ च तं नृपम् ॥ १९ ॥

राजभवन की अन्य स्त्रियाँ भी शोक से अश्रुणात कंरती हुईं
शोभित नहीं होती थीं । उन स्त्रियों ने देखा कि, कौशल्या और
सुमित्रा सो रही हैं और महाराज ॥ १९ ॥

सुप्तमेवोद्गतप्राणमन्तःपुरमद्दयत ।

ततः प्रचुकुशुर्दीनाः सस्वरं ता वराङ्गनाः ॥ २० ॥

के निद्रावस्था हो में प्राण निकले हुए देख वे अन्तःपुरवासिनी
स्त्रियाँ अति दीन हो उच्च स्वर से रोने लगीं ॥ २० ॥

* यथाकालसमन्विते—मृतेऽवप्रसुप्ते नप्रबुध्येते । (गो०)

करेणव इवारण्ये स्थानप्रच्युतयूथपाः ।
तासामाक्रन्दशब्देन सहसोदगतचेतने ॥ २१ ॥

जिस प्रकार वन में अपने समूह से विछुड़ने पर हथनियाँ चिल्हाती हैं, उसी प्रकार इन सद का बड़े ज़ोर से रोने का चीत्कार सुन, एकाएकी जाग कर ॥ २१ ॥

कौशल्या च सुमित्रा च दृष्टा स्पृष्टा च पार्थिवम् ।
हा नाथेति परिक्रुश्य पेततुर्धरणीतले ॥ २२ ॥

कौशल्या और सुमित्रा महाराज को देख वा उनके शरीर पर हाथ रख (और शरीर को ठंडा पा महाराज को मरा हुआ जान,) “हा नाथ !” कह कर चिल्हाती हुई, पृथिवी पर पछाड़ खा कर, गिर पड़ीं ॥ २२ ॥

सा कौसलेन्द्रदुहिता वेष्टमाना महीतले ।
न बभ्राज रजोध्वस्ता तारेव गगनाच्युता ॥ २३ ॥

कौशल्या जो ज़मीन पर लोट रही थीं, अतः उनके सारे शरीर में धूल लग गयी थी । उस समय धूलधूसरित वे आकाश से गिरे हुए तारा की तरह जान पड़ती थीं ॥ २३ ॥

नृपे शान्तगुणे^१ जाते कौशल्यां पतितां भुवि ।
अपश्यंस्ताः स्त्रियः सर्वा हतां नागवधूमिव ॥ २४ ॥

महाराज के मरने पर, कौशल्या को ज़मीन पर लोटते हुए उन सब स्त्रियों ने देखा, मानों कोई नागवधू पड़ी हो ॥ २४ ॥

^१ शान्तगुण—शान्तदेहोप्यस्पन्दनादिगुणे । (गो०)

ततः सर्वा नरेन्द्रस्य कैकेयीप्रमुखाः स्त्रियः ।

रुदन्त्यः शोकसन्तप्ता निपेतुर्धरणीतले* ॥ २५ ॥

तब महाराज की कैकेयी आदि सब स्त्रियों रुदन करती हुईं, शोक से सन्तप्त होने के कारण, मुर्कित हो, ज़मीन पर गिर पड़ीं ॥ २५ ॥

ताभिः स बलवान्नादः क्रोशन्तीभिरनुद्रुतः^१ ।

येन स्थिरीकृतं भूयस्तदृग्हं समनादयत् ॥ २६ ॥

तदनन्तर (पूर्व) आयी हुईं स्त्रियों के रोने का तुमुल शब्द पीछे आयी हुईं कैकेयी आदि स्त्रियों के रोने के शब्द से मिल, और भी अधिक हो गया और उस आर्तनाद से सम्पूर्ण राजभवन पूरित हो गया ॥ २६ ॥

तत्समुद्रस्तसम्भ्रान्तं पर्युत्सुकजनाकुलम् ।

सर्वतस्तुमुलाक्रन्दं परितापार्तवान्धवम् ॥ २७ ॥

सद्यो निपतितानन्दं दीनविक्लबदर्शनम् ।

बभूव नरदेवस्य सदा दिष्टान्तमीयुषः ॥ २८ ॥

उस समय महाराज दगरथ का राजभवन ब्रह्म, विकल और व्यग्र जनों से भरा, महा चोकार से युक्त और परिताप से सन्तप्त बन्धुजनों से भरा हुआ आनन्द रहित और दीनता से परिपूर्ण हो गया था । वह राजभवन भाग्यहीन सा देख पड़ता था ॥ २७ ॥ २८ ॥

अतीतमाज्ञाय तु पार्थिवर्षभ्यं

यशस्विनं सम्परिवार्यं पदयः ।

^१ अनुद्रुतः—अनुसृतोभूत् । (गो०) * पाठान्तरे—“निपेतुर्गतचेतनाः” ।

भूर्णं रुदन्त्यः करुणं हुदुःखिताः
प्रगृह्ण वाहू व्यलपन्ननाथवत् ॥ २९ ॥
इति पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥

राजाओं में श्रेष्ठ और यशस्वी महाराज दशरथ को मरा देख,
उनकी सब रानियाँ महा दुःखी हो अत्यन्त करुणपूर्ण स्वर से रो
रो कर और महाराज दशरथ की बाहें पकड़ अनाथ की तरह
विलाप करने लगीं ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का पैसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

षट्षष्ठितमः सर्गः

—:o:—

तमग्रिमिव संशान्तम्भुहीनमिवार्णवम् ।
हतप्रभमिवादित्यं स्वर्गस्थं प्रेक्ष्य पार्थिवम् ॥ १ ॥

महाराज दशरथ को बुझी हुई आग, अथवा जलहीन समुद्र
अथवा हतप्रभ सूर्य की तरह स्वर्गवासी हुआ देख ॥ १ ॥

कौसल्या बाष्पपूर्णक्षी विविधं शोककर्शिता ।
उपगृह्ण॑ शिरो राङ्गः कैकेयीं प्रत्यभाषत ॥ २ ॥

कौशल्या ने महाराज का सिर अपनी गोद में रख और
विविध प्रकार के शोकों से उत्पीड़ित होने के कारण रोते रोते
कैकेयी से कहा ॥ २ ॥

सकामा भव कैकेयि भुड्क्ष्व राज्यपक्ष्टकम् ।

त्यक्त्वा राजानमेकाग्रा^१ वृशंसे दुष्टचारिणि ॥ ३ ॥

अरी दुष्ट कमाइन ! अब अपनी साध पूरी कर और निष्कण्डक राज्य सुख भोग । महाराज को विदा कर अब तू अपने पुत्र के राज्यसुख में एकाग्रचित्त हो ॥ ३ ॥

विहाय मां गतो रामो भर्ता च स्वर्गतो मम ।

विपथे सार्थहीनेव^२ नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

श्रीराम तो मुझे ढोड़ चला ही गया था, महाराज भी अब नहीं रहे । दुर्गम पथ में सहायक सायो छूटे हए पथिक की तरह मुझे अब जी ने की साध नहीं है ॥ ४ ॥

भर्तारं तं परित्यज्य का स्त्री दैवतमात्मनः ।

इच्छेज्जीवितुमन्यत्र कैकेयास्त्यक्तधर्मणः ॥ ५ ॥

हाय ! कौन ऐसो स्त्री होगी, जो अपने पदम दैवता स्वामी को ढोड़ कर, जीवित रहना पसन्द करेगी । एक कैकेयी अवश्य जीवेगी, क्योंकि उसने अपना धर्म त्याग दिया (अर्थात् पतिव्रत धर्म) ॥ ५ ॥

न लुब्धो बुध्यते दोषान्किंपाकमिव भक्षयन् ।

कुञ्जानिमित्तं कैकेया राघवाणां कुलं हतम् ॥ ६ ॥

हा ! जो लालची होता है वह लालच के दुष्परिणाम की ओर आन नहीं देता, जैसे भूखा मनुष्य विषमिश्रित पदार्थ को ज्ञुधा

१ एकाग्रा—पुत्रराज्यैकाग्रचित्ता । (रा०) २ सार्थहीना—सहायभूत पथिकसहृहितेत्यर्थः । (गो०) ३ किम्पाक—कुत्सितपाक । (गो०)

वश खाते समय तज्जनित दुष्परिणाम की और ध्यान नहीं देता, हा ! कुव्वा के कहने से कैकेयी ने महाराज रघु के कुल का नाश कर डाला ॥ ६ ॥

'अनियोगे नियुक्तेन राजा रामं विवासितम् ।
सभार्यं जनकः श्रुत्वा परितप्स्यत्यहं यथा ॥ ७ ॥

जब राजा जनक सुन गे कि, कैकेयी के द्वारा अनुचित रीति से प्रेरणा किये जाने पर महाराज दगरथ ने श्रीरामचन्द्र को स्त्री सहित बन भेज दिया, तब उनको कैसा सन्ताप होगा ॥ ७ ॥

स मामनाथां विधवां नाद्य जानाति धार्मिकः ।
रामः कमलपत्राक्षो जीवनाशमितोऽ गतः ॥ ८ ॥

इस समय कमलनयन धर्मत्मा श्रीरामचन्द्र यह न जानते होंगे कि, यहाँ महाराज के मरने से मैं अनाथ और विधवा हो गयो ॥ ८ ॥

विदेहराजस्य सुता तथा सीता तपस्विनी४ ।
दुःखस्यानुचिता दुःखं वने पर्युद्धिजिष्यते५ ॥ ९ ॥

राजा जनक की पुत्री बापुरी सीता जो दुःख सहने योग नहीं है, वन में अनेक प्रकार के दुःख पा कर घबड़ाती होगी ॥ ९ ॥

नदतां भीमघोषाणां निशासु मृगपक्षिणाम् ।
निशम्य नूनं संत्रस्ता राघवं संश्रयिष्यति ॥ १० ॥

१ अनियोगे—वरप्रदान समये वरस्य विशेषनिर्देश सावे सति । (गो०)

२ जीवनाशंगतः—राजा जीवनाशंगतः प्राप्तः । (गो०) ३ इतः अन्नदेशे । (गो०) ४ तपस्विनी—शोचनीया । (गो०) * पाठान्तरे—“विजिष्यति” ।

सीता जब कि, रात में सिंह वधायादि जन्तुओं का डरावना दहाइना और पक्षियों की बोलियाँ सुनती होगी, तब मारे डर के श्रोराम के गले में लिपट जाती होगी ॥ १० ॥

वृद्धश्वैवाल्पपुत्रश्चै वैदेहीमनुचिन्तयन् ।

सोऽपि॒ शोकसमाविष्टो ननु त्यक्ष्यति जीवितम् ॥११॥

वे राजा जनक भी, जो बूढ़े हैं और जिनके केवल कन्या सन्तति है, सीता जी के कष्टों का, स्मरण कर और शोक से चिकिल हो शरीर कोड़ देंगे ॥ ११ ॥

साऽहमद्यैव दिष्टान्तं गमिष्यामि पतिव्रता ।

इदं शरीरमालिङ्ग्य प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ॥ १२ ॥

अतः पतिव्रत धर्म का पालन करती हुई मैं आज ही प्राण त्यागने के लिये, महाराज के शव से चिपट, अग्नि में प्रवेश करूँगी अर्थात् सती हो जाऊँगी ॥ १२ ॥

तां ततः सम्परिष्वज्य विलपन्तीं तपस्त्विनीम् ।

***व्यपनिन्युः सुदुःखार्तां कौसल्यां व्यावहारिकाः४ ॥१३॥**

अन्तःपुर के तथा राज्य के रीति व्योहार (अर्थात् जापा) जानने वाले अर्थात् मंत्रियों ने महाराज के शव से अत्यन्त दुःखिनी बापुरी कौशल्या को हटा कर अलग किया ॥ १३ ॥

१ अल्पपुत्रः—दुहित्रमात्रपुत्रः । (गो०) २ सोऽपि—जनकोपि । (गो०)

३ दिष्टान्तं—मरणं । (गो०) ४ व्यावहारिकाः—व्यवहारेवाद्याभ्यन्तर सकलराजकृत्येनियुक्ताः अमात्याइत्यर्थः । (गो०) * पाठान्तरे—“व्यवनीय” ।

तैलद्रोण्यामथामात्याः संवेश्य जगतीपतिम् ।

राज्ञः सर्वाण्यथादिष्टशक्रुः कर्माण्यनन्तरम् ॥ १४ ॥

और उन मंत्रियों ने महाराज के शव को तेल भरे कड़ाह में रख दिया जिससे शव बिगड़े नहीं । तदनन्तर वे राजज्ञानुसार सब कृत्य करने लगे ॥ १४ ॥

न तु *संस्करणं राज्ञो विना पुत्रेण मन्त्रिणः ।

सर्वज्ञाः^१ कर्तुमोषुस्ते ततो रक्षन्ति भूमिपम् ॥ १५ ॥

सभयोचित कर्तव्यों को जानने वाले मंत्रियों ने विना किसी राजकुमार के आये महाराज के शव के अग्निसंस्कारादि क्रियाकर्म करना उचित न समझा । अतः महाराज के शव (को तेल से भरी कढ़ाई में) रखवा दिया ॥ १५ ॥

तैलद्रोण्यां तु सचिवैः शायितं तं नराधिपम् ।

हा मृतोऽयमिति ज्ञात्वा स्त्रियस्ताः पर्यदेवयन् ॥ १६ ॥

जब मंत्रि लोग महाराज के शव को तेल से भरी कढ़ाई में लिटाने लगे, तब वे स्त्रियाँ महाराज का मरना निश्चय जान, हा महाराज ! मर गये । ”— कह कर विलाप करने लगीं ॥ १६ ॥

बाहूनुद्रम्य कृपणा नेत्रप्रस्त्रवणैर्मुखैः ।

रुदन्त्यः शोकसन्तसाः कृपणं पर्यदेवयन् ॥ १७ ॥

वे दुःखिनों स्त्रियाँ अपनी भुज्ञाओं को उठा उठा कर और आँखों से अश्रुधारा बहा तथा शोक से सन्तस हो, विलाप करने लगीं ॥ १७ ॥

^१ सर्वज्ञाः—सर्वधर्मज्ञाः । (गो०) * पाठान्तरे—“ सङ्कलनं ” ।

हा महाराज रामेण सततं प्रियवादिना ।

विहीनः* सत्यसन्धेन किमर्थं विजहासि नः ॥ १८ ॥

हा महाराज ! हमें सदैव प्रिय बोलने वाले श्रीराम से रहित कर, आप हमें छोड़ कर क्छों चले जाते हैं ॥ १८ ॥

कैकेया दुष्टभावाया राघवेण वियोजिताः ।

कथं पतिघ्न्या वत्स्यामः समीपे विधवा वयम् ॥ १९ ॥

अब हम श्रीरामचन्द्र जी से विछुड़ कर इस दुष्टा तथा पनि को मारने वाली कैकेयी के साथ, विधवा हो कर कैसे रह सकेंगी ॥ २६ ॥

स हि नाथः सदाऽस्माकं तव च प्रभुरात्मवान् ।

वनं रामो गतः श्रीमान्विहाय नृपतिश्रियम् ॥ २० ॥

क्छोंकि श्रीराम जो जा हमारे और आपके जीवनाधार थे, राज्यलक्ष्मी को छोड़, वन को चले गये ॥ २० ॥

त्वया तेन च वीरेण विना व्यसनमोहिताः ।

कथं वैयं निवत्स्यामः कैकेया च विदूषिताः¹ ॥ २१ ॥

अब हम भव तुम्हारे विना और श्रीराम के न रहने पर, दुःख में फँस, कैकेयी के तिरस्कारों को सहन करती हुई, किस प्रकार रह सकेंगी ॥ २१ ॥

यया तु राजा रामश्च लक्ष्मणश्च महावलः ।

सीतया सह सन्त्यक्ता सा कमन्यं न हास्यति ॥ २२ ॥

¹ विदूषिताः—राज्यगर्वातिरकृताः । (गो०) * पाठान्तरे—विहीनाः ।

जिसने महाराज को, श्रीरामचन्द्र एवं महावली लद्धपण तथा सीता को त्याग करने में सङ्कोच न किया वह भला किसको नहीं छोड़ सकतो ॥ २२ ॥

ता बाष्पेण च संवीतः शोकेन विपुलेन च ।

व्यवेष्टन्त निरानन्दा राघवस्य वरस्त्रियः ॥ २३ ॥

इस प्रकार महाराज दशरथ की सर्वश्रंष्ट रानियाँ नेत्रों से आँख बहाती और महाशोकग्रस्त होने के कारण आनन्द रहित हो गयीं ॥ २३ ॥

निशा चन्द्रविहीनेव स्त्रीव भर्तुविवर्जिता ।

पुरी नाराजतायोध्या विना राजा महात्मना ॥ २४ ॥

उस समय अयोध्यापुरी चन्द्र विन यामिनी और कन्त विन कामिनी की तरह महाराज दशरथ के विना, शोभित नहीं होती थी ॥ २४ ॥

बाष्पपर्याकुलजना हाहाभूतकुलाङ्गना ।

शून्यचत्वरेऽश्मान्ता न ब्राज यथापुरम् ॥ २५ ॥

क्योंकि जिधर देखो उधर लोग रोते हुए देख पैड़ते थे, और स्त्रियाँ हाहाकार मचा रही थीं । घर और चौराहों में झाड़ तक नहीं पढ़ी थी । सारांश यह कि अयोध्या की जैसी शोभा पहले थी वैसी अब नहीं देख पड़ती थी ॥ २५ ॥

गते तु शोकाद्विदिवं नराधिपे

महीतलस्थासु नृपाङ्गनासु च ।

१ शून्यचत्वरेति—समार्जनातुलेपनबल्यादि शून्यचत्वरादियुक्तेति यावत् (गो०) २ यथापुरं—यथापूर्वं । (गो०) ३ शोकात्—पुत्रशोकात् । (गो०)

निवृत्तचारः^१ सहसा गतो रविः

प्रवृत्तचारा^२ रजनो हुपस्थिता ॥ २६ ॥

पुत्रशोक में महाराज दशरथ के स्वर्ग मिथ्यारने पर, उनकी सब रानियाँ ज़मीन पर पड़ी रो रही थीं। इतने में दिन छूब गया और अंधकार को लिये हुए रात हो आयी ॥ २६ ॥

ऋते तु पुत्राहृहनं महीपतेः

न रोचयन्ते सुहृदः समागताः ।

इतीव तस्मिन्दशयने न्यवेशयन्

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम् ॥ २७ ॥

राजवंश के जो हितैषी भाईवंद वहाँ एकत्र हुए थे, उन लोगों ने विचार कर यह निश्चय किया कि, चिना किसी राजपुत्र के आये महाराज के शव की दाहक्रिया किया जाना ठीक नहीं। अतः शव को तेल के कढ़ा में रखा रहने दिया जाय ॥ २७ ॥

गतप्रभा द्यौरिव भास्करं विना

व्यपेतनक्षत्रगणेव शर्वरी ।

पुरी बभासे रहिता महात्मना

न चास्त्रकण्ठाऽकुलमार्गचत्वरा ॥ २८ ॥

उस समय महाराज के स्वर्ग मिथ्यारने पर अग्रेष्यापुरी की सड़कें और चौराझों पर रोते हुए और वाष्परुद्धकण्ठ वाले लोगों

१ निवृत्तचारः—निवृत्तकिरणप्रचारः । (गो०) २ प्रवृत्तचारा—प्रवृत्ततमः प्रचारा । (गो०)

की भीड़ हो जाने से, अयोध्यापुरी सूर्यहीन आकाश अथवा नक्षत्र हीन रात्रि की तरह प्रभाहीन हो गयी ॥ २८ ॥

नराश्च नार्यश्च समेत्य सद्वृशो
विगर्हमाणा भरतस्य मातरम् ।
तदा नगर्या नरदेवसंक्षये
बभूवुरार्ता न च शर्म लेधिरे ॥ २९ ॥

इति पद्मष्टितमः सर्गः ॥

महाराज के स्वर्गवासी होने पर, अयोध्यापुरीवासी क्या पुरुष, क्या रुद्धी सब इकट्ठे हो एक स्वर से भरत को प्राता कैकेयी को धिक्कारने लगे । उस समय सभो दुःखी थे ; सुखी कोई न था ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का छान्डोली सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

सप्तष्टितमः सर्गः

—०—

आक्रन्दितनिरानन्दा साश्रुकण्ठजनाकुला ।
अयोध्यायामवतता^१ सा व्यतीयाय शर्वरी ॥ १ ॥

रोते रोते किसी के भो मन में आनन्द नहीं रह गया था, सब लोग आँसू गिराते बराबर रो रहे थे । वह दुःख की रात लोगों के लिये पहाड़ जैसी बड़ी हो गयी थी । किसी न किसी तरह वह व्यतीत हुई ॥ १ ॥

^१ अवतता—दीर्घा । (गो०)

व्यतीतायां तु शर्वर्यामादित्यस्योदये ततः ।

समेत्य राजकर्तारः सभामीयुद्धिजातयः ॥ २ ॥

जब रात बीती और सूर्य उदय हुए, तब राजकाज में साहाय्य देने वाले अधिकारी ब्राह्मण इकट्ठे हो सभा में आये ॥ २ ॥

मार्कण्डेयोऽथ मौदृगलयो वामदेवश्च काश्यपः ।

कात्यायनो गौतमश्च जावालिश्च महायशाः ॥ ३ ॥

उनमें सब से अधिक प्रसिद्ध अथवा मुख्य थे मार्कण्डेय, मौदृगलय, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, गौतम और जावालि ॥ ३ ॥

एते द्विजाः सहामात्यैः 'पृथग्वाच्मुदीरयन्' ।

वसिष्ठमेवाभिमुखाः श्रेष्ठं राजपुरोहितम् ॥ ४ ॥

ये ब्राह्मण मंत्रियों सहित आ कर सर्वश्रेष्ठ राजपुरोहित वशिष्ठ जी के सामने बैठ, अलग अलग अपना अपना शाश्य प्रकट करने लगे ॥ ४ ॥

अतीता शर्वरी दुःखं या नो वर्षशतोपमा ।

अस्मिन्पञ्चत्वमापन्ने पुत्रशोकेन पार्थिवे ॥ ५ ॥

बीती हुई रात जो हमें सौ वर्ष के समान जान पड़ती थी, किसी प्रकार बीती । क्योंकि इसो रात में पुत्रशोक से विकल महाराज पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मरे) ॥ ५ ॥

स्वर्गतश्च महाराजो रामश्चारण्यमाश्रितः ।

लक्ष्मणश्चापि तेजस्वी रामेणैव गतः सह ॥ ६ ॥

१ पृथक्—भिन्नं । (शि०) २ उदीरयन्—अकथयन् । (शि०)

महाराज स्वर्गवासी हुए हैं और श्रोरामचन्द्र जी वन में हैं।
तेजस्वी लक्ष्मण भी श्रीराम के साथ वन में हैं ॥ ६ ॥

उभौ भरतशत्रुघ्नौ कैकयेषु परन्तपौ ।
पुरे राजगृहे रम्ये मातापहनिवेशने ॥ ७ ॥

परन्तप दोनों भरत और शत्रुघ्न के क्षय देश की राजधानी में
अपने नाना के घर में विराजमान हैं ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव राजा कश्चिद्विधीयताम् ।

अराजकं हि नो राष्ट्रं न विनाशमवाप्नुयात् ॥ ८ ॥

अतः इक्ष्वाकुवंशीय किसी पुरुष को आज ही राजा बनाना
चाहिये। नहीं तो कहीं राजा के विना हमारा राष्ट्र नष्ट न हो
जाय ॥ ८ ॥

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वनः ।

अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा ॥ ९ ॥

क्योंकि जहाँ राजा नहीं होता वहाँ विजली की चमक सहित
अत्यन्त गरजने वाले मेघ दिव्य जल पृथिवी पर नहीं बरसाते—
अर्थात् ओले बरसाते हैं ॥ ९ ॥

नाराजके जनपदे वीजमुष्टिः प्रकीर्यते ।

नाराजके पितुः पुत्रो भार्या वा वर्तते वशे ॥ १० ॥

अराजक देश में किसान लोग खेतों में बीज नहीं छिटकाते,
और अराजक देश में पुत्र पिता के और स्त्री अपने पति के वश में
नहीं रहती अर्थात् सब स्वतंत्र हो जाते हैं ॥ १० ॥

अराजके धनं नास्ति नास्ति १भार्याऽप्यराजके ।

इदमत्याहितं चान्यत्कुतः सत्यमराजके ॥ ११ ॥

अराजक देश में धन नहीं रहने पाता (क्योंकि चौर डॉक्कु वरजोरी ले लेते हैं ।) स्थिरा व्यभिचारिणी हो जाती हैं और घर में नहीं रहतीं । जब घर की स्थी तक का ठिकाना नहीं, तब सत्य भला कैसे रह सकता है । (अर्थात् अराजक देश में सत्य व्यवहार भी नहीं रह जाता) ॥ ११ ॥

नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः ।

उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि॒ च ॥१२॥

अराजक देश में प्रसन्न हो कर प्रजाजन (अस्वस्थ्य मन रहने के कारण) न तो सभा समाज करते, न रमणीक बाग् बगोचा लगवाते—(क्योंकि राजा के दण्ड का भय न रहने से लोग पेड़ काट हालते हैं) और न पुण्य बढ़ाने वाले देवालय (अथवा धर्मशालाएँ) आदि बनवाते हैं ॥ १२ ॥

नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः ।

३सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितत्रताः ॥१३॥

अराजक देश में न तो द्विजाति यज्ञ करते और न कठोर व्रत धारण करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण महायज्ञ हो कराते हैं (विघ्न के भय से) ॥ १३ ॥

१ नास्तिभार्या—व्यभिचार निरतत्वात् गृहे न तिष्ठतीत्यर्थः । (शि०)

२ पुण्यगृहाणि—देवतायतनादीनि । (गो०) ३ सत्राणि—महायज्ञान् । (गो०)

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः ।

ब्राह्मणा वसुसम्पन्ना विसृजन्त्यापदक्षिणाः ॥ १४ ॥

अराजक राज्य में धनसम्पन्न ब्राह्मण भी वडे यज्ञों में ऋत्विजों को भूरि दक्षिणा नहीं देते ॥ १४ ॥

नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः ।

उत्सवाश्रै समाजाश्रै वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः ॥ १५ ॥

अराजक राज्य में नट और बेड़िया लोग भी (आजीविका के अभाव से) प्रसन्न नहीं रहते । और न वहाँ देश की वृद्धि करने वाले देवोत्सव होते हैं और न तीर्थों पर यात्रियों के मेले आदि ही लगते हैं ॥ १५ ॥

नाराजके जनपदे सिद्धार्थाः व्यवहारिणः ।

कथाभिरनुरज्यन्ते कथाशीलाः कथाप्रियैः ॥ १६ ॥

अराजक राज्य में व्यवहार करने वालों में (रूपये का लैन दैन करने वालों में) अथवा (माल बेचने खरीदने वालों में) विवाद उपस्थित होने पर, किसी का भी प्रयोजनसिद्ध नहीं होता अर्थात् मुकदमा लड़ने वालों का न्याय (राजा के अभाव से) नहीं होता । (राजा के न रहने से पुरस्कार के अभाव में) कथा बाज़ने वाले अच्छी कथा बांच कर कथा सुनने वालों को सन्तुष्ट नहीं करते ॥ १६ ॥

१ आपदक्षिणाः—भूरिदक्षिणाः । (गो०) २ उत्सवाः—देवतोत्सवाः । (गो०) ३ समाजाः—तीर्थयात्राः । (गो०) ४ सिद्धार्थाः—लङ्घप्रयोजनाः । (गो०) ५ व्यवहारिणः—कमप्यर्थमुद्दिश्यान्योन्यं विवदमानाः । (गो०)

नाराजके जनपदे उद्यानानि समागताः ।

सायाहै क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः ॥ १७ ॥

अराजक राज्य में सोने के गहने धारण कर कुमारियाँ साय-
ङ्काल के समय वाटिका और उपवन में खेलने नहीं जातीं (क्योंकि
राजा के अभाव से चोर दुष्टों का भय रहता है) ॥ १७ ॥

नाराजके जनपदे वाहनैः शीघ्रगामिभिः ।

नरा निर्यान्त्यरण्यानि नारीभिः सह कामिनः ॥ १८ ॥

अराजक राज्य में कामी पुरुष तेज़ चलने वाली सवारियों में
बैठ, स्थियों सहित वनविहार करने नहीं जाते ॥ १८ ॥

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः ।

शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः ॥ १९ ॥

अराजक राज्य में धनी सुरक्षित नहीं रह सकते और न किसान
और खाले गड़रिये ही अपने घरों के किवाड़ खाल ढंडी हवा में
सुख से सो सकते हैं ॥ १९ ॥

नाराजके जनपदे वद्धघण्टा विषाणिनः^१ ।

अटन्ति राजमार्गेषु कुञ्जराः पष्टिहायनाः^२ ॥ २० ॥

अराजक राज्य में हाथी, जो साठ वरस की उम्र के होने पर,
बड़े बड़े दातों वाले हो जाते हैं, घंटों को धनधनाते राजमार्गों पर
नहीं चल सकते (क्योंकि गुण्डे उनके दातों ही को काट
लें) ॥ २० ॥

^१ विषाणिनः—प्रशस्तदन्ताः । (गो०) ^२ पष्टिहायनाः—षष्टिवर्षाः ।

नाराजके जनपदे शरान्सतन्तम् स्यताम् ।

श्रूयते तलनिर्देष इष्वस्त्राणामुपासने॑ ॥ २१ ॥

अराजक देश में बाणविद्या का अभ्यास करने वाले धनुर्दर्शों के हस्ततल का शब्द नहीं सुन पड़ता ॥ २१ ॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः ।

गच्छन्ति क्षेममध्वानं बहुपण्यसमाचिताः ॥ २२ ॥

अराजक जनपद में दूर देशों में सौदागर लोग बेचने के लिये बहुत सा माल ले कर निर्भय हो अथवा सकुशल यात्रा नहीं कर सकते ॥ २२ ॥

नाराजके जनपदे चरत्येकचरो वशी॒ ।

भावय॑ नात्मनात्मानं॒ यत्र सायंगृहो मुनिः ॥ २३ ॥

अराजक देश में, अकेले घूमने वाले, जितेन्द्रिय और अपने आत्मा से परमात्मा का चिन्तवन करने वाले (अर्थात् परब्रह्म का ज्ञान करने वाले) मुनि, सन्ध्याकाल होने पर किसी के द्वार पर नहीं टिकते (क्योंकि कोई उन्हें भोजन नहीं देता ।) अथवा अराजक देश में जितेन्द्रिय मुनि लोग, परमेश्वर का एकान्त में भजन करते हुए दिन भर घूम फिर सायंकाल होने पर, किसी के द्वार पर नहीं टिकते ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते ।

न चाप्यराजके सेना शत्रून्॑ विषहते युधि ॥ २४ ॥

१ अस्यतां—क्षिपतां । (गो०) २ उपासने—अभ्यासे । (गो०)

३ वशी—जितेन्द्रियः । (गो०) ४ भावयन्—चिन्तयन् । (गो०) ५ आत्मन—परमात्मनं । (गो०) ६ विषहते—जयति । (गो०)

अराजक राज्य में न तो अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओं की रक्षा हो सकती और न विना नायक की सेना रण में शत्रु को जीत सकती है ॥ २३ ॥

नाराजके जनपदे हृष्टैः परमवाजिभिः ।

नराः संयान्ति सहसा रथैश्च परिमण्डिताः ॥ २५ ॥

अराजक देश में उत्तम घोड़ों और रथों पर बैठ कोई भी स्वयं सजधज कर बेखटके एकाइकी बाहर नहीं निकल सकता ॥ २५ ॥

नाराजके जनपदे नराः शास्त्रविशारदाः ।

संवदन्तोऽवतिष्ठन्ते वनेषु नगरेषु च ॥ २६ ॥

अराजक राज्य में शास्त्रज्ञानी लोग वन में या नगर में बैठ निर्भीक हो परस्तर शास्त्र सम्बन्धी विचार करते हुए, नहीं रह सकते ॥ २६ ॥

नाराजके जनपदे माल्यमोदकदक्षिणाः ।

देवताभ्यर्चनार्थाय कल्प्यन्ते^२ नियतैर्जनैः३ ॥ २७ ॥

संयमी लोग, अराजक देश में, देवताओं की पूजा के लिये माला, लड्डू, दक्षिणादि कोई भी पूजा को सामग्री प्रस्तुत नहीं कर सकते ॥ २७ ॥

नाराजके जनपदे चन्द्रनागरूपिताः ।

राजपुत्रा विराजन्ते वसन्त इव शाखिनः ॥ २८ ॥

१ परिमण्डिताः—भूषिताः । (गो०) २ कल्प्यन्ते—सम्पाद्यन्ते । (गो०)

३ नियतैर्जनैः—यतचित्तैर्जनैः । (शि०) ४ रूपिताः—लिप्ताः । (गो०)

अराजक राज्य में राजकुमार चन्दन और अगर से चर्चित हो कर (अर्थात् शरीर में लगा कर) वसन्त ऋतु के पेड़ों की तरह शोभायमान् नहीं हो सकते ॥ २८ ॥

यथा हनुदका नदो यथा वाऽप्यतुणं वनम् ।

अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रपराजकम् ॥ २९ ॥

जैसे विना जल की नदी, अथवा विना व्रात फूस का वन, अथवा विना चरवाहे को जौएँ होती हैं, वैसा ही विना राजा का राष्ट्र है ॥ २९ ॥

ध्वजो रथस्य प्रज्ञानं^१ धूमो ज्ञानं^२ विभावसेः ।

तेषां यो नो ध्वजोः^३ राजा स देवत्वमितो^४ गतः ॥ ३० ॥

जिस प्रकार रथ का ज्ञापक चिन्ह उसकी ध्वजा होती है, जिस प्रकार अग्नि का ज्ञापक चिन्ह धुमी होता है, उसी प्रकार हम लोगों के प्रकाशक चिन्ह स्वरूप जो महाराज थे, वे यहाँ से मर कर देवयोनि को प्राप्त हो गये हैं । (अतः यह देश इस समय अराजक है) ॥ ३० ॥

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित् ।

मत्स्या इव नरा नित्यं भक्षयन्ति परस्परम् ॥ ३१ ॥

अराजक देश में कोई किसी का नहीं होता, मछलियों की तरह लोग आपस में एक दूसरे को मार कर खा जाते हैं ॥ ३१ ॥

१ प्रज्ञानं—ज्ञापकं । (गो०) २ ज्ञानं—लिङ्गं । (गो०) ३ ध्वजः—प्रकाशकः । (गो०) ४ इतः—अस्मालोकात्प्रेत्य देवत्वं गत इत्यर्थः । (गो०)

ये हि सम्भन्नमर्यादा^१ नास्तिकाश्छब्दसंशयाः^२ ।

तेऽपि भावाय^३ कल्पन्ते^४ राजदण्डनिपीडिताः ॥ ३२ ॥

जो लोग वर्णश्रम धर्म की मर्यादा को त्याग नास्तिक हो जाते हैं, किन्तु राजदण्ड के डर से दबे रहते हैं, वे भी अराजक देश में राजदण्ड के भय से निर्भय हो, लोगों पर अपना प्रभाव डालते हैं अथवा अपना प्रभुत्व प्रकट करते हैं ॥ ३२ ॥

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते ।

तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः ॥ ३३ ॥

जिस प्रकार दृष्टि, या आँखें शरीर की भलाई करने और बुराई दूर करने में सदा ही तत्पर रहती हैं—उसी प्रकार राजा भी अपने राज्य में सत्य व धर्म का प्रचार कर राष्ट्र की भलाई करने में और दुष्टात्माओं का शासन कर बुराई दूर करने में सदा तत्पर रहता है ॥ ३३ ॥

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां^५ कुलमूर्ति ।

राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम् ॥ ३४ ॥

राजा ही सत्य और धर्म का प्रजा में प्रवर्तक है, राजा ही कुलीनोचित कुलाचार का प्रवर्तक है, राजा ही प्रजा का मा बाप है और राजा ही प्रजाजनों का हितसाधन करने वाला अर्थात् हितैषी है ॥ ३४ ॥

^१ सम्भन्नमर्यादा:—उल्लङ्घितस्वस्वजातिवर्णश्रममर्यादाः । (गो०) २ छिन्न-संशयाः—राजदण्डशङ्खारहिताः । (गो०) ३ भावाय—सद्भावाय, प्रभावायवा । (गो०) ४ कल्पन्ते—समस्तदैषिकपीडासमर्थभवन्तीत्यर्थः । (गो०) ५ कुलवतां—क्षेत्रवीजशुद्धवतां । (गो०) ६ कुलं—कुलाचारप्रवर्तकः । (गो०)

यमो वैश्रवणः शक्रो वरुणश्च महावलः ।

विशेष्यन्ते १ नरेन्द्रेण२ वृत्तेन महता ततः ॥ ३५ ॥

अपने कर्त्तव्य का भली भाँति पालन करने वाला एक राजा—
यम, कुवेर, इन्द्र और वरुण से भी बड़ा है ॥ ३५ ॥

अहो तम इवेदं स्यान् प्रज्ञायेत किञ्चन ।

राजा चेन्न भवेल्लोके विभजनसाध्वसाधुनी ॥ ३६ ॥

शिष्ट और अशिष्टों का विभाग कर के प्रजा का पालन करने के
लिये, यदि राजा न हो तो सारे राज्य में अन्येर मच जाय—कोई
किसी को न पूँछे ॥ ३६ ॥

जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम् ।

नातिक्रमापहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः ॥ ३७ ॥

हे द्विजश्रेष्ठ ! (वशिष्ठ जी) जब महाराज जीवित थे तब भी
हम लोगों ने आपकी आङ्गा उसी प्रकार कभी उल्लङ्घन नहीं की
जिस प्रकार समुद्र अपनी सीमा उल्लङ्घन नहीं करता ॥ ३७ ॥

स १ नः४ समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं

नृपं विना राज्यमरण्यभूतम् ।

कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं*

त्वमेव राजानमहाभिषिञ्च ॥ ३८ ॥

इति सप्तशतिमः सर्गः ॥

१ विशेष्यन्ते—अधः क्रियन्ते । (गा०) २ नरेन्द्रेण —महतावृत्तेन सर्वे
प्रकाररक्षणरूपचरित्रेण । (गो०) ३ सः—त्वं । (गो०) ४ नः—अस्माकं । (गो०)
५ वृत्तं—अराजकत्वप्रभुषितसर्वकृत्यं । (गो०) * पाठान्तरे—“वदान्यं । ”

हे दिनश्रेष्ठ ! हमारे वर्णित अराजक राज्य के दोषों पर विचार कर इस राष्ट्र का—जो राजा के न रहने से जंगल जैसा हो रहा है, किसी को चाहे वह इदं ब्राह्मण कुल हो अथवा अन्य कोई हो—राजा बना दीजिये ॥ ३८ ॥

अयोध्याकाण्ड का सरसठवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:-:—

अष्टष्टितमः सर्गः

—*:—

तेषां हि वचनं श्रुत्वा वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

‘मित्रामात्यगणान्सर्वान्ब्राह्मणां’ स्तानिदं वचः ॥ १ ॥

उन लोगों के मुख से ऐसी बातें सुन वशिष्ठ जी, हितैषी सुमंत्रादि मंत्रियों और मार्कण्डेयादि ब्राह्मणों से यह बोले ॥ १ ॥

यदसौ मातुलकुले दत्तराज्यः परंसुखी ।

भरतो वसति भ्रात्रा शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ २ ॥

महाराज, भरत को राज्य दे गये हैं । वे भरत अपने भाई शत्रुघ्न के साथ मामा के घर परम सुखपूर्वक निवास कर रहे हैं ॥ २ ॥

तच्छीघ्रं जवनाः दूता गच्छन्तु त्वरितैर्हयैः ।

आनेतुं भ्रातरौ वीरौ किं समीक्षामहे वयम् ॥ ३ ॥

१ मित्रामात्यगणान्—मित्रभूतामात्यगणान् सुमन्त्रादीन् । (गो०) २ ब्राह्मणान्—मार्कण्डेयादीन् । (गो०) ३ जवनाः—वैगवन्तः । (गो०)

अतः शीघ्र चलने वाले बोड़ों पर शीघ्रगामी दूत उन दोनों राजकुमारों को लिखा लाने के लिये जाय। इसके अतिरिक्त और इस विषय में विचार ही क्या हो सकता है। (अथात् महाराज भरत को राज्य दे गये हैं—अतः सिवाय उनके दूसरे को राज्य देने के सम्बन्ध में विचार नहीं हो सकता) ॥ ३ ॥

गच्छन्त्वति ततः सर्वे वसिष्ठं वाक्यमब्रुवन् ।

तेषां तु वचनं श्रुत्वा वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

तब सब ने ही वशिष्ठ जी से कहा कि, दूत अभी जाने चाहिये। उनका यह वचन सुन वशिष्ठ जी बोले ॥ ४ ॥

एहि सिद्धार्थं विजयं जयन्ताशोकनन्दनं ।

श्रूयतामितिकर्तव्यं सर्वानेव ब्रवीमि वः ॥ ५ ॥

हे सिद्धार्थ ! हे विजय ! हे जयन्त ! हे अशोकनन्दन ! तुम सब यहाँ आओ और तुम लोगों को जो इस समय करना चाहिये, वह मैं कहता हूँ—तुम सब सुनो ! ॥ ५ ॥

पुरं राजगृहं गत्वा शीघ्रं शीघ्रजवैर्हयैः ।

त्यक्तशोकैरिदं वाच्यः शासनाद्वरतो मम ॥ ६ ॥

तुम सब शीघ्रगामी बोड़ों पर सवार हो कर, शीघ्र राजगृह नामक पुर को जाओ और शोक रहित हो, भरत से मेरा यह अनुशासन कहो ॥ ६ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ७ ॥

कि पुरोहित वशिष्ठ जी ने तथा सब मंत्रियों ने तुमसे कुशल क्षेम कहा है और ये कहा है कि, बड़ा ज़रूरी काम है अतः तुम शीघ्र यहाँ आओ ॥ ७ ॥

मा चास्मै प्रोषितं रामं मा चास्मै पितरं मृतम् ।

भवन्तः शंसिषुर्गत्वाः राघवाणामिमं क्षयम् ॥ ८ ॥

किन्तु सावधान ! रघुवंशियों के तेजक्षय (नामोसी की बात) का यह वृत्तान्त कि, श्रीरामचन्द्र वन गये और महाराज स्वर्ग वासी हुए, लहाँ मत कहना ॥ ८ ॥

कौशेयानि च वस्त्राणि भूषणानि वराणि च ।

क्षिप्रमादाय राज्ञश्च भरतस्य च गच्छत ॥ ९ ॥

केक्यराज और भरत के लिये इन रेशमी वस्त्रों और (बहुमूल्य-वान) सुन्दर आभूषणों को ले कर तुरन्त चले जाओ ॥ ९ ॥

दत्तपथ्यशना दूता जग्मुः स्वंस्वं निवेशनम् ।

केक्यांस्ते गमिष्यन्ते हयानारुद्ध संमतान् ॥ १० ॥

वशिष्ठ जी के बचन सुन और मार्ग के लिये भोजन ले कर दूत लोग अपने अपने घर गये और फिर तेज और बहुत दूर की यात्रा करने में अभ्यस्त घोड़ों पर चढ़, तुरन्त केक्यराज की राजधानी की ओर जाने के लिये तैयार हुए ॥ १० ॥

ततः प्रास्थानिकं^१ कृत्वा कार्यशेषमनन्तरम्^५ ।

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञाता दूताः सन्त्वरिता युः ॥ ११ ॥

^१ माशंसिषुः—माकथयन्तु । (८०) ^२ राज्ञः—केक्यराजस्य । (८०)

^३ संमतान्—जवनत्वेनाध्वश्रम सहात्वेन च संमतान् । ^४ प्रास्थानिकं—प्रस्थान प्रयोजकं । (८०) ^५ कार्यशेषमनन्तरम्—पाथेयादिकंचकृत्वा । (८०)

वे दूत यात्रा की आवश्यक सामग्री तथा पाथेय (रास्ते में खाने के लिये भोजन) ले, और वशिष्ठ जो से विदा हो बड़ी तेज़ी से रवाना हुए ॥ ११ ॥

१ न्यन्तेनापरता रेलस्य प्रलम्बः स्योत्तरप्रति ।

निषेवमाणास्ते जग्मुर्नदीं मध्येन मालिनीम् ॥ १२ ॥

अपरताल नामक पहाड़ के दक्षिण और प्रलंब नामक पहाड़ के उत्तर अर्थात् इन्हीं पहाड़ों की मध्यवर्तिनो मालिनी नदी के किनारे किनारे वे पश्चिम की ओर चलते गये ॥ १२ ॥

ते हस्तिनपुरे गङ्गां तीर्त्वा प्रत्यङ्ग्मुखा ययुः ।

पाञ्चालादेशमासाद्य मध्येन कुरुजाङ्गलम् ॥ १३ ॥

उन्होंने हस्तिनापुर के समीप पहुँच गङ्गा पार की । फिर पश्चिमाभि तु ख चल पञ्चाल तथा कुरुजाङ्गल के बीच में पहुँचे ॥ १३ ॥

सरांसि च सुपूर्णानि नदीश्च विमलोदकाः ।

निरीक्षमाणास्ते जग्मुर्दूताः कार्यवशाद्द्रुतम् ॥ १४ ॥

रास्ते में उन लोगों ने बहुत से जल से लवालद भरे तालाब तथा निर्मल जल घाली नदियाँ देखीं । किन्तु काम की त्वरा होने के कारण (वे लोग उन रम्य सरोवरों अथवा नदियों के तट पर ठहरे नहीं) वे शीघ्र शीघ्र चले जाते थे ॥ १४ ॥

ते प्रसन्नोदां दिव्यां नानाविहगसेविताम् ।

उपातिजग्मुर्वेगेन शरदण्डां जनाकुलाम् ॥ १५ ॥

१ अपरतालस्य—अपरताला नामगिरःतस्य + (गो०) २ न्यन्तेन—नितरामन्तेन — चरमप्रदेशेनेत्यर्थः । (गो०) ३ प्रलंबस्य—प्रलम्बाख्यगिरेः । (गो०) ४ उत्तरप्रति—उत्तरभाग्यमुदिश्य । (गो०)

तदनन्तर वे लोग तरह तरह के जलचर पक्षियों से सेवित,
और निर्मल जल से पूर्ण शरदण्डा नाम्नो नदो के तट पर^१ पहुँचे ॥ १५ ॥

निकूलवृक्षमासाद्य दिव्यं^२ सत्योपयाचनम् ।

अभिगम्याभिवाद्यं तं कुलिङ्गां प्राविशन्पुरीम् ॥ १६ ॥

शरदण्डा नदी के तोर पर सत्योपयाचन नाम का एक पूज्य वृक्ष था । दूनों ने उस बंदनीय वृक्ष की परिक्रमा कर कुलिङ्गा नामक नगरी में प्रवेश किया ॥ १६ ॥

[इस वृक्ष में यह गुण था कि इससे जो प्रार्थना की जाती, उसे यह पूरी करता था, इसीसे उसका नाम “सत्योपयाचन” पड़ गया था ।]

अभिकालं ततः प्राप्य ते वोधिभवनाच्छ्युताः^३ ।

पितृपैतामहीं^४ पुण्यां तेरुरक्षुमतीं नदीम् ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन्हें अभिकाल नामक ग्राम मिला । निर वे वोधिभवन नामक पर्वत से निकलो हुई इक्षुमती नामकी उस नदी के पार हुए जिसके तट के गाढ़ों पर कभी महाराज दशरथ के पूर्वजों का राज्य था ॥ १७ ॥

अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान् ।

ययुर्मध्येन बाह्नीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥ १८ ॥

१ दिव्यं—देवाधिष्ठानवत् । (गो०) २ अभिगम्य—प्रदक्षिणोक्त्य ।
(गो०) ३ अभिवाद्यं—सर्वेनमस्कार्यं । (गो०) ४ वोधिभवनात्श्युता—
तदाख्यात् पर्वतात् । (गो०) ५ पितृपैतामहीं—दशरथवंश्यानुभूतां । तन्तीर
प्रदेशग्रामा हक्षवाकूणामितिभावः । (गो०)

दूतों ने इन्हु नदी के तट पर श्रंजुलि भर जल पी कर रहने वाले, वेदवित् ब्राह्मणों को देखा । वालहीक नामक देश में हो कर जाते समय उनको सुदामा नामक पर्वत मिला ॥ १८ ॥

विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शालमलीम् ।

नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसि च ॥ १९ ॥

उस पर्वत पर विष्णु भगवान् के पदचिन्ह के दर्शन कर, उन्हें, विपाशा, शालमली आदि अनेक नदियाँ, वावड़ी, तालाब और सरोवरें मिलीं ॥ १९ ॥

पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान् ।

ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥ २० ॥

वे लोग विविध प्रकार के सिंह, व्याघ्र, हाथी आदि वन्य जन्तुओं को देखते हुए स्वामी की आङ्गा का पालन करने को बराबर उस लंबे मार्ग पर चले जाते थे ॥ २० ॥

ते श्रान्तवाहना दूता विकृष्टेनः पथा ततः ।

गिरिव्रजं पुरवरं शीघ्रैमासेदुरञ्जसाः ॥ २१ ॥

बहुत दूर चलने के कारण वे सब दूत (और उनके घोड़े) श्रान्त (थक) हो गये थे । तिस पर भी वे शीघ्र गिरिव्रज नामक केक्यराज के श्रेष्ठ पुर में बहुत शीघ्र जा पहुँचे ॥ २१ ॥

भर्तुः प्रियार्थं कुलरक्षणार्थं

भर्तुश्च वंशस्य परिग्रहार्थम् ।

१ विकृष्टेन — अतिदूरेण । (गो०) २ शीघ्रशब्दसाक्षिध्येन । (गो०)

३ अञ्जसामानसत्वरोच्यते । ४ परिग्रहार्थ — प्रतिष्ठार्थ । (गो०)

अहेडमाना॑स्त्वरया स्म दूता
रात्र्यां तु ते तत्पुरमेव याताः ॥ २२ ॥
इति अष्टषष्ठितमः सर्गः ॥

श्रीपणे स्वामी अर्थात् महाराज दशरथ का प्रियकार्य (भरत को ले जा कर महाराज के शव का दाहादि कर्म) करवाने को, कुल को रक्षा के लिये और महाराज दशरथ के वंश को प्रतिष्ठा के लिये, बड़े आदर के साथ, जलदी के कारण रात ही में उन दूतों ने उस पुर में प्रवेश किया ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अरसठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:०:—

एकोनसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

यामेव रात्रिं ते दूताः प्रविशन्ति स्म तां पुरीम् ।

भरतेनापि तां रात्रिं स्वग्ने दृष्टोऽयमप्रियः ॥ १ ॥

जिस रात को वे दूत उस नगर में पहुँचे, उसी रात में भरत ने भी एक अशुभ स्वप्न देख ॥ १ ॥

व्युष्टमेव तु तां रात्रिं दृष्टा तं स्वमप्रियम् ।

पुत्रो राजाधिराजस्य सुभृशं पर्यतप्यत ॥ २ ॥

राजाधिराज के पुत्र ने वह बुरा स्वप्न, रात्रि के अन्तिम पहर में देखा था (रात्रि के अन्तिम पहर का देखा हुआ शुभाशुभ स्वप्न

^१ अहेडमानाः—अनादरम्भुर्वाणाःसादराइतियावत् । (गो०)

का फल तुरन्त होता है—अतः) भरत जी बहुत घबड़ाए हुए थे ॥ २ ॥

तप्यमानं समाज्ञाय वयस्याः प्रियवादिनः ।

आयासं^१ हि विनेष्यन्तः सभायां चक्रिरे कथाः ॥३॥

उनको घबड़ाया हुआ अथवा उदास देख, उनके समवयस्क (हमजोली) अथवा उनके साथ डठने बैठने वाले तथा प्रियवचन बोलने वाले मित्र, उनका खेद मिटाने के लिये, सभा में नाना प्रकार की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

वादयन्ति तथा शान्ति लासयन्त्यपि चापरे ।

नाटकान्यपरे प्राहुर्दास्यानि विविधानि च ॥ ४ ॥

उनमें से कोई कोई भरत जी का खेद मिटाने के लिये बोला बजाने लगे कोई कोई दुमुक दुमुक नाचने या थिरकने लगे । कोई कोई नार्थ करने लगे, और कोई हास्य कथा कहने लगे ॥ ४ ॥

स तैर्महात्मा भरतः सखिभिः प्रियवादिभिः ।

गोष्ठीहास्यानि कुर्वद्दिनं प्राहृष्यत राघवः ॥ ५ ॥

उन प्रियवचन बोलने वाले मित्रों द्वारा अनेक प्रकार से भरत जी को (खेद दूर करने के लिये और) हँसाने के लिये अनेक प्रयत्न किये जाने पर भी, भरत जी का मानसिक खेद दूर न हो सका ॥ ५ ॥

तमब्रवीत्प्रियसखोऽ भरतं सखिभिर्वृत्तम् ।

सुहृद्दिः पर्युपासीनः किं सखे नानुमोदसे ॥ ६ ॥

१ आयासं—मनःखेदं । (गो०) २ लासयन्ति—लास्यंकुर्वन्ति
लास्यं—सुकुमारनृतं । (गो०) ३ प्रियसखः—अन्तरद्वासुहृत् (गो०) ।

मित्रों के बीच बैठे भरत जी से उनके एक अत्यन्त अन्तरङ्ग मित्र ने कहा, हे मित्र ! हम लोगों के इतना प्रयत्न करने पर भी तुम हर्षित करों नहीं होते ॥ ६ ॥

एवं ब्रुवाणं सुहृदं भरतः प्रत्युवाच तम् ।

श्रृणु त्वं यन्निमित्तं मे दैन्यमेतदुपागतम् ॥ ७ ॥

इस प्रकार इस मित्र के कहने पर भरत जी बोले—हे मित्र ! मेरे मन के उदास होने का कारण सुनो ॥ ७ ॥

स्वप्ने पितरमद्राक्षं मलिनं मुक्तमूर्धजम् ।

पतन्तमद्रिशिखरात्कलुषे गोमयेहृदे* ॥ ८ ॥

मैंने स्वप्न में मैंले कपड़े पहने और सिर के बाल खोले हुए अपने पिता को पर्वत की चोटी से बुरे गोबर के गड्ढे में गिरते हुए देखा है ॥ ८ ॥

पुवमानश्च' मे दृष्टः स तस्मिन्गोमयेहृदे ।

पिवन्नञ्जलिना तैलं हसन्नपि मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥

और देखा है कि, वह उस गोबर के कुण्ड में मैडक की तरह तैरते तैरते बारंबार हँस कर अञ्जलि भर भर कर तेल पी रहे हैं ॥ ९ ॥

ततस्तिलौदनं भुक्त्वा पुनः पुनरधःशिराः ।

तैलेनाभ्यक्तसर्वाङ्गस्तैलमेवावगाहत ॥ १० ॥

यह भी देखा है कि, महाराज तिल मिश्रित भात खा कर बारंबार मस्तक नीचे सुका कर, सर्वाङ्ग में तेल लगाये हुए हैं और तेल ही में छूब रहे हैं ॥ १० ॥

* पुवमानः—मण्डूकवत् । (गो०) * पाठान्तरे—“गोमयहृदे ” ।

स्वमेऽपि सागरं शुष्कं चन्द्रं च पतितं भुवि ।

उपरुद्धां च जगतीं तमसेव समावृताम् ॥ ११ ॥

मैंने दूसरा स्वप्न यह देखा है कि, समुद्र सूख गया है, चन्द्रमा ढूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा है, सारी पृथिवी पर अंधेरा छाया हुआ है ॥ ११ ॥

औपवाहस्य नागस्य विषाणं शकलीकृतम् ।

सहसा चापि संशानं ज्वलितं जातवेदसम् ॥ १२ ॥

प्रहाराज की सवारी के हाथी के दाँतों के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं, और प्रज्वलित आग सहसा बुझ गयी है ॥ १२ ॥

अवतीर्णां^१ च पृथिवीं शुष्कांश्च विविधान्दुमान् ।

अहं पश्यामि विध्वस्तान्सधुमांश्चापि पर्वतान् ॥ १३ ॥

पृथिवी नीचे धस गयी है और अनेक प्रकार के वृक्ष सूख गये हैं। मैंने देखा है कि, पर्वतों के टुकड़े टुकड़े हो गये हैं और उनमें से धुआं निकल रहा है ॥ १३ ॥

पीठे काषण्यसे चैनं निषणं कृष्णवाससम् ।

प्रहसन्ति स्य राजानं प्रमदाः कृष्णगिङ्गलाः ॥ १४ ॥

महाराज काले लोहे के पीढ़े पर काले वस्त्र पहने हुए बैठे हैं और काली तथा पीले रंग को स्थिरां उनका उपहास कर रही हैं ॥ १४ ॥

त्वरमाणश्च धर्मात्मा रक्तमाल्यानुलेपनः ।

रथेन खरयुक्तेन प्रयातो दक्षिणामुखः ॥ १५ ॥

^१ अवतीर्णां—अधःपतितां । (गो०)

धर्मत्मा महाराज लाल चन्दन शरीर में लगाये और लाल ही फूलों की माला पहिने हुए गधों से खींचे जाने वाले रथ में बैठ शीघ्रता पूर्वक दक्षिण दिशा की ओर चले जा रहे हैं ॥ १५ ॥

प्रहसन्तीव राजानं प्रमदा रक्तवासिनी ।

प्रकर्षन्ती मया दृष्टा राक्षसी विकृतानना ॥ १६ ॥

एक चिकट बदला राक्षसी जो लालबख पहिने हुए है, अद्वैतास करती हुई महाराज को पकड़ कर ज़बरदस्ती खींच रही है ॥ १६ ॥

एवमेतन्मया दृष्टमिमां रात्रि भयावहाम् ।

अहं रामोऽथवा राजा लक्ष्मणो वा मरिष्यति ॥ १७ ॥

मैंने रात में ऐसे भयानक स्वप्न देखे हैं, इससे यह निश्चय बोध होता है कि, मैं या राम या महाराज अथवा लक्ष्मण को मृत्यु होगी ॥ १७ ॥

नरो यानेन यः स्वप्ने खरयुक्तेन याति हि ।

अचिरात्स्य धूमाग्रं चितायां सम्प्रदश्यते ॥ १८ ॥

क्योंकि जो मनुष्य स्वप्न में गधे जुते हुए रथ पर सवार हो यात्रा करता है, उसका थोड़े ही दिनों में चिता में धुआं निकलता हुआ देख पड़ता है ॥ १८ ॥

एतन्निमित्तं दीनोऽहं तन्न वः प्रतिपूजये ।

शुष्यतीव च मे कण्ठो न स्वस्थमिव मे मनः ।

न पश्यामि भयस्थानं भयं चैवोपधारये ॥ १९ ॥

बस मेरे उदास होने का यही कारण है और इसीलिये आप लोगों की बातें मुझे नहीं भारीं। मेरा गला सुखा जा रहा है और

मेरा मन ठिकाने नहीं है यद्यपि इस समय भय का कोई कारण देख नहीं पड़ता, तथापि मन से खटका दूर नहीं होता ॥ १६ ॥

भ्रष्टश्च^१ स्वरयोगो^२ मे छाया चोपहता मम ।

जुगुप्सन्निव चात्मानं न च पश्यामि कारणम् ॥२०॥

इसीसे मेरा कण्ठस्वर भी बिगड़ गया है अर्थात् आवाज़ भारी पड़ गयी है, और मेरे शरीर की कान्ति भी जाती रही है। मैं जानता हूँ कि, यह अवश्यभावी विपत्ति है इससे डरना बुरी बात है, तो भी मेरे मन में जो खटका उत्पन्न हो गया है उसको दूर करने का कोई उपाय मुझे नहीं सूझ पड़ता ॥ २० ॥

इमां हि दुःस्वभगतिं *निशम्य ता-

मनेकरूपामवितर्कितां पुरा ।

भयं महत्तद्वदयान् याति मे

विचिन्त्य राजानमचिन्त्यदर्शनम्^३ ॥ २१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

पहले कभी इस प्रकार के खोटे स्वप्न की तर्कना भी नहीं हुई थी, किन्तु अब जब से यह स्वप्न देखा है तब से मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गयी है कि, जाने महाराज के दर्शन फिर हों कि नहीं ; इसीसे मेरा मन अत्यन्त भयभीत हो गया है ॥ २१ ॥

श्रयोध्याकाशड का उनहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



१ छाया—कान्तिः । (गो०) २ स्वरयोगः—युक्तस्वरः । (शि०)

३ अचिन्त्यदर्शनम्—असम्भाव्यदर्शनम् । (गो०) * पाठान्तरे—“निशम्य” ।

सप्ततितमः सर्गः

—०—

भरते ब्रुवति स्वप्नं दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।

प्रविश्यासह्यपरिखं* रम्यं राजगृहं पुरम् ॥ १ ॥

भरत जो इस प्रकार अपने इष्ट मित्रों के साथ बातचीत कर ही रहे थे, कि थकाये अयोध्या के दूत रम्य राजगृहपुर में, जिसके चारों ओर इतनी बड़ी और गहरी खाई थी कि, उसे कोई लौघ नहीं सकता था, पहुँचे ॥ १ ॥

समागम्य च राजा^१ च राजपुत्रेण^२ चार्चिताः ।

राजाः पादौ गृहीत्वा तु तमूचुर्भरतं वचः ॥ २ ॥

दूतों ने प्रथम केक्यराज से, तदनन्तर राजकुमार युधाजित से भैंट को । राजपुत्र युधाजित ने उन दूतों का आदर सत्कार किया । अनन्तर दूतों ने केक्यराज को प्रणाम कर, भरत जी से कहा ॥ २ ॥

पुरोहितस्त्वां कुशलं प्राह सर्वे च मन्त्रिणः ।

त्वरमाणश्च निर्याहि कृत्यमात्ययिकं त्वया ॥ ३ ॥

राजपुरोहित वशिष्ठ जी ने और सब मंत्रियों ने आपसे कुशल-क्षेम कहा है और कहा कि, आप शोष्य अयोध्या आइये । क्योंकि यहाँ एक विशेष आवश्यक कार्य उपस्थित हुआ है ॥ ३ ॥

इमानि च महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च ।

प्रतिगृह्य विशालाक्ष मातुलस्य च दापय ॥ ४ ॥

१ राजा—केक्यराजेन । (गो०) २ राजपुत्रेण—युधाजिता । (गो०)
पाठान्तरे—“ परिखं ” ।

हे विशालाद ! ये महामूल्यवान वस्त्र और भूषण उन लोगों
ने भेजे हैं। इनको ले कर आप अपने मामा को दे दीजिये ॥ ४ ॥

अत्र विंशतिकोट्यस्तु^१ नृपतेर्मातुलस्य ते ।

दश कोट्यस्तु सम्पूर्णैस्तथैव च नृपात्मज ॥ ५ ॥

इनमें से लगभग बीस करोड़ के मूल्य के वस्त्राभूषण तो आपके
नाना के लिये हैं और लगभग दस करोड़ के मूल्य के आपके मामा
के लिये हैं ॥ ५ ॥

प्रतिगृह्य तु तत्सर्वं स्वनुरक्तः^२ सुहृज्जने^३ ।

दूतानुवाच भरतः कामैः^४ सम्प्रतिपूज्य तान् ॥ ६ ॥

भरत जी ने उन सब को ले और बड़े अनुराग के साथ वे सब
वस्त्राभूषण अपने नाना मामा को दे दिये। तदनन्तर दूतों को
भाजनादि की सामग्री द्वारा उनका सत्कार कर भरत जी उनसे
बोले ॥ ६ ॥

कच्चित्सुकुशली राजा पिता दशरथो मम ।

कच्चित्त्वारोगता रामे लक्ष्मणे वा महात्मनि ॥ ७ ॥

हे दूतों ! यह तो कहो, मेरे पिता महाराज दशरथ तो
प्रसन्न हैं ? महात्मा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण तो श्रारोत्य
हैं ? ॥ ७ ॥

१ विंशतिकोट्यः विंशतिकोटि मूल्यानि । (गो०) २ सम्पूर्णैः—अन्यूना ।
(गो०) ३ सुहृज्जने—मातुलादौः । (गो०) ४ स्वनुरक्तः प्रदाप्येतिशेषः ।
(गो०) ५ कामैः अभीष्टान्नपानादिभिः । (गो०)

आर्या॑ च धर्मनिरता॒ धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी॑ ।

अरोगा चापि॑ कौशल्या माता रामस्य धीमतः ॥८॥

धर्मनुष्ठानों के करने में तत्पर, धर्म के तत्व को जानने वाली और धर्मात्मा जनों को देखने वाली युज्य एवं ज्येष्ठा धीमान श्री-रामचन्द्र की माता कौशल्या तो निरोग है ? ॥ ८ ॥

कच्चित्सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या ।

शत्रुघ्नस्य च वीरस्य सरोगा चापि मध्यमा ॥ ९ ॥

धर्म का मर्म समझने वाली वीर लक्ष्मण और शत्रुघ्न की माता और महाराज की मफ्ली रानी सुमित्रा जी निरोग तो हैं ? ॥ ९ ॥

आत्मकामा॑ सदा चण्डी॒ क्रोधना प्राज्ञमानिनी ।

अरोगा चापि मे माता कैकेयी किमुवाच ह ॥ १० ॥

सदा स्वार्थ में तत्पर, उत्र और क्रोध स्वभाव वाली तथा अपने का सब से बढ़ कर बुद्धिमतो समझने वाली मेरी माता कैकेयी तो कुशल से है ? चलती बेर उन्होंने क्या कोई संदेश भी कहा है ? ॥ १० ॥

एवमुक्तास्तु ते दूता भरतेन महात्मना॑ ।

ऊचुः सप्तश्रयं वाक्यमिदं॑ तं भरतं तदा ॥ ११ ॥

१ आर्या—ज्येष्ठा मातृत्वेनपूजिता । (गो०) २ धर्मनिरता—धर्मा-
नुष्ठानपरा । (गो०) ३ धर्मदर्शिनी—धर्ममेवजनेषु पश्यतीतिः धर्मदर्शिनी ।
(गो०) ४ अपि—प्रश्ने । (गो०) ५ आत्मकामा—स्वप्रयोजनपरा । (गो०)
६ चण्डी—उप्रा । (गो०) ७ महात्मना—महाबुद्धिना । (गो०) ८
सप्तश्रयं—सप्तविनयं । (गो०)

बड़े बुद्धिमान् भरत जी का वचन सुन, दूतों ने विनय पूर्वक भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

कुशलास्ते नरव्याघ येषां कुशलमिच्छसि ।

श्रीश्च त्वां वृणुते पद्मा युज्यतां चापि ते रथः ॥१२॥

हे पुरुषसिंह ! आप जिनका कुशल चाहते हैं, वे कुशलपूर्वक हैं । इस समय लक्ष्मी आपको वरण करने के लिये उद्यत है, अतएव यात्रा के लिये आप अपना रथ जुतवाइये । (एक टोकाकार ने इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की व्याख्या इस प्रकार की है ; क्योंकि आपके मुखादि शारीरिक अंगों में इस समय ऐसी शोभा देख पड़ती है कि, जिससे किसी भी अमङ्गल की शङ्का नहीं हो सकती अतः अब आप अपना रथ जुतवावें) ॥ १२ ॥

भरतश्चापि तान्दूतानेवमुक्तोऽभ्यभाषत ।

आपृच्छेऽहं महाराजं दूताः सन्त्वरयन्ति माम् ॥१३॥

दूतों का वचन सुन भरत बोले—अच्छा, मैं महाराज से चलने की आशा माँगता हूँ और जा कर कहता हूँ कि, दूत लोग चलने के लिये बड़ी शोभता कर रहे हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा तु तान्दूतान्भरतः पार्थिवात्मजः ।

दूतैः सञ्चोदितो वाक्यं मातामहमुवाच ह ॥ १४ ॥

राजकुमार भरत दूतों से यह कह कर, दूतों के कथनानुसार नाना से जा कर बोले, ॥ १४ ॥

राजनिपुर्गमिष्यामि सकाशं दूतचोदितः ।

पुनरप्यहमेष्यामि यदा मे त्वं स्मरिष्यसि ॥ १५ ॥

हे राजन् ! अब मैं अपने पिता के पास जाऊँगा—क्योंकि, दूत लोग मुझे ले जाने के लिये जल्दी मन्त्रा रहे हैं। फिर जब आप मुझे याद करेंगे मैं आ जाऊँगा ॥ १५ ॥

भरतेनैवमुक्तस्तु तृपो मातामहस्तदा ।

तमुवाच शुभं वाक्यं शिरस्याग्राय राघवम् ॥ १६ ॥

भरत का वचन सुन कैक्यराज, भरत का मस्तक सुँध यह शुभ वचन बोले ॥ १६ ॥

गच्छ तातानुजाने त्वां कैकेयी सुप्रजास्त्वया ।

मातरं कुशलं ब्रूयाः पितरं च परन्तप ॥ १७ ॥

हे भरत ! कैकेयी तुम जैसे पुत्र को पा कर सुपुत्रवती हुई है। हे शत्रुघ्नदन ! मैं तुम्हें जाने की अनुमति देता हूँ। तुम वहाँ पहुँच कर अपनी माता और पिता से मेरा कुशल द्वेष कह देना ॥ १७ ॥

पुरोहितं च कुशलं ये चान्ये द्विजसत्तमाः ।

तौ च तात महेष्वासौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १८ ॥

पुरोहित वशिष्ठ जी तथा अन्य श्रेष्ठ ब्राह्मणों से तथा महा धनुर्दर श्रीराम और लक्ष्मण दानों भाइयों से कुशल द्वेष कह देना ॥ १८ ॥

तस्मै हस्त्युत्तमांशिचत्रान्कम्बलानजिनानि च ।

अभिसत्कृत्य^१ कैकेयो भरताय धनं ददौ ॥ १९ ॥

यह कह, कैक्यराज ने भरत जी को (विदाई में) उत्तम उत्तम हाथी, कीमती शाल दुशाले और मृगचर्म उनकी बड़ाई कर कर के दिये ॥ १९ ॥

रुक्मनिष्ठकृसहस्रे द्वे घोडशाश्वशतानि च ।

सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत् ॥ २० ॥

यह कह कर केकयराज ने सत्कारपूर्वक भरत जी को (विदाई में) उत्तम उत्तम हाथो, बढ़िया शाल दुशाले तथा धन (नकदी) दिया ॥ २० ॥

तथाऽमात्यानभिप्रेतान् विश्वास्यांश्च गुणान्वितान् ।

ददावश्वपतिः क्षिप्रं भरतायानुयायिनः ॥ २१ ॥

दो हज़ार गले में पहने जाने वाले कंठे, गुंजें, कटुले आदि आभूषण तथा सोलह सौ घोडे दिये और बड़े सत्कार के साथ धन दे कर, वह सब सामान अयोध्या पहुँचा देने के लिये नौकरों को आज्ञा दी । केकयराज ने भरत के साथ शीघ्रता पूर्वक जाने के लिये कई एक अपने विश्वासी और गुणवान अर्थात् बुद्धिमान मंत्री आदि कर दिये । (ये तो नाना ने विदाई को अब आगे मामा की विदाई का वर्णन है) ॥ २१ ॥

४ ऐरावतानैन्द्रशिरान् ५ नागान्वै प्रियदर्शनान् ।

खराञ्चीघ्रान्सुसंयुक्तान् ६ मातुलोऽस्मै धनं ददौ ॥ २२ ॥

भरत जी के युधाजित मामा ने, भरत जो को इरावत नामक तथा इन्द्रशिख नामक पर्वत पर उत्पन्न और देखने में बड़े सुन्दर हाथी तथा अपने जाने हुए शोध्रामी अनेक खच्चर भी दिये ॥ २२ ॥

१ निष्ठकः—वक्षोभूषणानि । (गो०) २ आदिशत्—आदायभिगच्छति भृत्यानाज्ञापयामास । (गो०) ३ अभिप्रेतान्—सहायभूतान् । (गो०) ४ ऐरावतान्—इरावत पर्वतभवान् । (गो०) ५ ऐन्द्रशिरात्—इन्द्रशिरारूप्य पर्वतभवान् । (गो०) ६ सुसंयुक्तान्—परिचितान् । (गो०)

अन्तःपुरेऽतिसंवृद्धान्व्याघ्रवीर्यबलान्वितान् ।

दंष्ट्रायुधान्महाकायाञ्चुनश्चोपायनं ददौ ॥ २३ ॥

युधाजित् मामा ने भरत को, इनके अतिरिक्त रनवास में पले हुए तथा वलवीर्य में व्याघ्र के तुल्य और बड़े बड़े दौतों वाले तथा बड़े डील डौल के कुत्ते भी दिये ॥ २३ ॥

स दत्तं केकयेन्द्रेण धनं तन्नाभ्यनन्दत ।

भरतः केकयीपुत्रो *गमनं त्वरयंस्तदा ॥ २४ ॥

परन्तु केकयराज की दो हुई इन वस्तुओं की ओर भरत जी ने ध्यान नहीं दिया । अनन्तर कैकेयीनन्दन भरत जाने के लिये शीघ्रता करने लगे ॥ २४ ॥

वभूव ह्यस्य हृदये चिन्ता सुमहती तदा ।

त्वरया चापि दूतानां स्वमस्यापि च दर्शनात् ॥ २५ ॥

एक तो भरत खोटा स्वप्न देखने से चिन्तित थे हो, तिस पर चलने के लिये दूतों के जलदी मचाने से वे और भी चिन्तित हो गये ॥ २५ ॥

स स्ववेशम व्यतिक्रम्य नरनागाश्वसंवृतम् ।

प्रपेदे सुमहच्छ्रीमानराजमार्गमनुत्तमम् ॥ २६ ॥

मनुष्य हाथो और घोड़ों को लिए हुए भरत जी अपने घर से निकले और उत्तम पवं बड़े लंबे राजमार्ग में आ कर उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

अभ्यतीत्य ततोऽपश्यदन्तःपुरमुदारधीः ।

ततस्तद्वरतः श्रीमानाविवेशानिवारितः ॥ २७ ॥

और उस मार्ग से हो कर उदार बुद्धि वाले भरत जी रनवास में गये। रनवास में जाते समय किसो ने उन्हें रोका नहीं ॥ २७ ॥

स मातामहमापृच्छ्य मातुलं च युधाजितम् ।

रथमारुद्ध भरतः शत्रुघ्नसहितो ययौ ॥ २८ ॥

भरत जी ने वहाँ पहुँच कर, नाना तथा मामा युधाजित से विदा माँगी। तदनन्तर शत्रुघ्न सहित रथ में सवार हो वहाँ से बैचल दिये ॥ २८ ॥

रथान्मण्डलचक्रांश्च योजयित्वा परःशतम् ।

उष्ट्रगोश्वखरैभृत्या भरतं यान्तमन्वयुः ॥ २९ ॥

तब अनेक नौकर अनेक रथों में घोड़े, ऊँट, बैल और खच्चर जोत, भरत के रथ को चारों ओर से घेर कर, उनके साथ रवाना हुए ॥ २९ ॥

बलेन गुप्तो भरतो महात्मा॑

सहार्यकस्यात्मसमैरमात्यैः॒ ।

आदाय शत्रुघ्नमपेतशत्रु-

र्गृहाद्ययौ सिद्ध इवेन्द्रलोकात् ॥ ३० ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

महाधैर्यवान् भरत नाना के आत्मसदृश विश्वासी मंत्रियों और सैनिकों से सुरक्षित हो एवं शत्रुघ्न को साथ ले राजभवन से उसी

१ महात्मा—महाधैर्यो भरतः । (गो०) २ आर्यकस्य—मातामहस्य ।

(गो०) ३ आत्मसमैः—स्वप्रभावसदृशैः । (गो०) ४ अपेतशत्रु—निष्कण्टकः सन् । (गो०)

प्रकार निर्भय हो चले, जिस प्रकार इन्द्रलोक से सिद्ध चलते हैं ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

[नोट—भरत जी राजगृह से अयोध्या जिस मार्ग से गये, वह राज मार्ग था । दूत जिस मार्ग से राजगृह गये थे, वह मार्ग समीप का था, किन्तु उसमें अनेक नदियाँ और पहाड़ पड़ते थे । भरत जी के साथ रथ हाथी घोड़े तथा अनेक मनुष्य थे अतः वह पहाड़ी मार्ग उनके लिये उपयुक्त न था अतः वे आम रास्ते से अयोध्या गये ।]

—:*:—

एकसस्तितमः सर्गः

—:०:—

स प्राढ्मुखो राजगृहादभिनिर्याय वीर्यवान्* ।

ततः सुदामां द्युतिमान्सन्तीर्यावेक्ष्य तां नदीम् ॥ १ ॥

पराक्रमी एवं तेजस्वी भरत राजगृह से रवाना हो कर, पूर्व की ओर चले । कुछ दूर पर उनको सुदामा नाम की नदी देख पड़ी । वे उस नदी के पार हुए ॥ १ ॥

हादिनीं दूरपारां च प्रत्यक्षोत्स्तरज्जिणीम्^१ ।

शतद्रूमतरच्छ्रीमान्दीमिक्ष्वाकुनन्दनः ॥ २ ॥

अनन्तर बड़े फाँट वाली हाइनी नदी मिली, तिस पीछे पश्चिम वाहिनी शतद्रू (सतलज) मिलीं । इन दोनों नदियों के भी इक्ष्वाकुनन्दन भरत पार हुए ॥ २ ॥

^१ प्रत्यक्षोत्स्तरज्जिणीम्—पश्चिमप्रवाहां नदीम् । (रा०) * पाठान्तरे—

“ राघवः ” ।

एलाधाने नदीं तीर्त्वा प्राप्य चापरपर्षटान्^१ ।

शिलामा^२ कुर्वतीं तीर्त्वा आग्नेयं शल्यकतनम् ॥ ३ ॥

फिर वे पलाधान गाँव के पास बहने वाली नदी को पार कर पर्षपट नामक ग्राम में पहुँचे । फिर उस नदी को, जिसमें जो वस्तु ढाल दी वह पत्थर हो जाय, पार कर और आग्नेय दिशा की ओर चल कर, वे शल्यकर्तन नामक नगर में पहुँचे ॥ ३ ॥

सत्यसन्धः शुचिः श्रीमान्प्रेक्षमाणः शिलावहाम् ।

अत्ययात्स महाशैलान्वनं चैत्ररथं प्रति ॥ ४ ॥

उसके आगे सत्यसन्ध एवं धर्मात्मा भरत जी ने शिलावहा नदी देखी । फिर वडे वडे पहाड़ों को बचाते हुए वे चैत्ररथ नामक वन की ओर चले ॥ ४ ॥

सरस्वतीं च गङ्गां च युग्मेन प्रतिपद्य च ।

उत्तरं दीर मत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्वनम् ॥ ५ ॥

अनन्तर सरस्वती और गङ्गा के सङ्गम पर होते हुए, दीर-मत्स्य नामक देशों के उत्तर भागों को देखते हुए वे भारुण्ड वन में पहुँचे ॥ ५ ॥

वेगिनीं च कुलिङ्गाख्यां ह्वादिनीं पर्वतावृताम् ।

यमुनां प्राप्य सन्तीर्णा बलमाश्वासयत्तदा ॥ ६ ॥

अनन्तर वेगवती, हर्ष देने वाली और पर्वतों से घिरी हई कुलिङ्गा को तथा यमुना को पार कर, उन्होंने सेना को विश्राम दिया ॥ ६ ॥

१ पूर्वपर्षटाभपरपर्षटा इत्येति ग्रामद्वयमस्ति । (गो०) २ शिलामा-कुर्वतीं—शिलामासमन्ताकुर्वतीं । (गो०)

शीतीकृत्य तु गात्राणि क्लान्तानाश्वास्य वाजिनः ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च प्रायादादाय चोदकम् ॥७॥

थके हुए घोड़ों के शरीरों को ठंडा किया अर्थात् उनके शरीर की थकावट दूर की । लोगों ने भी स्नान किये और जलपान किया और रास्ते में पीने के लिये जल साथ ले, वे आगे बढ़े ॥ ७ ॥

[जल साथ इसलिये लिया था कि, आगे बन पड़ता था, वहाँ जल मिलने की सुविधा नहीं थी ।]

राजपुत्रो महारण्यमनभीक्षणोपसेवितम् ।
भद्रो भद्रेण^१ यानेन मारुतः^२ खमिवात्ययात् ॥ ८ ॥

इसके अनन्तर भरत जी उस निर्जन महारण्य में पहुँचे और भद्र जाति के हाथी (इस जाति का हाथी बनों में खूब चलता है) पर सवार हो, बड़ी तेज़ी के साथ उस बन के पार हुए ॥ ८ ॥

भागीरथीं दुष्प्रतरामंशुधाने महानदीम् ।
उपायादाघवस्तूर्णं प्राग्वटे विश्रुते पुरे ॥ ९ ॥

अंशुधान नगर के नीचे गङ्गा जी का पार करना असम्भव था । अतः वे बड़ी शीघ्रता से प्राग्वट नामक प्रसिद्ध घाट पर पहुँचे ॥ ९ ॥

स गङ्गां प्राग्वटे तीत्वा समायात्कुटिकोष्ठिकाम् ।
सबलस्तां स तीत्वाथ समायाद्वर्मवर्धनम् ॥ १० ॥

१ भद्रेण—भद्रगजरूपेणयानेन । (गो०) २ मारुतःखमिवात्ययात्—अतिवेगेनातिक्रान्तवान् । (गो०)

वे प्रग्वट घाट से गङ्गा को पार कर, कुटिकोष्ठिका नदी पर पहुँचे और सेना सहित उसे भी पार कर, धर्मवर्ढन नामक ग्राम में पहुँचे ॥ १० ॥

तोरणं दक्षिणार्धेन जम्बूप्रस्थमुपागमत् ।

वरुथं च ययौ रम्यं ग्रामं दशरथात्मजः ॥ ११ ॥

फिर तोरण नामक ग्राम के दक्षिण की ओर जम्बूप्रस्थ ग्राम में पहुँचे । फिर दशरथनन्दन भरत जी रमणीक वरुथ नामक ग्राम में पहुँचे ॥ ११ ॥

तत्र रम्ये वने वासं कृत्वाऽसौ प्राडमुखो ययौ ।

उद्यानमुज्जिहानायाः प्रियकाः यत्र पादपाः ॥ १२ ॥

फिर वरुथ ग्राम के वन में ठहर वहाँ से पूर्व की ओर रवाना हुए और उज्जिहाना नाम को पुरी के उपवन में, जहाँ पर बन्धुक अथवा कदम्ब के पेड़ लगे थे, पहुँचे ॥ १२ ॥

सालांस्तु प्रियकान्प्राप्य शीघ्रानास्थाय वाजिनः ।

अनुज्ञाप्याथ भरतो वाहिनीं त्वरितो ययौ ॥ १३ ॥

उस साल और बन्धुक के उपवन में पहुँच, रथ में शीघ्रगामी घोड़े जैत और सेना को धीरे धीरे पीछे आने की आज्ञा दे, भरत जी वहाँ से शीघ्रतापूर्वक रवाना हुए ॥ १३ ॥

[नोट — उज्जिहानापुरी के आगे कोसलराज्य की सीमा आरम्भ होती थी — अतः अपने राज्य में किसी प्रकार का खटका न समझ, सेना का साथ छोड़, भरत जी, रथ में बैठ, शीघ्रतापूर्वक अयोध्या की ओर प्रस्थानित हुए ।]

१ प्रियका — बन्धुकाः कदम्बावासन्ति (गो०) ।

वासं कृत्वा सर्वतीर्थे तीर्त्वा चोत्तानिकां^१ नदीम् ।

अन्या नदीश्च विविधाः पार्वतीयैस्तुरङ्गमैः ॥ १४ ॥

(रास्ते में भरत जी ने) सर्वतीर्थ नामक ग्राम में ठहर और उत्तानिका नदी को पार किया । फिर अन्य अनेक नदियों को उन पहाड़ी घोड़ों की सहायता से पार किया ॥ १४ ॥

हस्तिपृष्ठकमासाद्य कुटिकामत्यवर्तत ।

तंतार च नरव्याघो लौहित्ये सिकतावतीम्^२ ॥ १५ ॥

तदनन्तर हस्तिपृष्ठक नगर के समीप कुटिका नदी पार की । पुरुषश्चेष्ट भरत ने लौहित्य नगर के पास सिकतावती नदी को पार किया ॥ १५ ॥

एकसाले स्थाणुमतीं विनते गोमती नदीम् ।

कलिङ्गनगरे चापि प्राप्य सालवनं तदा ॥ १६ ॥

भरत जी एकसाल नगर में स्थाणुमती नदी को और विनत नामक नगर में गोमती नदी को पार कर, कलिङ्ग नगर के सालवन में पहुँचे ॥ १६ ॥

भरतः क्षिप्रमागच्छत्सुपरिश्रान्तवाहनः ।

वनं च समतीत्याशु शर्वर्यामरुणोदये ॥ १७ ॥

भरत जी बड़ी तंज़ी से यात्रा कर रहे थे । अतः उनके रथ के घोड़े थक गये थे । सो वे रात भर सालवन में विश्रामार्थ ठहर गये । जब रात बीती और सबेरा हुआ ॥ १७ ॥

१ उत्तानिका—उत्तरजलत्वेनतदाख्यां । (गो०) २ पार्वतीयैः—पर्वत-देशोत्पन्नैः । * पाठान्तरे—“ स कपीवतीम् ” ।

अयोध्यां मनुना राजा निर्मितां सन्दर्दर्श ह ।

तां पुरीं पुरुषव्याघ्रः सप्तरात्रोषितः पथि ॥ १८ ॥

तब वहाँ से रवाना हो भरत ने महाराज मनु की बसाई अयोध्यापुरी देखी । राजगृह से अयोध्या तक आने में, रास्ते में भरत को सात रातें (दिन) लगी ॥ १८ ॥

अयोध्यामग्रते दृष्टा सारथिं वाक्यमब्रवीत् ।

एषा नातिप्रतीता मे पुण्योद्याना यशस्विनी ॥ १९ ॥

दूर ही से अयोध्या को देख, भरत जी सारथी से कहने लगे कि, यह पुरी तो मुझे जगतप्रसिद्ध और स्वच्छ एवं हरे भरे उद्यानों से पूर्ण अयोध्या जैसी तो नहीं जान पड़ती ॥ १९ ॥

अयोध्या दृश्यते दूरात्सारथे पाण्डुमृत्तिका ।

यज्वभिर्गुणसम्पन्नैब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥ २० ॥

भूयिष्ठमृद्धैराकीर्णा राजर्षिपरिपालिता ।

अयोध्यायां पुरा शब्दः श्रूयते तुमुलो महान् ॥ २१ ॥

हे सारथे ! दूर से देखने पर तो अयोध्या पीली मिट्टी का एक ढेर सा जान पड़ती है । देखो, अत्यन्त समृद्धशालिनी और राजर्षियों द्वारा पालित अयोध्यापुरी में तो पहले यज्ञरूपी, गुणी एवं वेदपाठी ब्राह्मणों का बड़ा तुमुल शब्द तुनाई पड़ता था ॥ २० ॥ २१ ॥

समन्तान्नरनारीणां तमद्य न शृणोम्यहम् ।

उद्यानानि हि सायाहे क्रीडित्वोपरतैर्नरैः ॥ २२ ॥

और चारों ओर स्त्री पुरुषों का जो बड़ा कोलाहल हुआ करता था, वह तो मुझे आज सुनाई ही नहीं पड़ता । यहीं के उपवनों में सायंकाल के समय खेलों से निवृत्त हो, बहुत से पुरुष ॥ २२ ॥

समन्ताद्विप्रधावद्धिः प्रकाशन्ते ममान्यदा^१ ।

तान्यद्यानुरुदन्तीव परित्यक्तानि कामिभिः ॥ २३ ॥

इधर उधर दौड़ते हुए पहले देख पड़ते थे, किन्तु आज तो वे उपवन मुझे कामों लोगों द्वारा परित्यक्त होने के कारण रोते हुए से जान पड़ रहे हैं ॥ २३ ॥

अरण्यभूतेव पुरी सारथे प्रतिभाति मे ।

न ह्यत्र यानैर्दृश्यन्ते न गजैर्न च वाजिभिः ॥ २४ ॥

निर्यान्तो वाऽभियान्तो वा नरमुख्या यथापुरम् ।

उद्यानानि पुरा भान्ति यत्प्रमुदितानि च ॥ २५ ॥

हे सारथे ! यह अयोध्या नहीं, किन्तु यह तो मुझे उजड़ी हुई अयोध्या का वन ऐसा जान पड़ता है । क्योंकि न तो यहीं कोई सवारो और न कोई हाथा अथवा घोड़ों पर चढ़े प्रतिष्ठित पुरचासों आते जाते देख पड़ते हैं । वाटिकाओं में पहले खूब चहल पहल बनी रहती थी ॥ २४ ॥ २५ ॥

जनानां रति^२संयोगेष्वत्यन्तगुणवन्ति च ।

तान्येतान्यद्य पश्यामि निरानन्दानि सर्वशः ॥ २६ ॥

^१ अन्यदा — पूर्व । (गो०) ^२ रति संयोगेषु — इत्यर्थसंयोगेषु । (गो०)

और वाटिकाएँ विहार करने के लिये एकत्र हुए जनों से भरी रहती थीं और जो अनेक प्रकार के फूले हुए वृक्षों तथा लता गृहादि से शोभायमान होती थीं—उन वाटिकाओं में मुझे आज उदासी सी क़ाई हुई देख पड़ती है ॥ २६ ॥

स्वस्तपर्णेरनुपथं विक्रोशद्विरिव द्रुमैः ।

नाद्यापि श्रूयते शब्दो मत्तानां मृगपक्षिणाम् ॥ २७ ॥

संरक्तां मधुरां वाणीं कलं व्याहरतां बहु ।

चन्दनागरुसंपृक्तो धूप॑सम्मूर्छितोऽतुलः ॥ २८ ॥

प्रवाति पवनः ३श्रीमान्कन्तु नाद्य यथापुरम् ।

भेरीमृदङ्गवीणानां कोणसङ्घटितः पुनः ॥ २९ ॥

सङ्कों के अगल बगल लगे हुए वृक्ष पत्तों से रहित हो मानों चिल्हा चिल्हा कर रोते हुए से जान पड़ते हैं। मदमाते मृगों और पक्षियों के अनुराग में भर कर, कलरन करने का शब्द भी तो आज नहीं सुनाई पड़ती। हे सूत ! इस पुरी में सदा चन्दन और अगर की धूप से धूपित अत्यन्त सुगन्धित पवन चला करता था, किन्तु आज वैसा पवन भी तो नहीं चल रहा। पहले भेरी मृदङ्ग और वीणा आदि बाजों के बजाये जाने का शब्द बार बार हुआ करता था, ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

किमद्य शब्दो विरतः सदाऽदीनगतिः पुरा ।

अनिष्टानि च पापानि॑ पश्यामि विविधानि च ॥३०॥

१ धूपसंमूर्छितः—धूपच्यासः । (गो०) २ श्रीमान्—रमणीयः । (गो०)

३ पापानि—क्रूराणि । (गो०)

किन्तु आज क्या कारण है, जो वह पहले जैसा प्रसन्न करने वाला शब्द बंद है? मुझे तरह तरह के अनिष्ट और कूर शकुन दिखलाई पड़ते हैं ॥ ३० ॥

'निमित्तान्यमनोज्ञानि'^१ तेन सीदति मे मनः ।

सर्वथा कुशलं सूतं दुर्लभं मम बन्धुषु ॥ ३१ ॥

देखने ही से दुःख देने वाले इन अपशकुनों से मेरा मन दुःखी हो रहा है। इससे मुझे जान पड़ता है कि, मेरे बन्धु दान्धवों का कुशल पूर्वक होना सर्वथा दुर्लभ है ॥ ३१ ॥

तथा ह्यसति संमेहे^२ हृदयं सीदतीव मे ।

विषण्णः^३ श्रान्तहृदयः^४ स्त्रस्तः संलुलितेन्द्रियः^५ ॥ ३२ ॥

हे सूत! घबड़ाने का कारण न होने पर भी, मेरा हृदय घड़क रहा है, मन उदास है और भय के कारण सब बाह्य इन्द्रियाँ लुध हो रही हैं ॥ ३२ ॥

भरतः प्रविकेशाशु पुरीमिथ्वाकुपालिताम् ।

द्वारेण वैजयन्तेन प्राविशच्छान्तवाहनः ॥ ३३ ॥

भरत जो इद्वा कुपालित श्रयोध्यापुरी में, पुरी के बैजयन्त नामक पश्चिमद्वार से गुस्ते। उस समय उनके रथ के घोड़े बहुत थक गये थे ॥ ३३ ॥

१ निमित्तानि—अशुभसूचकानि । (गो०) २ अमनोज्ञानि—दर्शनमात्रेण दुःख कराणि । (गो०) ३ संमेहे—संमेहकारणे । (गो०) ४ विषण्णः—दुखितः । (गो०) ५ श्रान्तहृदयः—कलुषितमनस्तः । (गो०) ६ लुलितेन्द्रियः—क्षुभितबाह्यनिद्रियः । (गो०)

द्वाःस्थैरुत्थाय विजयं पृष्ठस्तैः सहितो ययौ ।

स त्वनेकाग्रहृदयोऽ द्वाःस्थं प्रत्यच्चर्यै तं जनम् ॥३४॥

भरत जी को देख द्वारपाल उठ खड़े हुए और (रीत्यानुसार) विजय प्रश्न कर उनके साथ हो लिये । उस समय भरत जी का मन व्यग्र हो रहा था । अतः उन्होंने उन द्वारपालों को सत्कारपूर्वक लौटा दिया ॥ ३४ ॥

सूतमश्वपतेः क्लान्तमब्रवीत्तत्र राघवः ।

किमहं त्वरयानीतिः कारणेन विनाऽनघै ॥ ३५ ॥

कैक्यराज का सारथी जो बहुत शक गया था उससे भरत जी ने कहा—हे अनघ ! किस लिये विना कारण बतलाये शीघ्रता से मैं यहाँ बुलाया गया हूँ ॥ ३५ ॥

अशुभाशङ्कि हृदयं शीलं^४ च पततीव^५ मे ।

श्रुता नो याद्वशाः पूर्वं नृपतीनां विनाशने ॥ ३६ ॥

मेरे मन में अनेक प्रकार की अशुभ शङ्काएँ उत्पन्न हो रही हैं और मन पर दीनता छाती जाती है । राजाओं के मरने पर जो अमाङ्गलिक लक्षण देख पड़ते हैं और जिन्हें मैंने पहले सुन रखे हैं ॥ ३६ ॥

आकारांस्तानहं सर्वानिह पश्यामि सारथे ।

संमार्जनविहीनानि परुषाण्युपलक्षये ॥ ३७ ॥

१ अनेकाग्रहृदयः—व्याकुलमनाः । (गो०) २ प्रत्यच्चर्य—सत्कारपूर्वक निवर्त्य । (शि०) ३ अनधंति—चिन्तासमर्थतोक्तिः । (गो०) ४ शीलं—नित्यंदेन्यरहितस्वभावः । (शि०) ५ पतति—असगच्छतीव । (शि०)

हे सारथे ! आज वे ही सब कुलक्षण मुझे यहाँ देख पड़ रहे हैं । देखो, गृहस्थों के घर चिना भाड़े बुहारे होने के कारण गंदे जान पड़ते हैं ॥ ३७ ॥

असंयतकवाटानि श्रीविहीनानि सर्वशः ।

बलिकर्मविहीनानि धूपसम्मोदनेन च ॥ ३८ ॥

द्वारों के किवाड़ खुले पड़े हैं, सब घरों की शोभा नष्ट सी हो गयी है । वे सब बलिकर्म-विहीन, धूपगन्ध रहित हैं, ॥ ३८ ॥

अनाश्रितकुटुम्बानि प्रभाहीनजनानि च ।

अलक्ष्मीकानि^१ पश्यामि कुटुम्बिभवनान्यहम् ॥ ३९ ॥

तथा भूखे और हतश्री जनों से भरे हैं । गृहस्थों के मकान मुझे विच्छ्रित ध्वजाओं और बंदनवारों से रहित देख पड़ रहे हैं ॥ ३९ ॥

अपेतमाल्यशोभान्यप्यसंमृष्टजिराणि च ।

देवागाराणि शून्यानि^२ न चाभान्ति यथापुरम् ॥ ४० ॥

किसी भी गृहस्थ के द्वार पर पुष्पमालाएँ लटकती नहीं देख पड़तीं—सब घरों के आँगन चिना भाड़े बुहारे पड़े हैं । देवालयों में पुजारी आदि कोई भी नहीं है, उनकी जैसी पहले शोभा थी, वैसी अब नहीं है ॥ ४० ॥

देवतार्चाः प्रविद्धाश्च यज्ञगोष्ठ्यस्तथाविधाः ।

माल्यापणेषु राजन्ते नाद्य पण्यानि वा तथा ॥ ४१ ॥

१ अलक्ष्मीकानि—विच्छ्रितध्वजतोरणाद्यभावात् । (रा०) २ शून्यानि—पूजापरिचारिकादिरहितानि । (गो०) ३ प्रविद्धाः—लुप्ताः । (गो०) ४ यज्ञ-गोष्ठ्यः—यज्ञसमा । (गो०)

न तो कोई अब देवताओं का पूजन कर रहा है और न यज्ञ-शालाओं में यज्ञविधान ही हो रहा है। आज फूलमालाओं की तथा अन्य वस्तुओं की दूकाने शोभाहीन हो रही है॥ ४१॥

दृश्यन्ते वणिजोऽप्यद्य न यथापूर्वमन्त्र वै ।

ध्यानसंविग्रहृदया नष्टव्यापारयन्त्रिताः^१ ॥ ४२ ॥

यहाँ पर पहने की तरह बनिये भी पफुल मन नहीं देख पड़ते। चिन्ता के पारे इनका मन घबड़ाया हुआ है। इनका व्यापार बंद सा हो गया है॥ ४२॥

देवायतनचैत्येषु दीनाः पक्षिगणास्तथा ।

मलिनं चाश्रुपूर्णक्षं दीनं ध्यानपरं कृशम् ।

सखीपुंसं च पश्यामि जनमुक्तकण्ठितं पुरे ॥ ४३ ॥

देवताओं के मन्दिरों में तथा देवालय विशेषों में पक्षिगण उदास बैठे हैं। मैले कपड़े पहिने, आँखों में आँसू भरे उदास, चिन्ताग्रस्त, दुबले पतले और उक्तिगिठत स्त्री पुरुष ही मुझे नगर भर में देख पड़ते हैं॥ ४३॥

इत्येवमुक्त्वा भरतः सूतं तं दीनमानसः ।

तान्यरिष्टान्ययोध्यायां प्रेक्ष्य राजगृहं ययौ ॥ ४४ ॥

उदास मन भरत जो, इस प्रकार के बचन उस सूत से कहते और अयोध्या में उन अरिष्टों को देखते हुए, राजभवन की ओर गये॥ ४४॥

^१ यन्त्रिताः—सङ्कुचितासन्त । (शि०)

तां शून्यं शृङ्गाटकं वेश्मरथ्यां
रजोरुणं द्वारकपाटयन्त्राम् ।

दृष्टा पुरीमिन्द्रपुरप्रकाशां
दुःखेन सम्पूर्णतरो बभूव ॥ ४५ ॥

इस इन्द्रपुरी के समान, अयोध्यापुरी के चौराहे के घरों और गलियों को जनशून्य, और मकानों के किवाड़ों और किवाड़ों के कील काँटों को धूलधूसरित (अर्थात् गर्दा पड़ी हुई) देख, भरत जो अत्यन्त दुःखी हुए ॥ ४५ ॥

बहूनि पश्यन्मनसोप्रियाणि
यान्यन्यदा४ नात्र* पुरे बभूवः ।
अवाक्षिरा दीनमना नहृष्टः
पितुर्महात्मा प्रविवेश वेशम् ॥ ४६ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

भरत जी ने ऐसी ऐसी अनेक अप्रिय घटनाओं को, जो इसके पूर्व उन्होंने कभी नहीं देखी थीं, देख कर—नीचा सिर किये हुए, उदास मन होने के कारण हर्ष रहित हो, अपने महात्मा पिता के घर में प्रवेश किया ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाशड का इकहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

१ शून्या—जनरहिताः । (गो०) २ शृङ्गाटक वेश्मरथ्याः—चतुष्पथ गृहवोथयोऽस्यां । (गो०) ३ रजोरुणद्वारकपाटयन्त्राम्—रजोभिः मळिनानि-द्वारस्थकपाटानां दारुबन्धादीनियस्यां । (गो०) ४ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०)

* पाठान्तरे—“नास्य” ।

द्विसततितमः सर्गः

—१०—

अपश्यस्तु ततस्तत्र पितरं पितुरालये ।

जगाम भरतो द्रष्टुं मातरं मातुरालये ॥ १ ॥

भरत जी पिता के घर में पिता को न देख, माता के दर्शन की लालसा से अपनी माता के घर में गये ॥ १ ॥

अनुप्राप्तं तु तं दृष्ट्वा कैकेयी प्रोषितं सुतम् ।

उत्पपात तदा हृष्टा त्यक्त्वा सौवर्णमासनम् ॥ २ ॥

बहुत दिनों बाद विदेश से लौट कर घर आये हुए, अपने प्रिय पुत्र भरत को देख, कैकेयी हर्ष में मग्न हो, सौने को चैकी से उठ खड़ी हुई ॥ २ ॥

स प्रविश्यैव धर्मात्मा स्वगृहं श्रीविवर्जितम् ।

भरतः प्रतिज्ञाह जनन्याश्चरणौ शुभौ ॥ ३ ॥

धर्मात्मा भरत जी ने अपने माता के घर में जा कर देखा कि, घर की शोभा नष्ट हो गयी है। अनन्तर भरत जो ने अपनी माता के शुभ दोनों चरण छुर ॥ ३ ॥

सा मूर्धिनि समुपाद्राय परिष्वज्य यशस्विनम् ।

अङ्के भरतमारोप्य प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

उस समय कैकेयी भरत जी का मस्तक सूँघ, उनको हृदय से लगा और गोदी में बैठा कर, उनसे पूँछने लगी ॥ ४ ॥

अद्य ते कतिचिद्रात्र्यश्च्युतस्यार्यकवेशमनः ।
अपि॒ नाध्वथ्रमः शीघ्रं रथेनापततस्तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! आज तुमको नाना के घर से चले कितने दिन हो गये ? तुम रथ पर सवार जलदी जलदी आये हो, सो रास्ते की थकावट तो तुम्हें कष्ट नहीं दे रही ॥ ५ ॥

आर्यकस्ते सुकुशली युधाजिन्मातुलस्तव ।
प्रबासाच्च सुखं पुत्र सर्वं मे वक्तुर्मर्हसि ॥ ६ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे नाना और मामा युधाजित तो बहुत अच्छी तरह से हैं ? बेटा ! जब से तुम विदेश गये, तब से रहे तो अच्छी तरह न ? यह सब मुझसे कहा ॥ ६ ॥

एवं पृष्ठस्तु कैकेया प्रियं पार्थिवनन्दनः ।
आचष्ट भरतः सर्वं मात्रे राजीवलोचनः ॥ ७ ॥

कैकेयो के इस प्रकार पूँछने पर प्रिय राजकुमार कमलनयन भरत ने अपनी माता से वहाँ का सारा वृत्तान्त कहा ॥ ७ ॥

अद्य मे सप्तमी रात्रिश्च्युतस्यार्यकवेशमनः ।
अम्बायाः कुशली तातो युधाजिन्मातुलश्च मे ॥ ८ ॥

हे अम्मा ! नाना का घर छोड़े हुए मुझे आज सात रातें बीत चुकीं । मेरे नाना और मामा कुशल से हैं ॥ ८ ॥

१ च्युतस्य—निर्गतस्य । (गो०) २ आर्यकः—मातामहः । (गो०)

३ अपि—प्रश्ने । (गो०)

यन्मे धनं च रत्नं च ददौ राजा परन्तपः ।

परिश्रान्तं पथ्यभवत्तोऽहं पूर्वमागतः ॥ ९ ॥

शत्रुओं का दमन करने वाले राजा केकय ने मुझे विदाई में जो रक्षा धन दिये हैं उन सबको मैं रास्ते ही मैं छोड़ कर आगे चला आया हूँ । क्योंकि सवारियों के जानवर बहुत थक गये थे ॥ ९ ॥

राजवाक्यहरैदूतैस्त्वर्यमाणोऽहमागतः ।

यदहं प्रष्टुमिच्छामि तदम्बा वक्तुमर्हति ॥ १० ॥

महाराज का संदेशा ले कर जो दूत गये थे, उनके जल्दी करने पर ही मैं इतनी जल्दी आया हूँ । हे अम्मा ! अब मैं जो कुछ पूछूँ उसका तू उत्तर दे ॥ १० ॥

शून्योऽयं शयनीयस्ते पर्यङ्को हेमभूषितः ।

न चायमिक्ष्वाकुजनः^१ प्रहृष्टः प्रतिभाति मे ॥ ११ ॥

तुम्हारा यह सुवर्ण का पलंग महाराज विना सुना क्यों है ? महाराज के कोई भी जन मुझको प्रसन्न नहीं जान पड़ते ॥ ११ ॥

राजा भवति भूयिष्ठ^२मिहाम्बाया निवेशने ।

तमहं नाद्य पश्यामि द्रष्टुमिच्छन्निहागतः ॥ १२ ॥

महाराज अधिक तर तेरे ही घर में रहा करते थे —सो वे आज नहीं देख पड़ते । मैं उन्हींके दर्शन करने को यहाँ आया हूँ ॥ १२ ॥

पितुर्ग्रहीष्ये चरणौ तं ममाख्याहि पृच्छतः ।

आहोस्तिदम्ब ज्येष्ठायः कौसल्याया निवेशने ॥ १३ ॥

^१ हक्ष्वाकुजनः—दशरथजनः । (गो०) ^२ भूयिष्ठ—प्राचुर्येण । (गो०)

इस समय पिता जो कहाँ हैं ? मुझे यह दतलाओं, क्योंकि मैं उनके चरणयुगल में प्रणाम करूँगा । वे क्या मेरी माताओं में सब से बड़ी माता कौशल्या जी के घर में हैं ? ॥ १३ ॥

तं प्रत्युवाच कैकेयी 'प्रियवद्वोरमप्रियम् ।

अजानन्तं^२ प्रजानन्ती राज्यलोभेन मोहिता ॥ १४ ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में, सारा वृत्तान्त जानने वाली कैकेयी राज्य के लोभ में फँस, महाराज का वृत्तान्त न जानने वाले भरत से, प्रिय संवाद की तरह, घोर अप्रिय वचन बोली ॥ १४ ॥

या गतिः सर्वभूतानां तां गतिं ते पिता गतः ।

राजा महात्मा तेजस्वी यायजूकः सतांगतिं ॥ १५ ॥

हे बेटा ! सब प्राणियों की जो गति होती है, उसी गति को तुम्हारे महात्मा, तेजस्वी और सज्जनों के आश्रयस्थल पिता महाराज दशरथ प्राप्त हुए हैं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं धर्माभिजनवाङ्शुचिः ।

पपात सहसा भूमौ पितृशोकबलादितः ॥ १६ ॥

कैकेयी को यह वात लुनते ही, धर्मात्माओं के वंश में उत्पन्न—निष्कपट भरत, पितृशोक से विकल हो, सहसा पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मीति कृपणां दीनां वाचमुदीरयन् ।

निपपात महावाहुर्वाहू विक्षिप्य वीर्यवान् ॥ १७ ॥

१ प्रियवत्—प्रियमिव । (गो०) २ अजानन्तं—राजवृत्तान्तमजानन्तं ।

(गो०) ३ धर्माभिजनवान्—धर्मयुक्तवंशवान् । (रा०)

और गिरते समय, महाबाहु एवं महाबली भरत जी दोनों हाथ पृथिवी पर पटक “हाय मैं सारा गया” कह कर, करुणापूर्ण वचन बोले ॥ १७ ॥

ततः शोकेन संविग्रः* पितुर्मरणदुःखितः^१ ।
विललाप महातेजा भ्रान्तारुलितचेतनः ॥ १८ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी भरत, पिता के मरने का संवाद सुनने के कारण, शोक और दुःख से विकल हो, घबड़ा गये और विलाप करने लगे ॥ १८ ॥

एतत्सुरुचिरं भाति पितुर्मे शयनं पुरा ।
शशिनेवामलं रात्रौ गगनं तोयदात्यये ॥ १९ ॥

बादलों के दिवा होने पर अर्थात् शरक्ताल में चन्द्रमा से आकाश की जैसी शोभा होती है, पहले वैसी ही शोभा मेरे पिता की इस सेज की थी ॥ १९ ॥

यदिदं न विभात्यद्य विहीनं तेन धीमता ।
व्योमेव शशिना हीनं विशुष्क इदं सागरः ॥ २० ॥

आज उन बुद्धिमान पिता जी के बिना चन्द्रहीन आकाश और जलहीन सागर की तरह यह सेज बुझी नालूम पड़तो है ॥ २० ॥

बाष्पमुत्सृज्य कण्ठेन स्वार्तः परमपीडितः ।
प्रच्छाद्य वदनं श्रीमद्भुवेण जयतांवरः^२ ॥ २१ ॥

^१ मरणदुःखितः—मरणश्रवणेनसञ्जातदुःखः । (गो०) ^२ आन्ता—अन-
वस्थिता । (गो०) ^३ जयतांवरः भरतः । (शि०) * पाठान्तरे—“संवीतः” ।

इस प्रकार भरत अपना मुख वस्त्र से ढक आसू बहाते, अत्यन्त व्यथित हो गदगद कण्ठ से विलाप करने लगे ॥ २१ ॥

तमार्तं देवसङ्काशं समीक्ष्य पतिर्तं भुवि ।

निकृत्तमिव सालस्य स्फन्दं परशुना वने ॥ २२ ॥

जिस प्रकार वन में कुल्हाड़ी से कटा हुआ शालबृक्ष का गुहा गिर पड़ता है, उसी प्रकार देवता के समान भरत जो पिता को मृत्यु से दुःखित हो भूमि पर गिर पड़े ॥ २२ ॥

माता मातङ्गसङ्काशं चन्द्रार्कसदृशं भुवः ।

उत्थापयित्वा शोकार्तं वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

यह देख, कैकेयी चन्द्र, सूर्य और हाथी के समान तेजस्वी शोकाकुल अपने पुत्र को, पृथिवी से उठा कर उससे बोली ॥ २३ ॥

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ किं शेषे राजपुत्र महायशः ।

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सन्तः सदसिसम्मताः ॥ २४ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! उठो ! उठो !! तुम ज़मीन पर क्यों पड़े हो ? तुम जैसे सज्जन और सभ्य लोग कभी शोक नहीं करते ॥ २४ ॥

दानयज्ञाधिकारा हि शीलैश्रुतिवचोनुगा ।

बुद्धिस्तेऽ बुद्धिसम्पन्न प्रभेवार्कस्यै मन्दिरे ॥ २५ ॥

१ सदसिसंमताः—सभ्या इत्यर्थः । (गो०) २ शीलं—सदृत्तं । (गो०) ३ श्रुतिवचोवेदवाक्यं । (गो०) ४ बुद्धिः—अव्यवसाय । (गो०) ५ अर्कस्यप्रभामन्दिरहृव—सूर्यप्रभायथात्वस्थानेनिश्चलाभवति तथातेबुद्धिर्निश्चलाभातीत्यर्थः । (गो०)

हे बुद्धिमान् ! जिस प्रकार सूर्य की प्रभा अपने स्थान पर निश्चल होती है—उसी प्रकार तुम्हारा अध्यवसाय, जो दान, यज्ञ, सदाचरण और वेदवाक्यों का अनुसरण करने वाला है—निश्चल है ॥ २५ ॥

स रुदित्वा चिरं कालं भूमौ विपश्चित्य च ।
जननीं प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृतः ॥ २६ ॥

इस प्रकार माता के समझाने पर भी भरत बहुत दैर तक भूमि पर लोटते और रोते रहे । तदनन्तर अत्यन्त शोकाकुल हो माता से बोले ॥ २६ ॥

अभिषेक्ष्यति रामं नु राजा यज्ञं नु यक्ष्यते ।
इत्यहं कृतसङ्कल्पो हृष्टो यात्रामयासिषम्^१ ॥ २७ ॥

हे अम्मा ! मैंने तो यह समझा था कि, महाराज श्रीराम की राज्य देंगे और स्वयं कोई यज्ञानुष्ठान करेंगे । इसीलिये मैं प्रसन्न हो, बहाँ से चला था ॥ २७ ॥

तदिदं हन्यथाभूतं व्यवदीर्ण मनो मम ।
पितरं यो न पश्यामि नित्यं प्रियहिते रतम् ॥ २८ ॥

किन्तु इस समय उसके लिपरीत बात देख, मेरा मन फटा जाता है । क्योंकि अब मैं अपने सदाहितैषी पिता को नहीं देख पाता ॥ २८ ॥

^१ यात्रामयासिषम्—यात्रामकार्ष । (गो०)

अम्ब केनात्यगाद्राजा व्याधिना मय्यनागते ।
धन्या रामादयः सर्वे यैः पिता संस्कृतः स्वयम् ॥२९॥

हे अम्मा ! महाराज को क्या बीमारो हुई थी कि, मेरे आने के पूर्व ही उन्होंने शरीर ढाढ़ दिया । धन्य है श्रीराम आदि भाई, जिन्होंने पिता की और्द्धैहिक किया को होगा ॥ २६ ॥

न नूनं मां महाराजः प्राप्तं जानाति कीर्तिमान् ।
उपजिघोद्धि मां मूर्धिन तातः सन्ध्य सत्वरम् ॥३०॥

निश्चय ही कोर्तिशाली महाराज को यह नहों मालूम कि, मैं यहाँ आ गया हूँ—नहीं तो वे अवश्य अपना मस्तक मुका मेरे सिर को तुरन्त सूँघते ॥ ३० ॥

क स पाणिः सुखस्पर्शस्तातस्याक्षिष्टकर्मणः ।
येन मां रजसा ध्वस्तमभीक्षणं परिमार्जति ॥ ३१ ॥

हा ! महाराज का वह हाथ, जो अंग से स्पर्श करते ही सुख दिया करता था और मेरे धूलधूसरित शरोर को धूत बार बार भाड़ता था, कहाँ गया ? ॥ ३१ ॥

यो मे भ्राता पिता बन्धुर्यस्य दासोऽस्मि धीमतः ।
तस्य मां शीघ्रमाख्याहि रामस्याक्षिष्टकर्मणः ॥ ३२ ॥

अब जो मेरे भ्राता, पिता और बन्धु भी हैं, और जिन बुद्धिमान् का मैं दास हूँ, उन श्रीरामचन्द्र का पता मुझे शीघ्र बतला कि, वे कहाँ हैं ? ॥ ३२ ॥

पिता हि भवति ज्येष्ठो धर्ममार्यस्य^१ जानतः ।

तस्य पादौ शृहीष्यामि स हीदानीं गतिर्मम ॥ ३३ ॥

क्योंकि धर्मज्ञ और विवेकी जन का जेठा भाई पिता के तुल्य होता है । अतः मैं उनके पैर पकड़ूँगा क्योंकि अब तो मुझे उन्होंका सहारा है ॥ ३३ ॥

धर्मविद्धर्मनित्यश्च सत्यसन्धो दृढव्रतः ।

आर्यः किमब्रवीद्राजा पिता मे सत्यविक्रमः ॥ ३४ ॥

हे माता ! धर्मज्ञ और धर्म में निरत रहने वाले, सत्यप्रतिज्ञ, तथा दुष्क्रियता महाराज मेरे विषय में क्या आज्ञा कर गये हैं अथवा मेरे लिये क्या कह गये हैं ॥ ३४ ॥

पश्चिमं^२ साधु सन्देशमिच्छामि श्रोतुमात्मनः ।

इति पृष्ठा यथातत्त्वं कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥ ३५ ॥

सो मैं अपने विषय में महाराज का अन्तिम काल का संदेशा सुनना चाहता हूँ भरत जी के देसा पूँछने पर कैकेयी ने जो ठीक बात थी वही कही ॥ ३५ ॥

रामेति राजा विलपन्हा सीते लक्ष्मणेति च ।

स महात्मा परं लोकं गतो गतिमतां वरः ॥ ३६ ॥

(कैकेयी बोली मरते समय महाराज ने तुम्हारा तो नाम भी नहीं लिया) उत्तम गति को प्राप्त होने वालों में श्रेष्ठ महाराज,

^१ धर्ममार्यस्यजानतः—धर्मज्ञानत आर्यस्य श्रेष्ठस्य विवेकिनः पुरुषस्य । (रा०) ^२ पश्चिमं संदेशं—अन्त्यकालिकम् । (रा०)

हा राम ! हा सीता ! हा लक्ष्मण ! ऐसा विलाप करते हुए, परलोक सिधारे हैं ॥ ३६ ॥

इमां तु पश्चिमां वाचं व्याजहार पिता तव ।
कालधर्मपरिक्षिसः? पाशैरिव महागजः ॥ ३७ ॥

बड़ा हाथी जिस प्रकार बंधन में बांधा जाता है, उसी प्रकार तुम्हारे पिता ने काल और धर्म के बश हो कर, अन्तिम समय यह कहा था ॥ ३७ ॥

सिद्धार्थास्ते नरा राममागतं सीतया सह ।

लक्ष्मणं च महाबाहुं द्रक्ष्यन्ति पुनरागतम् ॥ ३८ ॥

कि, वे नर ही सफल मनोरथ होंगे, जो सीता सहित श्रीराम और लक्ष्मण को बन से लौटा हुआ देखेंगे ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा विष्णादैव द्वितीयाप्रियशंसनात् ।

विष्णवदनो भूत्वा भूयः पप्रच्छ मातरम् ॥ ३९ ॥

जब कैकेयी ने यह दूसरी अप्रिय बात कही, तब भरत जी और भी अधिक उदास हुए और फिर माता से पूँछने लगे ॥ ३९ ॥

क चेदानीं स धर्मात्मा कौशल्यानन्दवर्धनः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा सीतया च समं गतः ॥ ४० ॥

हे अम्मा ! वे धर्मात्मा और कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले श्रीराम, इस समय सीता और लक्ष्मण के सहित कहाँ हैं ? ॥ ४० ॥

^१ कालधर्मपरिक्षिसः—कालधर्मेभ्यः शरीरविकारादिभ्यः परित्यक्तः । (शि०)

तथा पृष्ठा यथात्त्वमारुद्यातुमुपचक्रमे ।

माताऽस्य १युगपद्माक्यं विप्रियं प्रियशङ्क्या ॥ ४१ ॥

इस प्रकार भरत जी के पूँछने पर उनकी माता कैकेयी ने द्यों को त्यों समस्त घटना सुनानी आरम्भ की । उसने समझा कि, उस दारुण अप्रिय घटना का वृत्तान्त सुन, भरत अवश्य प्रसन्न होंगे ॥ ४१ ॥

स हि राजसुतः पुत्र चीरवासा महावनम् ।

दण्डकान्सह वैदेह्या लक्ष्मणानुचरो गतः ॥ ४२ ॥

हे बत्स ! वे राजकुमार चीर को धारण कर, सीता और लक्ष्मण के साथ दण्डक नामक महावन को चले गये हैं ॥ ४२ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतस्तो ब्रातुश्चारित्रशङ्क्या ।

स्वस्य वंशस्य माहात्म्यात्प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ४३ ॥

कैकेयी के मुख से श्रीराम का वन जाना सुन—भरत जी के मन में भाई के चरित्र के विषय में सन्देह उत्पन्न हुआ और वे बहुत भयभीत हुए । क्योंकि वे अपने वंश की महिमा जानते थे । उन्होंने माता से फिर पूँछा ॥ ४३ ॥

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित् ।

कच्चिन्नाद्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४४ ॥

हे माता ! क्या श्रीरामचन्द्र ने किसी ब्राह्मण का धन छीना था ? अथवा विना अपराध किसी धनाद्य या दरिद्री की हत्या की थी ? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते ।

कस्मात्स दण्डकारणे १भ्रूणहेव विवासितः ॥ ४५ ॥

अथवा किसी परखी की और बुरी दृष्टि से देखा था ?
किस अपराध के कारण वह श्रुताध्ययनसम्पन्न श्रीराम वन में
निकाले गये ? ॥ ४५ ॥

अथास्य चपला माता तत्स्वकर्म यथातथम् ।

तेनैव स्त्रीस्वभावेन॑ व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ ४६ ॥

तब भरत की चपल मति माता ने अपनी ज्यों की त्यों करनी,
स्त्री-स्वभाव-सुनभ चपलता-वश कहनी आरम्भ की ॥ ४६ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी भरतेन महात्मना ।

उवाच वचनं हृष्टा मूढा पण्डितमानिनी ॥ ४७ ॥

जब भरत ने कैकेयी से इस प्रकार कहा, तब वह मूर्खा और
अपने को एगिडता समझने वाली, प्रसन्न हो कर यह बोली ॥ ४७ ॥

न ब्राह्मणधनं किञ्चिद्भूतं रामेण धीमता ।

कश्चिन्नाद्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः ॥ ४८ ॥

बेटा ! बुद्धिमान राम ने न तो किसी ब्राह्मण का धन कीना
और न विना अपराध किसी धनी अथवा निर्धन का वध ही
किया ॥ ४८ ॥

१ भ्रूणः—श्रुताध्ययन सम्पन्नः । (गो०) २ स्त्रीस्वभावेन—चापलेन ।

(गो०) धर्माधर्महिताहितोचितानुचितविवेकशून्यतारूपेण । (रा०)

न रामः परदारांश्च चक्षुभ्यामपि पश्यति ।

मया तु पुत्र श्रुत्वैव रामस्यैवाभिषेचनम् ॥ ४९ ॥

श्रीरामचन्द्र परखो को तो आंख उठा कर भी कभी नहीं देखते । किन्तु हे पुत्र ! मैंने जब श्रीराम के अभिषेक की बात सुनी, ॥ ४९ ॥

याचितस्ते पिता राज्यं रामस्य च विवासनम् ।

स स्ववृत्तिं^१ समास्थाय पिता ते तत्थाऽकरोत् ॥ ५० ॥

तब मैंने तुम्हारे पिता से तुम्हारे लिये राज्य और श्रीरामचन्द्र के लिये बनवास माँगा । अतः अपनी सत्यप्रतिज्ञा को पूरी करने के लिये तुम्हारे पिता ने बैसा ही किया ॥ ५० ॥

रामश्च सहस्रामित्रिः प्रेषितः सह सीतया ।

तमपश्यन्प्रियं पुत्रं महीपालो महायशाः ॥ ५१ ॥

उन्होंने श्रीरामचन्द्र की सीता और लक्ष्मण सहित बन में भेज दिया और महायशस्वी महाराज दशरथ उन प्रियपुत्र श्रीराम को न देखने के कारण ॥ ५१ ॥

पुत्रशोकपरिद्यूनः पञ्चत्वमुपपेदिवान् ।

त्वया त्विदानीं धर्मज्ञ राजत्वमवलम्ब्यताम् ।

त्वत्कृते हि मया सर्वमिदमेवंविधं क्रुतम् ॥ ५२ ॥

पुत्रशोक से पीड़ित हो, पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मर गये) । हे धर्मज्ञ ! अब तुम राजकाज संभालो, क्योंकि तुम्हारे ही लिये इस प्रकार ये सब काम मैंने किये हैं ॥ ५२ ॥

^१ स्ववृत्तिं—स्वप्रतिज्ञारूपांवृत्तिं । (गो०)

मा शोकं मा च सन्तापं धैर्यमाश्रय पुत्रक ।

त्वदधीना हि नगरी राज्यं चैतदनायकम्* ॥ ५३ ॥

हे वर्त्स ! तुम दुःखी मत हो और न सन्ताप ही करो । तुम धीरज रखो । क्योंकि यह अयोध्यापुरी और विना राजा का यह राज्य अब तुम्हारे ही अधीन है ॥ ५३ ॥

तत्पुत्र शीघ्रं विधिना विधिङ्गै-
र्वसिष्ठमुख्यैः सहितो द्विजेन्द्रैः ।

सङ्काल्यः राजानमदीनसत्त्व-
मात्मानमुव्यामभिषेचयस्व ॥ ५४ ॥

इति द्विसप्ततिमः सर्गः ॥

अतः तुम इस घड़ी विधि जानने वाले वशिष्ठादि ब्राह्मणों के साथ शोब्र यथाविधि महापराक्रमो अपने पिता की प्रेतक्रिया समाप्त कर, राज्यासन अद्दण करो और अपने मन को हिरास मत करो ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का बहत्तरवा सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

त्रिसप्ततिमः सर्गः

—:o:—

श्रुत्वा तु पितरं वृत्तं भ्रातरौ च विवासितौ ।

भरतो दुःखसन्तप्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

* सङ्काल्य—संस्कृत्य । (गो०) * पाठान्तरे—“अनामय । ”

पिता का मरण, और दोनों भाइयों के वन में निकाले जाने का वृत्तान्त सुन, भरत दुःख से सन्तप्त हो, कैकेयी से यह वचन बोले ॥ १ ॥

किन्तु कार्य हतस्येह मम राज्येन शोचतः ।

विहीनस्याथ पित्रा च भ्राता पितृसमेन च ॥ २ ॥

पिता और पिता के समान भाई से रहित होने के कारण मेरा, तो सर्वनाश हो गया । ऐसी शोच्य दशा में मैं राज्य ले कर करूँगा ही क्या ॥ २ ॥

दुःखे मे दुःखमकरोव्रणे क्षारमिवादधाः ।

राजानं प्रेतभावस्थं कुत्वा रामं च तापसम् ॥ ३ ॥

तूने महाराज दशरथ को मार और श्रीराम को तपस्वी बना, मुझे दुःख के ऊपर दुःख दिया, मानों घाव पर निष्पक छिड़का ॥ ३ ॥

कुलस्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता ।

अङ्गारमुपगृह्य*त्वां पिता मे नावबुद्धवान् ॥ ४ ॥

तू कालरात्रि के समान इस कुल का सत्यानाश करने को यहाँ आई है । मेरे पिता ने जलते हुए अंगारे की समान अनजाने तुझे घर में रखा ॥ ४ ॥

मृत्युमापादितो राजा त्वया मे पापदर्शिनि ।

सुखं परिहृतं मोहात्कुलेऽस्मिन्कुलपांसिनि ॥ ५ ॥

अरी पापिष्ठे ! तूने महाराज को मार डाला । अरी कुल-नाशिनी ! तूने मोहवश हो सहसा ही इस घराने का सारा सुख नष्ट कर डाला ॥ ५ ॥

* पाठान्तरे—“गृह्यस्म” ।

त्वां प्राप्य हि पिता मेऽद्य सत्यसन्धो महायशाः ।
तीव्रदुःखाभिसन्तसो दृतो दशरथो नृपः ॥ ६ ॥

सत्यप्रतिज्ञा एवं महायशस्वी मेरे पिता महाराज दशरथ ने
तुझे पा कर, बड़ा दुःख और सन्ताप भेगा ॥ ६ ॥

विनाशितो महाराजः पिता मे धर्मवत्सलः ।

कस्मात्प्रव्राजितो रामः कस्मादेव वनं गतः ॥ ७ ॥

तूने क्यों उन धर्मवत्सल मेरे पिता महाराज दशरथ को मार
डाला और क्यों श्रीरामचन्द्र को वनवास दिलवाया और वे क्यों
वन में चले गये ? ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च पुत्रशोकाभिपीडिते ।

दुष्करं यदि जीवेतां प्राप्य त्वां जननीं मम ॥ ८ ॥

तुझे जैसी मेरी जननी के साथ रह कर, कौशल्या और सुमित्रा
का पुत्रशोक से पीड़ित हो कर, जीवित रहना बहुत कठिन है ॥ ८ ॥

ननु त्वार्येऽपि धर्मात्मा त्वयि वृत्तिमनुक्तमाम् ।

वर्तते गुरुवृत्तिज्ञो यथा मातरि वर्तते ॥ ९ ॥

मेरे ज्येष्ठ और धर्मात्मा भाई श्रीरामचन्द्र, जो गुरुजनों की सेवा
करना ज्ञानते हैं, तेरी भी तो वैसी ही सेवा करते थे, जैसी कि वे
अपनी जननी कौशल्या की किया करते थे ॥ ९ ॥

तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी^१ ।

त्वयि धर्म समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते ॥ १० ॥

^१ वृत्ति — शुश्रूषा । (गो०) २ दीर्घदर्शिनी—दूरकालभाव्यनर्थदर्शिनी ।

मेरी बड़ी माता कौशल्या जो भावी विपत्ति को जानती थी,
धर्मपूर्वक तेरे साथ सगी बहिन जैसा व्यवहार करती थी ॥ १० ॥

तस्याः पुत्रं महात्मानं चीरवल्कलवाससम् ।

प्रस्थाप्य वनवासाय कथं पापे न शोचसि ॥ ११ ॥

उसीके महात्मा पुत्र की चीर और वल्कल पहिना कर, तुने
बन में भिजवा दिया । अरी पापिन ! तिस पर भी तुझे दुःख क्यों
नहीं होता ? ॥ ११ ॥

अपापदर्शनं शूरं कृतात्मानं यशस्विनम् ।

प्रव्राज्य चीरवसनं किन्तु पश्यसि कारणम् ॥ १२ ॥

जिन श्रीरामचन्द्र ने कभी दुःख नहीं देखा, ऐसे शूर और
यशस्वी श्रीरामचन्द्र को चीर पहना कर और बन में भिजवा कर,
तुने क्या फल पाया ? ॥ १२ ॥

लुभ्याया विदितो मन्ये न तेऽहं राघवं प्रति ।

तथा ह्यनर्था राज्यार्थं त्वयाऽनीतो महानयम् ॥ १३ ॥

मेरी श्रीरामचन्द्र में कैसी भक्ति है—यह बात तुने न जानी ।
इसीसे तुने लालच में फँस, राज्य के लिये यह महाअनर्थ कर
डाला ॥ १३ ॥

अहं हि पुरुषव्याघ्रावपश्यन्नरामलक्ष्मणौ ।

केन शक्तिप्रभावेन राज्यं रक्षितुमुत्सहे ॥ १४ ॥

मैं उन पुरुषसिंह श्रीराम और लक्ष्मण को देखे बिना, किस
शक्ति के प्रभाव से इस राज्य की रक्षा कर सकूँगा ॥ १४ ॥

तं हि नित्यं महाराजो बलवन्तं महाबलः ।

अपाश्रितोऽभूद्धर्मत्पा मेरुर्मेष्वनं यथा ॥ १५ ॥

मेरी तो गिनती ही किसमें है, महाराज दशरथ जी उन्हीं बल-वान और महापराक्रमी श्रीरामचन्द्र का उसी प्रकार सदा भरोसा रखते थे जिस प्रकार मेरु पर्वत निकटस्थ वन पर भरोसा रखता है ॥ १५ ॥

सोऽहं कथमिमं भारं महाधुर्यसमुद्धृतम् ।

‘दम्यो धुरमिवासाद्य वहेयं केन चैजसा ॥ १६ ॥

अतपव मैं क्यों कर और किसके भरोसे इस बड़े भारी राज्य-भार को छठा सकूँगा । जिस भार को बड़ा बलवान बैल खींच सकता है, उसे क्वाटी उम्र का बछड़ा क्यों कर खींच सकता है ? ॥ १६ ॥

अथवा मेऽभवेच्छक्तिः ३योगैर्बुद्धि बलेन॑ वा ।

सकामां न करिष्यामि त्वामहं पुत्रगर्धिनीम्४ ॥१७॥

यदि मैं सामदानादि उपायों से अथवा बुद्धिवल से इस राज्य-भार को उठा भी सकूँ, तो भी पुत्र के राज्य को अभिलाषा करने वाली तेरी यह कुत्सित साध मैं कभी पूरी न होने दूँगा ॥ १७ ॥

न मे विकाङ्क्षा जायेत त्यक्तुत्वां पापनिश्चयाम् ।

यदि रामस्य *नापेक्षा त्वयि स्यान्मातृवत्सदा ॥१८॥

१ दम्भः—तरुणवत्सद्व । (गो०) २ योगैः—सामादानाद्युपायैः ।

(गो०) ३ बुद्धिवलेन—ग्रहणधारणाधार्ण युक्तबुद्धिवलेनवा । (गो०)
४ पुत्रगर्धिनीम्—पुत्र प्रयोजनाभिलाषवती । (गो०)

* पाठान्तरे—“नापेक्षा ” ।

यदि श्रीराम को तुझमें माता के समान अद्वा न होती, तो मैं तुझ पापिन को अवश्य त्याग देता ॥ १८ ॥

उत्पन्ना तु कथं बुद्धिस्तवेयं पापदर्शिनी ।

साधुचारित्रविभ्रष्टे पूर्वेषां नो विगर्हिता ॥ १९ ॥

अरे पापदर्शिनी ! हमारे पूर्वजों की प्रथा को कलङ्कित करने वाली यह बुद्धि तुझमें कैसे उत्पन्न हुई ॥ २० ॥

अस्मिन्कुले हि पूर्वेषां ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।

अपरे भ्रातरस्तस्मिन्वर्तन्ते समाहिताः ॥ २० ॥

क्योंकि इस राजवंग में पोढ़ियों से यह चाल चलो आती है कि, सब भाइयों में जो बड़ा होता है वही राजगद्दी पर बैठता है और (छोटे) सब भाई उसके अधीन रहते हैं ॥ २० ॥

न हि मन्ये नृशंसे त्वं राजधर्ममवेक्षसे ।

गतिं^१ वा न विजानासि राजवृत्तस्य शाश्वतीम् ॥ २१ ॥

अरे नृशंसे ! तेरी दृष्टिराजधर्म की ओर नहीं है और न तू राजधर्म से सनातन विविध प्रकारों ही को जानती है ॥ २१ ॥

सततं राजवृत्ते^२ हि ज्येष्ठो राज्येऽभिषिच्यते ।

राज्ञामेतत्समं तत्स्यादिक्ष्वाकूणां विशेषतः ॥ २२ ॥

राजधर्मानुसार जो ज्येष्ठ होता है, उसीका राज्याभिषेक होता है । वही प्रथा सब राजाओं में है । तिसमें भी इह्वाकुकुल में तो इसका विशेष आग्रह है ॥ २२ ॥

१ अपरे—क्षनिष्ठाभ्रातरः । (गो०) २ राजधर्म—राज्ञाविहितं धर्मं । (गो०) ३ गतिं—प्रकारंवा । ४ राजवृत्ते—राजधर्मे । (रा०)

तेषां धर्मैकरक्षणां कुलचारित्रशोभिनाम् ।

अत्र चारित्रशौण्डिर्यै त्वां प्राप्य विनिवर्तितम् ॥२३॥

आज तूने, धर्म प्रतिपादक एवं अच्छे चरित्र से सुशोभित इच्छाकुवंश का सदाचार सम्बन्धी गर्व धूल में मिला दिया ॥२३॥

तवापि सुमहाभागा^३ जनेन्द्राः^३ कुलपूर्वगाः^४ ।

बुद्धेर्मोहः कथमयं सम्भूतस्त्वयि गहितः ॥ २४ ॥

तेरा भी तो एक सुचरित्र कुलीन राजवंश में जन्म हुआ है ।
फिर क्यों कर तेरी बुद्धि में ऐसा गहित मोह उत्पन्न हुआ—अर्थात्
कैसे तेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो गयी ॥ २४ ॥

न तु कामं करिष्यामि तवाहं पापनिश्चये ।

त्वया व्यसनमारब्धं जीवितान्तकरं मम ॥ २५ ॥

हे पापिन ! याद रब्ब, चाहे जो कुछ हो मैं तेरी साध कभी पूरी
न करूँगा । क्योंकि तूने मेरे प्राण लेने वाले प्रपञ्च का सुत्रपात किया
है ॥ २५ ॥

एष त्विदानीमेवाहमप्रियार्थं तवानघम् ।

निवर्तयिष्यामि वनाद्भ्रातरं स्वजनप्रियम् ॥ २६ ॥

मैं तो तुझे खिजाने के लिये स्वजनों के प्यारे एवं निर्देष बड़े
भाई श्रीरामचन्द्र को अब वन से लौटा लाता हूँ ॥ २६ ॥

१ कुलचरित्र—कुलकमागतचरित्र । (गो०) २ चारित्रशौडीर्य—
चरित्रगर्वितस्वं । (गो०) ३ जनेन्द्राः—राजानः । (गो०) ४ कुलपूर्वगाः—
कुलजयेष्ठाः । (गो०)

निवर्त्यित्वा रामं च तस्याहं दीपतेजसः ।

दासभूतो भविष्यामि सुस्थितेनान्तरात्मना ॥ २७ ॥

मैं श्रीराम जी को केवल वन से लौटा ही न लाऊँगा, प्रत्युत उनका दास बन कर और मन लगा कर उनकी सेवा भी करूँगा ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा भरतो महात्मा

प्रियेतरैः^१ वाक्यगणैस्तुदंस्ताम् ।

शोकातुरश्चापि ननाद भूयः

सिंहो यथा पर्वतगहरस्थः ॥ २८ ॥

इति त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥

इस प्रकार भरत जो अनेक कठोर वचनों से कैकेयी को मर्माहत करते हुए और स्वयं शोक से कातर हो, मन्दराचल की कन्दरा में बैठे हुए सिंह की तरह पुनः गरज कर बोले ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—०—

तां तथा गर्हयित्वा तु मातरं भरतस्तदा ।

रोषेण महताविष्टः पुनरेवाब्रवीद्वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी माता को धिक्कार कर और अत्यन्त कुपित हो, फिर अपनी माता कैकेयी से कहने लगे ॥ १ ॥

राज्याद्भ्रंशस्व कैकेयि नृशंसे दुष्टचारिणि ।
परित्यक्ता च धर्मेण मामृतं रुदती भव ॥ २ ॥

हे निष्ठुर हृदये ! हे दुधे ! तू राज्यभ्रष्ट हो, (अर्थात् तू भी बन में चली जा) क्योंकि तू अधर्मिन है । अब मैं मरता हूँ, तू मेरे लिये रो, अथवा तू पतिव्रताधर्म को जब त्याग ही छुकी ; तब तुझे उचित है कि, तू मृतपति के लिये मत रो ॥ २ ॥

किञ्चु तेऽदूषयद्राजा रामो वा भृशधार्मिकः ।
ययोर्मृत्युर्विवासश्च त्वत्कृते तुल्यमागतौ ॥ ३ ॥

भला बता तो कि, महाराज ने और परमधार्मिक श्रीरामचन्द्र ने तेरा क्या बिगड़ाया जो तुने एक ही समय में महाराज की तो मार डाला और श्रीरामचन्द्र को बन में निकाल दिया ॥ ३ ॥

भ्रूणहत्यामसि प्राप्ता कुलस्यास्य विनाशनात् ।
कैकेयि नरकं गच्छ मा च भर्तुः सलोकताम् ॥ ४ ॥

हे कैकेयी ! इस प्रकार वंश का नाश करने से तुझे गर्भस्थ बालक को मार डालने जैसा पाप लगा है (गर्भ गिराने जैसा) अतः तू नरक में गिर । क्योंकि तू मेरे पिता के लोक में जाने की अधिकारिणी नहीं है ॥ ४ ॥

१ मामृतं रुदती भव—प्राणहानिकरकार्यकरणान्मामृतं मत्वारोदनं कुर्वित्यर्थः । यद्वामृतं भर्तारं उद्दिश्य रुदती च मा भव पति भार्यामावस्थगतत्वादिति भावः । (गो०) २ तुल्यं—युगपत् । (गो०)

यत्त्वया हीदृशं^१ पापं कृतं घोरेण कर्मणा ।
सर्वलोकप्रियं हित्वा ममाप्यापादितं भयम् ॥ ५ ॥

क्योंकि तूने घोर कर्म कर ऐसा पाप कर्म किया है । तूने सर्वलोक-प्रिय श्रीरामचन्द्र का त्याग कर, मेरे लिये केवल राज्य सम्पादन ही नहीं किया, प्रत्युत भय भी उत्पन्न कर दिया है ॥ ५ ॥

त्वत्कृते मे पिता वृत्तो रामश्चारण्यमाश्रितः ।
अयशो जीवलोके च त्वयाहं प्रतिपादितः ॥ ६ ॥

तेरी ही करतूत से मेरे पिता की जान गयी और भाई श्रीराम बनवासी हुए और इस संसार में मुझे बदनाम किया ॥ ६ ॥

मातृरूपे ममामित्रे नृशंसे राज्यकामुके ।
न तेऽहमभिभाष्योऽस्मि दुर्वृत्ते पतिघातिनि ॥ ७ ॥

तू बड़े ही कठोर हृदय की है ; तुझे राज्य का लालच है, तू मेरी माता नहीं, बल्कि माता के रूप में मेरी शत्रु है । अरी दुष्ट ! अरी पतिघातिनि ! तू मुझसे बोलने योग्य नहीं है अर्थात् मुझसे मत बोल ॥ ७ ॥

कौसल्या च सुमित्रा च याश्चान्या मम मातरः ।
दुःखेन महताविष्टास्त्वां प्राप्य कुलदूषणीम् ॥ ८ ॥

अरे कुल में बड़ा लगाने वाली ! तेरी ही करतूत से, कौशल्या, सुमित्रा तथा मेरी अन्य माताएँ, बड़े दुःख में पड़ी हुई हैं ॥ ८ ॥

^१ दृशं—रामविवासनेभृत्यमरण रूपं । (गो०)

न त्वमश्वपतेः^१ कन्या धर्मराजस्य^२ धीमतः ।
राक्षसी तत्र जातासि कुलप्रधर्वंसिनी पितुः ॥ ९ ॥

तू बुद्धिमान् एवं धर्मात्मा महाराज अश्वपति की कन्या कहलाने योग्य नहीं है । तू तो मेरे पिता के कुज का नाश करने के लिये अश्वपति के घर में राक्षसी पैदा हुई है ॥ ६ ॥

यत्त्वया धार्मिको रामो नित्यं सत्यपरायणः ।
वनं प्रस्थापितो दुःखात्पिता च त्रिदिवं गतः ॥ १० ॥

तूने उन धर्मात्मा श्रोरामचन्द्र को, जो सदा सत्य में तत्पर रहते हैं, वन में भिजवा दिया और उनके वियोगजनित शोक से पीड़ित कर, पिता को परलोक भेजा ॥ १० ॥

यत्प्रधानासि तत्पापं मयि पित्रा विनाकृते ।
भ्रातृभ्यां च परित्यक्ते सर्वलोकस्य चाप्रिये ॥ ११ ॥

यह पापकर्म तो तू ने किया और इसका फज्ज भुगतना मुझको पड़ा कि, मैं पिताहीन हो गया, दोनों भाइयों से बिछुड़ गया और सब लोगों का बुरा बन गया ॥ ११ ॥

कौसल्यां धर्मसंयुक्तां वियुक्तां^३ पापनिश्चये ।
कृत्वा कं प्राप्स्यसे त्वद्य लोकं^४ निरयगामिनि ॥ १२ ॥

१ न त्वमश्वपतेःकन्या—तत्कुलेऽचितकन्यानभवति । (गो०) २ धर्म-
राजस्य—धर्मप्रधानराजस्य । (गो०) ३ वियुक्तां—पतिपुत्रवियुक्तां । (रा०)
४ कंलोकं—कं नरकलोकम् । (रा०)

अरी पापिन ! अरी नरक में जाने वाली, यह तो बतला कि धर्मचारणी कौशल्या का पति और पुत्र से विद्रोह करवा तू अब किस नरक में गिरेगी ॥ १२ ॥

किं नावबुध्यसे क्रूरे नियतं वन्धुसंश्रयम्* ।

ज्येष्ठं पितृसमं रामं कौसल्यायात्मसम्भवम् ॥ १३ ॥

अरे दुष्ट ! क्या तुझे यह नहीं मालूम था कि, श्रीराम वन्धु बाध्यवों के सदा आधारभूत हैं तथा ज्येष्ठ भ्राता होने के कारण मेरे लिये पिता के समान हैं और महारानी कौशल्या के गर्भ से उत्पन्न हुए हैं ॥ १३ ॥

अङ्गप्रत्यङ्गजः पुत्रो हृदयाच्चापि॒ जायते ।

तस्मात्प्रियतमो मातुः प्रियत्वान्न तु बान्धवः ॥ १४ ॥

यों तो देखा जाय तो वन्धुबान्धव सभी प्रिय होते हैं, किन्तु सब से अर्धक पुत्र ही माता की प्रिय होता है—क्योंकि वह माता के अङ्ग प्रत्यङ्ग से और हृदय कमल से भी जन्म ग्रहण करता है अर्थात् ऐसी परम वस्तु का वियोग एक माता के लिये कितना दुःखदायी होता है—उसे तो तूने ज़रा विचारा होता ॥ १४ ॥

[उक्त इलाक में “ अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । अत्मावैपुत्र नामासि । ” श्रुति का अर्थ गर्भित है ।]

अन्यदाऽ किल धर्मज्ञा सुरभिः सुरसम्मता॑ ।

वहमानौ॒ ददर्शेव्या॑ पुत्रौ विगतचेतसौ॑ ॥ १५ ॥

१ नियतं—नितराँ । (शि०) २ हृदयात्—हृदयपुण्डरीकात् । (गो०)

३ अन्यदा—पूर्वकाले । (गो०) ४ सुरसम्मता—देवपूजिता । ५ वहमानौ

हठभितिशेषः । (गो०) ६ विगतचेतसौ मूर्छितावित्यर्थः । (गो०)

* पाठान्तरे—“ बुद्धिसंश्रया ” ।

तावर्धदिवसे श्रान्तौ दृष्टा पुत्रौ महीतले ।
रुरोद पुत्रशोकेन वाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ १६ ॥

(पुत्र शोक एक माता के लिये कितना दुःखदायी होता है इसका दृष्टान्त भरत जी देते हैं ।) यह दृष्टान्त धर्मज्ञों का कहा हुआ है । पूर्वकाल में एक दिवस, देवताओं को पूज्या कामधेनु ने देखा कि, उसके दो पुत्र हल खींचते द्वापहर के समय, थक जाने के कारण मूर्छित हो गये हैं । पुत्रों के दुःख से दुःखी कामधेनु आँखों से आँसू गिराती हुई, रोने लगी ॥ १५ ॥ १६ ॥

अधस्तादूवजतस्तस्याः सुरराज्ञो महात्मनः ।
विन्दवः पतिता गात्रे सूक्ष्माः सुरभिगन्धिनः ॥ १७ ॥

उसी समय किसी काम के लिये देवराज इन्द्र भूलोक में यात्रा कर रहे थे । उस समय उनके शरीर पर सुगन्धित और सूक्ष्म कामधेनु के आँसुओं की बूदें पड़ीं ॥ १७ ॥

इन्द्रोप्यश्रुनिपातं तं स्वगात्रे पुण्यगन्धिनम् ।
सुरभिं मन्यते दृष्टा भूयसीं^१ तां सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

इन्द्र के शरीर पर कामधेनु के ज्ञा आँसू गिरे थे, उनमें से सुगन्धि निकलती देख, इन्द्र ने जान लिया कि, कामधेनु सब से उत्तम है ॥ १८ ॥

निरीक्षमाणः शक्रस्तां ददर्श सुरभिं स्थिताम् ।
आकाशे विष्टिनां दीनां रुदन्तीं भृशदुःखिताम् ॥ १९ ॥

^१ भूयसीं श्रेष्ठाम् । (गो०)

तब चौंक कर इन्द्र ने ऊपर की ओर देखा ही आकाश में
खड़ी और अत्यन्त दुःखित हो रोती हुई विचारी कामधेनु को
पाया ॥ १६ ॥

तां दृष्टा शोकसन्तसां वज्रपाणिर्यशस्त्रिनीम् ।

इन्द्रः प्राञ्जलिरुद्धिग्रः सुरराजोऽब्रवीद्वचः ॥ २० ॥

उस यशस्त्रिनी कामधेनु को शोकसन्तस देख वज्रधारी सुर-
राज इन्द्र बहुत घबड़ाये और हाथ जोड़ कर कामधेनु से कहने
लगे ॥ २० ॥

भयं कञ्चिन्न चस्मासु कुतश्चिद्विद्यते महत् ।

कुतोनिमित्तः शोकस्ते ब्रूहि सर्वहितैषिणि ॥ २१ ॥

हे सब लोकों की हितैषिणी ! तू क्यों रो रही है ? क्या हम
लोगों के ऊपर कोई महा विपत्ति पड़ने वाली है, जिससे तू इतनी
दुःखी हो रही है । अपने दुःख का कारण तो बतला ॥ २१ ॥

एवमुक्ता तु सुरभिः सुरराजेन धीमता ।

प्रत्युवाच ततो धीरा वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ २२ ॥

बुद्धिमान इन्द्रराज ने जब ऐसा कहा, तब वात कहने में चतुर
कामधेनु ने धीरज धर कर यह उत्तर दिया ॥ २२ ॥

शान्तं पापं न वः किञ्चित्कुतश्चिद्मराधिप ।

अहं तु मग्नौ शोचामि स्वपुत्रौ विषमे स्थितौ ॥ २३ ॥

हे देवराज ! नहीं नहीं, तुम लोगों के भय की कोई बात नहीं
है । मुझे तो अपने इन दो पुत्रों को दुःखी देख, दुःख हो रहा
है ॥ २३ ॥

एतौ दृष्टा कृशौ दीनौ सूर्यरश्मिप्रतापितौ ।
अर्द्धमानौ बलीवर्दौ कर्षकेण सुराधिप ॥ २४ ॥

देखो ये दोनों बैल कैगे दुबले हो रहे हैं, तिस पर भी सूर्य के ताप से सन्तप्त हो, ये बेचारे दीन हो रहे हैं । हे सुरराज ! किसान ने इन दोनों को मारा पीटा भी है ॥ २४ ॥

मम कायात्प्रसूतौ हि दुःखितौ भारपीडितौ ।
यौ दृष्टा परितप्येऽहं नास्ति पुत्रसमः प्रियः ॥ २५ ॥

ये दोनों मेरे शरीर से उत्पन्न हुए हैं । अतः उनको दुःखी और हल में जुतने के भार से पीड़ित देख, मुझे बड़ा सन्ताप हो रहा है —क्योंकि माता के लिये अपने पुत्र से बढ़ कर दूसरी कोई वस्तु प्रिय नहीं है ॥ २५ ॥

यस्याः पुत्रसहस्रैस्तु कृत्स्नं व्याप्तिमिदं जगत् ।
तां दृष्टा रुदतीं शक्रो न सुतान्मन्यते परम् ॥ २६ ॥

जिसके सदस्यों पुत्रों से यह समस्त जगत भरा पड़ा है, उसे अपने दो पुत्रों के लिये रोते हुए देख, इन्द्र ने जाना कि, माँ को पुत्र से बढ़ कर और कोई वस्तु प्यारी नहीं है ॥ २६ ॥

सदाऽप्रतिमवृत्ताया लोकधारणकाम्यया ।
श्रीमत्या॑ गुणनित्यायाः स्वभावपरिवेषया ॥ २७ ॥

यस्याः पुत्रसहस्राणि साऽपि शोचति कामधुक् ।
किं पुनर्या॒ विना रामं कौसल्या॒ वर्तयिष्यति ॥२८॥

कामधेनु लोकों के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से सब के साथ एक सा वर्ताव करती है और सबके मनोरथ पूर्ण करने की सामर्थ्य भी रखती है, उसके अनन्त पुत्र रहते हुए भी, जब वह कामधेनु मातृ-स्वभाव-सुलभ पुत्र-स्नेह-वश दो पुत्रों के दुःख से दुःखित हो गयो, तब है कैकेयी ! बतला तो, कौशल्या अपने एकमात्र पुत्र के विना करों कर जोवित रह सकेगो ॥ २७ ॥ २८ ॥

एकपुत्रा च साध्वी च विवित्सेयं त्वया कृता ।

तस्मात्त्वं सततं दुःखं प्रेत्य चेह च लप्स्यसे ॥ २९ ॥

इस अमय तूते एक पुत्र वालो एवं साध्वी कौशल्या से उसके पुत्र का विक्रोह करा दिया है, अतः तू इस लोक और परलोक में सदा ही दुःख भागेगो ॥ २९ ॥

अहं ह्यपचितिं^१ भ्रातुः पितुश्च सकलामिमाम् ।

वर्धनं यशसश्वापि करिष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

मैं तो अब पिता का ग्रौद्धर्देहिक कृत्य कर और भाई की सेवा कर, निससन्देह सम्पूर्ण रूप से उनका सम्मान करूँगा और उनके यश को बढ़ाऊँगा ॥ ३० ॥

आनाययित्वा तनयं कौसल्याया महाबलम् ।

स्वयमेव प्रवेक्ष्यामि वनं मुनिनिषेचितम् ॥ ३१ ॥

मैं उन महाबलो कौशल्यानन्दन को वन से लौटा कर, स्वयं मुनिसेवित वन में जा कर रहूँगा ॥ ३१ ॥

न ह्यहं पापसङ्कल्पे पापे पापं त्वया कृतम् ।

शक्तो धारयितुं पैरैरश्रुकण्ठैर्निरीक्षितः ॥ ३२ ॥

^१ अपचितिं—पूजां । (गो०)

क्योंकि हे दुष्ट विचारोंवालो पापिष्ठ ! जब पुरवासी मेरी ओर आसू भरे नेत्रों से देखेंगे, तब मैं तेरे इस पापपूरित कृत्य को कैसे सहन कर सकूँगा ॥ ३२ ॥

सा त्वमग्नि प्रविश वा स्थयं वा दण्डकान्विश ।

रज्जुं वधान वा कण्ठे न हि तेऽन्यत्परायणम् ॥ ३३ ॥

अब तो तुझे यही उचित है कि, या तो तू अग्नि में गिर कर भस्म हो जा, या दण्डकवन में चलो जा या गले में फांसी लगा क्योंकि विना मरे तेरे लिये ग्रैट कोई गति नहीं है ॥ ३३ ॥

अहमप्यवनिं^१ प्राप्ते रामे सत्यपराक्रमे ।

कृतकृत्यो भविष्यामि विप्रवासितकल्पवः ॥ ३४ ॥

मेरे मन की कसक तभो मिठो और मैं अपने को तभी कृत-कृत्य मानूँगा, जब सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्र लौट आवेंगे ॥ ३४ ॥

इति नाग इवारण्ये तोमराङ्कुशचोदितः ।

पपात भुवि संकुद्धो निःश्वसन्निः पव्राः ॥ ३५ ॥

भरत जो इस प्रकार विलाप करते करते तीमर और अंकुश के मारने से उत्तेजित हाथों को तरह, क्रोध में भर, पृथिवी पर गिर, सर्प की तरह ऊँफकारने लगे ॥ ३५ ॥

संरक्तनेत्रः शिथिलाम्बरस्तथा

विधूतसर्वाभरणः परन्तपः ।

^१ अवनिं—अयोध्याभूमि । (शि०)

बभूव भूमौ पतितो नृपात्मजः
शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये ॥ ३६ ॥
इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

उस समय भरत के (मारे क्रोध के) नेत्र लाल हो गये । शरीर पर जो बस्त्र वे पहिने हुए थे, वे ढीले हो गये । सब गहने खिसक पड़े । जिस प्रकार उत्सव के अन्त में इन्द्र की ध्वजा पृथिवी पर गिरती है, वैसे ही राजकुमार भरत पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३६ ॥

अथोध्याकाशड का चौहत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: * :—

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

—:०:—

दीर्घकालात्समुत्थाय संज्ञां लब्ध्वा च वीर्यवान् ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां दीनामुद्वीक्ष्य मातरम् ॥ १ ॥

तदनन्तर पराक्रमी भरत जी ने बहुत देर बाद सचेत हो, नेत्रों में आँसू भर तथा माता को दीन देख ॥ १ ॥

सोमात्यमध्ये भरतो जननीमभ्यकुत्सयत् ।

राज्यं न कामये जातु^१ मन्त्रये नापि मातरम् ॥ २ ॥

और मंत्रियों के बीच बैठ, माता की निन्दा की, (इसलिये कि, मंत्रियों को बतावें कि, उनकी माता ने जो कुछ किया उसमें उनकी सम्मति नहीं थी) वे बोले, मेरी तो कभी यह अभिलाषा नहीं है

^१ जातु—कदाचिदपि । (गो०)

कि, मैं राज्य करूँ और न इस विषय में कभी माता से मैंने परामर्श ही किया (अथवा दिया) ॥ २ ॥

अभिषेकं न जानामि योऽभृद्राज्ञा समीक्षितः ।

विप्रकृष्टे ह्यहं देशे शत्रुघ्नसहितोऽवसम् ॥ ३ ॥

न मुझे इसकी कुछ भी खबर थी कि, महाराज ने श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करना विचार था । क्योंकि मैं तो शत्रुघ्न सहित यहाँ से बहुत दूर पर था ॥ ३ ॥

वनवासं न जानामि रामस्याहं महात्मनः ।

विवासनं वा सौमित्रेः सीतायाश्च यथाऽभवत् ॥ ४ ॥

अतः मुझे महात्मा श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता जी के वनवास का भी हाल न मिला कि, वह किस प्रकार से हुआ ॥ ४ ॥

तथैव क्रोशतस्तस्य भरतस्य महात्मनः ।

कौशल्या शब्दमाज्ञाय सुमित्रामिदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

इस प्रकार रोते चिल्हाते हुए भरत जो का कण्ठस्वर पहचान कर, कौशल्या जी सुमित्रा जी से यह बोलीं ॥ ५ ॥

आगतः क्रूरकार्यायाः कैकेय्या भरतः सुतः ।

तमहं द्रष्टुमिच्छामि भरतं दीर्घदर्शिनम् ॥ ६ ॥

जान पड़ता है—निष्ठुर कर्म करने वाली कैकेयी का पुत्र भरत आ गया है । मैं उसे देखना चाहती हूँ, क्योंकि वह बड़ा समझदार है ॥ ६ ॥

एवमुक्त्वा सुमित्रां सा विवर्णा मलिना कुशा ।
प्रतस्थे भरतो यत्र वेगमाना विचेतना ॥ ७ ॥

श्रीराम के विद्वेश के शोक से अति दुर्बल गात, कान्तिहीन मुख वाली कौशल्या धरथर कौपती हुई और अचेत सो भरत जो को और चलीं ॥ ८ ॥

स तु रामानुजश्चापि शत्रुघ्नसहितस्तदा ।
प्रतस्थे भरतो यत्र कौसल्याया निवेशनम् ॥ ८ ॥

उधर श्रीराम के छोटे भाई भरत जो भी शत्रुघ्न को साथ ले कौशल्या के भवन की ओर चले ॥ ९ ॥

ततः शत्रुघ्नभरतौ कौसल्यां प्रेक्ष्य दुःखितौ ।
पर्यष्वजेतां दुःखार्ता पतितां नष्टचेतनाम् ॥ ९ ॥

कौशल्या को दुःखी और वहको वहकी देख, इनों भाई—भरत और शत्रुघ्न अत्यन्त दुःखित हो कौशल्या से लिपट कर रोने लगे ॥ १० ॥

रुदन्तौ रुदतीं दुःखात्समेत्यार्या॑ मनस्विनीम् ।
भरतं प्रत्युवाचेदं कौसल्या भृशदुःखिता ॥ १० ॥

ज्येष्ठामाता कौशल्या उस समय अत्यन्त दुःखित हो, शोक के मारे रोते हुए भरत जो को लिपटा कर, कहने लगी ॥ ११ ॥

इदं ते राज्यकामस्य राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।
सम्प्राप्तं वत कैकेय्या शीघ्रं क्रूरेण कर्मणा ॥ ११ ॥

तुमने राज्य पाने की कामना की थी सो कूर कर्म करने वाली
तुम्हारी माता ने निष्ठुर कर्म कर के, तुम्हें निष्कण्ठक राज्य दिला
दिया ॥ ११ ॥

प्रस्थाप्य चीरवसनं पुत्रं मे वनवासिनम् ।

कैकेयी कं गुणं तत्र पश्यति क्रूरदर्शिनी ॥ १२ ॥

और मेरे पुत्र की चीर पहिना कर और वन में भेज कर, इस
क्रूरदर्शिनी ने क्या लाभ उठाया । (क्योंकि विना ऐसा किये भी तो
वह तुझे राज्य दिला सकती थी) ॥ १२ ॥

क्षिप्रं मामपि कैकेयी प्रस्थापयितुमर्हति ।

‘हिरण्यनाभो यत्रास्ते सुतो मे सुमहायशाः ॥ १३ ॥

कैकेयी को इच्छित है कि, जहाँ मेरे सुवर्ण जैसे शरीर के रंग-
बाले महायशस्वी श्रीराम हैं, वहाँ मुझे भी तुरन्त भेज दे ॥ १३ ॥

अथवा स्वयमेवाहं सुमित्रानुचरा सुखम् ।

अग्निहोत्रं^२ पुरस्कृत्य प्रस्थास्ये यत्र राघवः ॥ १४ ॥

अथवा मैं स्वयं ही सुमित्रा को अपने साथ ले और अग्निहोत्र की
आग को आगे कर, वहाँ चली जाऊँगी, जहाँ मेरे श्रीराम हैं ॥ १४ ॥

[महाराज दशरथ अग्निहोत्र करते थे । महाराजी कौशल्या उनकी प्रधान
ज्येष्ठा रानी थी । अतः पति के साथ अग्निहोत्र करने का अधिकार उन्हींको
था । इसीसे कौशल्या ने यह कहा कि, अग्निहोत्र की आग को ब्राह्मण के ऊपर
खेला उसके पीछे मैं चली जाऊँगी ।]

२ हिरण्यनाभः—हिरण्यवत्स्त्रहणीयनाभियुक्तः । नाभिग्रहणं शरीरस्योप-
लक्षणं । (गो०) १ अग्निहोत्रं—राजाग्निहोत्रं । (गो०) अग्निहोत्रस्थज्येष्ठा
भार्याधीनत्वात् दशरथेन भरतसंस्कार प्रतिवेदाचेतिभावः । (गो०)

कामं वा स्वयमेवाद्य तत्र मां नेतुमर्हसि ।

यत्रासौ पुरुषव्याघः पुत्रो मे तप्यते तपः ॥ १५ ॥

अथवा तू ही मुझे वहाँ कर आ, जहाँ पुरुषसिंह मेरा पुत्र तप करता या दुःख भोगता है ॥ १५ ॥

इदं हि तव विस्तीर्णं धनधान्यसमाचितम् ।

हस्त्यश्वरथसम्पूर्णं राज्यं निर्यातितं^१ तथा ॥ १६ ॥

तुझे तो कैकेयो ने ये धनधान्य से परिपूर्ण तथा हाथी, घोड़ों और रथों से भरा पूरा राज्य दिलवा ही दिया है ॥ १६ ॥

इत्यादि बहुभिर्वाक्यैः क्रूरैः सम्भर्तिसतोऽनघः ।

विव्यथे भरतस्तीव्रं व्रणे तु द्येव सूचिना ॥ १७ ॥

जब कौशल्या ने इस प्रकार के कठोर वचनों के ताने मारे, तब भरत जी को वैसा ही क्लेश हुआ, जैसा कि, बाबू में सुई छुभाने से होता है ॥ १७ ॥

पपात चरणौ तस्यास्तदा सम्भ्रान्तचेतनः ।

विलप्य बहुधाऽसंज्ञो लब्धसंज्ञस्ततः स्थितः ॥ १८ ॥

कौशल्या जी की बातें सुन भरत जी का मन उद्धिग्न हो गया । अतः उनकी कर्तव्य विषयक ज्ञान न रहा । जब उन्हें चेत हुआ तब बहुत विलाप कर, वे कौशल्या जी के चरणों में गिर पड़े ॥ १८ ॥

एवं विलपमानां तां भरतः प्राञ्जलिस्तदा ।

कौसल्यां प्रत्युवाचेदं शोकैर्बहुभिरावृताम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई तथा महाशोकग्रस्त कौशलवा
से वे हाथ जोड़ कर बोले ॥ १९ ॥

आर्ये कस्मादजानन्तं गर्हसे मामकिल्विषम् ।

विपुलां च मम प्रीतिं स्थिरां जानासि राघवे ॥ २० ॥

हे माता ! तुम जानती हो कि, श्रीरामचन्द्र में मेरी कितनी
अधिक दृढ़ प्रीति है । मैं इस मामले में नितान्त अनभिज्ञ और
निर्देष हूँ । ऐसा होने पर भी तुम मेरी निन्दा क्यों करती
हो ॥ २० ॥

कृता शास्त्रानुगा बुद्धिर्मा भूतस्य रुदाचन ।

सत्यसन्धः सतां श्रेष्ठो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २१ ॥

सत्यसन्ध और सज्जनों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जिसकी सम्मति
से वन भेजे गये हों, वह पढ़े हुए शास्त्रों को भूल जाय । इसका
भाव यह है, कि यदि श्रीराम के वन भेजने में मेरी अनुमति रही
हो, तो मेरा श्रुति सम्बन्धी ज्ञान नष्ट हो जाय ॥ २१ ॥

प्रेष्यं पापीयसां यातु सूर्यं च प्रति मेहतु ।

हन्तु पादेन गां सुसां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २२ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों,
वह पापात्मा नोच जाति का सेवक हो ; सूर्य की ओर मुख
कर मल मूत्र त्याग करने का और सोतो हुई गौ के लात मारने का
पाप उसे लगे ॥ २२

[नोट—इससे सिद्ध होता है कि सूर्य की ओर मुख कर मल मूत्र
विसर्जन न करे और गाय के लात न मारे, जो ऐसा करते हैं वे पाप के भागी
होते हैं ।]

कारयित्वा महत्कर्म भर्ता भृत्यमनर्थकम् ।

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२३॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप लगे, जो बड़ा काम करा लेने पर भी नौकर का वेतन न देने के कारण मालिक को होता है ॥ २३ ॥

परिपालयमानस्य राज्ञो भृतानि पुत्रवत् ।

सततं द्रुहतां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २४ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो पुत्र की तरह प्रजापालन करने वाले राजा से विद्रोह करने पर होता है ॥ २४ ॥

बलिष्ठभागमुद्धृत्य^१ वृपस्यारक्षतः प्रजाः ।

अधर्मो योऽस्य सोऽस्यास्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥२५॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस राजा को होता है, जो प्रजा से छठवाँ अंश कर का ले कर भी, प्रजा की रक्षा नहीं करता ॥ २५ ॥

संश्रुत्य च तपस्विभ्यः सत्रे वै यज्ञदक्षिणाम् ।

तां विप्रलतपां पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २६ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों उसे वह पाप हो, जो पाप ऋत्विजों को दक्षिणा देने की प्रतिज्ञा कर, पीछे दक्षिणा न देने वाले को होता है ॥ २६ ॥

हस्त्यश्वरथसम्बाधे युद्धे शस्त्रसमाकुले ।

मा स्म कार्षीत्सतां धर्म यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २७ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो हाथी घोड़ों और रथों सहित एवं शस्त्राख्युक्त युद्धक्षेत्र में सद्वीरों का धर्म न पाजने से योद्धाओं को होता है ॥ २७ ॥

उपदिष्टं सुसूक्ष्मार्थं शास्त्रं यत्वेनैः धीमताः ।

स नाशयतु दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २८ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, वह दुष्टात्मा, अच्छे बुद्धिमान् गुरु से परलोकसाधक एवं रहस्य-युक्त उपदिष्ट वेदान्तादि शास्त्रों को भूल जावे ॥ २८ ॥

मा च तं ब्यूढवाहांसं चन्द्रार्कसमतेजसम् ।

द्राक्षीद्राज्यस्थमासीनं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ २९ ॥

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन में भेजे गये हों, वह उन विशालवाहु और ऊँचे कंधों वाले तथा चन्द्र सूर्य के समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक न देख पावे । (अर्थात् तब तक वह जीवित न रहे, मर जाय) ॥ २९ ॥

पायसं कृसरं छागं वृथां सोऽश्वातु निर्दृणः ।

गुरुंश्वाप्यवजानातुं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३० ॥

१ शास्त्रं—वेदान्तादिविशिष्टार्थं । (गो०) २ यत्वेनोपदिष्टं—
सुसूक्ष्मार्थं, परलोकसाधकरहस्यार्थयुक्तं । (गो०) ३ धीमता—गुरुणा ।
(गो०) ४ वृथाऽश्वातु—देवतापित्रितिथिनिवेदनमन्तरैणभुक्तामित्यर्थः । (गो०)
५ अवजानातु—प्रत्युत्थानभिवादिनादिकंकरोत्वित्यर्थः । (गो०)

अथवा श्रीरामचन्द्र जी जिसकी अनुमति से वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो देवता, पितृ, अतिथि को निवेदन किये विना खीर, तिल, चाँचल, अथवा मांस खाने वाले को और गुरु को देख खड़े न होने वाले तथा गुरु को प्रणाम न करने वाले को होता है ॥ ३० ॥

[नोट—अर्थात् विना देवता पितृ अतिथि को निवेदन किये कोई वस्तु खानी नहीं चाहिये । श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—“भुञ्जते तेत्वं वं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात्” अर्थात् जो अपने लिये रखा है बनाते हैं, वे अन्न नहीं ; किन्तु पाप भक्षण करते हैं ।]

गाश्च स्पृशतु पादेन गुरुन्परिवदेत्स्वयम् ।

मित्रे द्रुष्टेत सोऽत्यन्तं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो पाप गौ को पैर से छूने, गुरु की निन्दा करने और मित्र से अत्यन्त द्रोह करने से होता है ॥ ३१ ॥

विश्वासात्कथितं किञ्चित्परिवादं मिथः कचित् ।

विवृणोतु स दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस पुरुष को होता है, जिसका विश्वास कर डससे किसी का कोई दोष कहा जाय (और साथ ही उससे उस दोष को प्रकट करने का निषेध भी कर दिया जाय और वह दुष्टात्मा तिस पर भी उस दोष को प्रकट कर दे ।) अर्थात् जो पाप विश्वासघाती को होता है, वह उसे हो, जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ३२ ॥

अकर्ता ह्यकृतज्ञश्च त्यक्तात्मा^१ निरपत्रपः ।

लोके भवतु विदेष्यो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जो वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उपकार न करने वाले, सज्जनों से त्यक्त, निर्लज्ज और सब से बैर करने वाले को होता है ॥ ३३ ॥

पुत्रैर्दैरैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः ।

स एको मृष्टमन्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो सामने बैठे हुए नौकर चाकर, खानी, पुत्रों को न दे कर, स्वयं अकेले ही मिठाई खाने वाले को होता है । अथवा जो पाप स्वयं अच्छे पदार्थ खा कर, अपने आधित जनों को कदम खिलाने से होता है ॥ ३४ ॥

अप्राप्य सद्वशान्^२दाराननपत्यः प्रमीयताम् ।

अनवाप्य क्रियां धर्म्याः^३ यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३५ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जो वन में भेजे गये हों, वह जन समान कुल की पत्नी न पावे, वह सन्ततिहीन हो, और अग्निहोत्रादि धर्म कर्म किये विना ही मर जाय ॥ ३५ ॥

माऽस्त्मनः सन्ततिं द्राक्षीत्स्वेषु दारेषु दुःखितः ।

आयुः समग्रमप्राप्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३६ ॥

^१ त्यक्तात्मा—सद्ग्निः परिहृतः । (गो०) ^२ सद्वशान्—समान

कुलान् । (गो०) ^३ धर्म्यांक्रियां—अग्निहोत्रादिकं च । (गो०)

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न सन्तति को विना देखे, दुःखी हो, पूर्णायु न पावे ॥ ३६ ॥

राजस्त्रीवालवृद्धानां वधे यत्पापमुच्यते ।

भृत्यत्यागे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ३७ ॥

जो पाप राजा, स्त्री, बालक और बूढ़े का वध करने से होता है, अथवा जो पाप निरपराध (स्वामि-भक्त नौकर को त्यागने से होता है; वह पाप उस पुरुष को हो, जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों) ॥ ३७ ॥

लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च ।

सदैव विभृयादभृत्यान् यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३८ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, उसे वह पाप हो, जो मांस शहद अथवा मध, लाल, लोहा और विष की विक्री की आमदनी से अपने आश्रित जनों—घरवालों तथा नौकर चाकरों का सदा पालन करने वाले को होता है ॥ ३८ ॥

[नोट—मांस, मदिरा, लाल, लोहा और विष का व्यापार करना दिविद्ध है। स्मृतियों में भी लिखा है—

“ लाक्षा लवण मांसानि वर्जनीयानि विक्रये ”

अर्थात् लाल, नौन मांस का वेचना वर्जित है ।]

संग्रामे समुपोद्देः^१ तु *शत्रुपक्षभयङ्करे ।

पलायमानो वध्येत यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ३९ ॥

^१ भृत्यान्—भर्त्यान् पुत्रादीन् । (शि०) २ समुपोद्दे—निकटे । (गो०) प्राप्ते । (रा०) * पाठान्तरे—“ शतपक्ष । ”

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह पुरुष, युद्ध में शत्रु का भयडूर सैन्यदल देख भागता हुआ मारा जाय। अर्थात् श्रीरामचन्द्र जी को वन भेजने की सलाह देने वाले को वह पाप लगे, जो युद्धक्षेत्र से शत्रु से डर कर भागने वाले को होता है अथवा भागे हुए शत्रु को मारने वाले को होता है ॥ ३६ ॥

[युद्ध से डर कर भागता भी पाप है, और भागते हुए, निःशब्द और अधोन हुए शत्रु का मारना भी पाप है ।]

कपालपाणिः पृथिवीमटां चीरसंवृतः ।

भिक्षमाणो यथोन्मत्तो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४० ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में भेजे गये हों, वह चिथड़े लपेटे, पागल को तरह मुद्दे की खोपड़ी हाथ में लिये छार छार भोख माँगता हुआ, पृथिवी पर घूमे ॥ ४० ॥

[नोट—इस श्लोक में अधोरियों और कापालिकों का निन्द्य उहराया है ।]

***मद्ये प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः ।**

कामक्रोधाभिभूतस्तु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४१ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए हों, वह पुरुष सदा मद्य पीने में, स्त्रीमैथुन में और जुधा खेलने में अत्यन्त आसक्त हो और काम व क्रोध के कारण उसका सदा निरादर होता रहे अथवा वह काम व क्रोध से सदा सताया जाय ॥ ४१ ॥

मा स्म धर्मे मनो भूयादधर्मं स निषेवताम् ।

अपात्रवर्षी^१ भवतु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४२ ॥

^१ अपात्रवर्षी—अपात्रे बहुदायो । (गो०) * पाठान्तरे—“ पाने ” ।

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी बनवासी हुए हों—
वह स्वधर्म में मन न लगा कर सदा अधर्म कार्य ही किया करे
और कुपात्र को बहुत सा दान दे । अथवा जिस मनुष्य की सलाह
से श्रीराम बनवासी हुए हों, उसे वही पाप हो, जो स्वधर्म-त्यागी
और अधर्म अनुरागी परं कुपात्र को बहुत दान देने वाले को होता
है ॥ ४२ ॥

संचितान्यस्य वित्तानि विविधानि सहस्रशः ।

‘दस्युभिर्विप्रलुप्यन्तां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४३ ॥

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जी बनवासी हुए हों
उसकी गाढ़ी कमायी का विपुल धन चोर चुरा ले जाय ॥ ४३ ॥

उभे सन्ध्ये शयानस्य यत्पापं परिकल्प्यते ।

तच्च पापं भवेत्तस्य यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४४ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी बनवासी हुए
हों, उसे वह पाप लगे जो साँझ सबेरे सोने वाले को लगता
है ॥ ४४ ॥

[प्रातःसन्ध्या=रात बीतने और दिन उगने के समय ; सायं सन्ध्या=
दिन हूबने और रात्रि होने के समय, सोना निषिद्ध है—क्योंकि सन्ध्याओं
में सोने से आयुक्षीण और पुण्यक्षय होते हैं । कहीं कहीं यह भी लिखा है—
“ब्राह्मेमुहूर्ते या निद्रा स पुण्यक्षयकारिणी । ”]

यदग्रिदायके पापं यत्पातं गुरुत्लपगे ।

मित्रद्रोहे च यत्पापं तत्पापं प्रतिपद्यताम् ॥ ४५ ॥

! दस्युभिः—तत्करैः । (गो०) २ उभे—उभयोः सन्ध्योः । (गो०)

अथवा जो पाप घर में आग लगाने वाले को, गुरु की लड़ी के साथ संभोग करने वाले को और मित्र से द्वोह करने वाले को होता है, वह पाप उस मनुष्य को लगे, जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ४५ ॥

देवतानां पितणां च मातापित्रोस्तथैव च ।

मा स्म कार्षीत्स शुश्रूषां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥४६॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र जो के वनवासी होने की सम्मति दी हो वह देवता, पितृ और माता पिता की पूजा, आद्ध और सेवा शुश्रूषा से वश्चित हो । अथवा जो पाप—देवपूजन, पितृआद्ध और माता पिता की सेवा न करने वाले को लगता है, वह पाप श्रीरामचन्द्र जी को वन में भेजने की सलाह देने वाले को हो ॥ ४६ ॥

सतां लोकात्सतां^१ *कीर्त्याः सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा ।

भ्रश्यतु क्षिप्रमद्यैव यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४७ ॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र जी के वन में भेजने की सलाह दी हो, वह पुरुष इसी घड़ी सज्जनों के लोक से, सज्जनों की कीर्ति से और सत्कर्मों से भ्रष्ट हो जाय । अर्थात् ऐसे पुरुष को न तो कोई ऐसा लोक प्राप्त हो, जैसा कि, सत्युरुषों को मिलता है, न उसे वह कीर्ति उप-लब्ध हो, जो साधु पुरुषों को मिलती है (अथवा उस पुरुष की साधु लोग प्रशंसा न करें) और न उसका मन उन कर्मों में लगे, जो साधुओं के लिये अनुष्ठेय हैं ॥ ४७ ॥

अपास्य मातृशुश्रूषामनर्थे सोऽवतिष्ठताम् ।

दीर्घबाहुर्ममहावक्षा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४८ ॥

^१ सतांकीर्त्यात्—सद्ग्निः क्रियमाणश्लाघनात् । (गो०)

* पाठान्तरे—“कीर्त्यात्सञ्जुष्टात्कर्मणस्तथा” ।

अथवा जिसको सलाह से दीर्घबाहु और छैड़ी छाती वाले श्रीरामचन्द्र जी बनवासी हुए हों—वह माता की सेवा से विमुख हो, अधर्म कामों में लगे। अर्थात् उसे मातृ सेवा से विमुख होने तथा अधर्म कार्यों में रत होने का पाप हो ॥ ४८ ॥

बहुपुत्रो दरिद्रश्च ज्वररोगसमन्वितः ।

स भूयात्सततं क्लेशी यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ४९ ॥

अथवा जिसको सलाह से श्रीरामचन्द्र जी बन में गये हों, वह बहु सन्तति बाला हो कर दारिद्र हो, ज्वर रोग से पीड़ित हो और सदा क्लेश पावे ॥ ४९ ॥

[नोट—बहुत सन्तान होना भी दरिद्रता का सूचक है। स्मृतिकारों के मतानुसार ज्येष्ठ पुत्र को छोड़ शेष सब सन्तान कामज हैं ।]

आशामाशंसमानानां^१ दीनानामूर्ध्वचक्षुर्षाम् ।

अर्थिनां वितथां कुर्याद्यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५० ॥

अथवा जिसको मलाह से श्रीरामचन्द्र जी बनवायी हुए हों, उसे वही पाप लगे, जो कुक्र प्राप्ति की आशा से आये हुए दोन याचक कों कोरा जवाब दे कर और उसे हताश करने वाले अभिमानी धनी को लगता है ॥ ५० ॥

३मायया रमतां^४ नित्यं परुषः पिशुनोऽशुचिः ।

राज्ञो भीतस्त्वधर्मात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥५१॥

१ आशामाशंसमानानां—स्तुतर्ता । (गो०) २ ऊर्ध्वचक्षुर्षाम्—उत्तरा-सनस्थदातृमुखनिरीक्षकाणां । (गो०) ३ मायया—वञ्चनया । (गो०) ४ रमता—सक्तीभवतु । (गो०)

अथवा जिसकी सलाह से श्रीरामचन्द्र जो वन में गये हों, वह पुरुष कपट-प्रिय, चुगलखोर—(इधर की उधर लगाने वाला) वैईमान और अधर्मी हो। वह सदा राजभय से ब्रह्मत रहे ॥ ५१ ॥

ऋतुस्नातां सर्तीं भार्यामृतुकाला'नुरोधिनीम् ।

अतिवर्तेत दुष्टात्मा यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५२ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जो वन में गये हों, वह दुष्टात्मा ऋतुस्नाता (रजस्वला खो के शुद्ध होने पर) तथा पतिव्रता खो को, जो ऋतुस्नानान्तर रतिदान की अभिलाषा से निकट आयी हो, अङ्गीकार न करे। अथवा उसे वह पाप लगे जो ऋतुस्नाता पतिव्रता खो को रतिदान न देने वाले को होता है ॥ ५२ ॥

[नोट—ऋतुमती पत्नी को विमुख करना पाप है ।]

धर्मदारान्परित्यज्य परदारान्निषेवताम् ।

त्यक्तधर्मरतिर्मृदो यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५३ ॥

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जो वन में गये हों, उसे वही पाप हो, जो उस मूढ़ को होता है, जो धर्मानुराग को त्याग देता है और अपनी धर्मपत्नी को छोड़, पराई खो से मैथुन करता है। अर्थात् जो पाप धर्मविचारशून्य व्यभिचारी पुरुष को होता है ॥ ५३ ॥

विप्रलुप्तप्रजातस्यै दुष्कृतं ब्राह्मणस्य यम् ।

तदेव प्रतिपद्येत यस्यार्योऽमते गतः ॥ ५४ ॥

१ ऋतुकालानुरोधिनी—ऋतुस्नानदिवसेस्वसंनिहितां । (गो०) २ अतिवर्तेत—स्वीकारनकुर्यात् । (गो०) ३ विप्रलुप्तप्रजातस्य—नष्टापत्यस्य, सन्ततिहीनस्येत्यर्थः । (गो०)

अथवा जिसकी अनुमति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों उसे वह पाप लगे जो उस ब्राह्मण को लगता है, जिसके पुत्र मारे भूखों के मर जाय और वह उनका दालन न कर सके ॥ ५४ ॥

पानीयदूषके पापं तथैव विषदायके ।

यत्तदेकः१ स लभतां यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५५ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसे वही पाप हो, जो पाप पानी में विष आदि घोल कर बिगाढ़ देने से अथवा किसी को निश दे कर मार डालने से होता है। इन दोनों दुष्कर्मों का पापरूप फल उसे प्राप्त हो ॥ ५५ ॥

२ब्राह्मणायोद्यतां पूजां विहन्तु कलुषेन्द्रियः ।

बालवत्सां च गां दोग्धु यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५६ ॥

अथवा जिसकी सम्मति से श्रीरामचन्द्र जी वन में गये हों, उसकी सब इन्द्रियों कलुषित हो जायँ । उसे वही पाप हो, जो उस मनुष्य को होता है, जो किसी ब्राह्मण के होने वाले सत्कार को, उस ब्राह्मण की निन्दा कर, रुकवा दे, तथा छोटे बछड़े वाली गौ का दूध दुहे ॥ ५६ ॥

[नोट—ब्राह्मण के लाभ में भाजी मारना और जब तक बछड़ा छोटा हो, तब तक गौ का दूध दुहना, पाप है ।]

तृष्णार्तं सति पानीये विप्रलभेन३ योजयेत् ।

लभेत तस्य यत्पापं यस्यार्योऽनुमते गतः ॥ ५७ ॥

१ यत्रदेकः—द्वयं एको लभतां । (८०) २ ब्राह्मणयोद्यतांपूजांविहन्तु—
ब्राह्मणायउद्यतांकेनचित्प्राप्तितां पूजां सत्कृतिं विहन्तुब्राह्मणनिन्दादिनावारयतुः ।
(शि०) ३ विप्रलभेन—वज्ञनया । (गो०)

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सम्मति दी हो, उसे वही पाप हो, जो जल के रहते भी, प्यासे आदमी को बहाना कर, टाल देने वाले को होता है ॥ ५७ ॥

^१भक्त्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः^२ ।

तस्य पापेन युज्येत यस्यार्येऽनुमते गतः ॥ ५८ ॥

अथवा जिसने श्रीरामचन्द्र को वन में भेजने की सलाह दी हो, उसे वही पाप हो जो पाप उस मनुष्य को होता है जो एक दूसरे को जीतने के उद्देश्य से शास्त्रीय विचार में प्रवृत्त दो विद्वानों का मध्यस्थ वन, पक्षपात से प्रेरित हो, अपने प्रियजन का पक्षपात करता है । अर्थात् जो पाप पक्षपात करने वाले मध्यस्थ को होता है । रामामिरामी टीकाकार ने इस श्लोक पर यह टीका की है कि जहाँ पर वैष्णव और शैवों में विभगुपरत्व और शिवपरत्व के ऊपर विवाद होता हो, उसे शान्त न कर, उसे बहाने वाले को जो पाप होता है, वह पाप उसको लगे, जिसने श्रीरामचन्द्र जो को वन में भेजने की सलाह दी हो ॥ ५८ ॥

विहीनां पतिपुत्राभ्यां कौसल्यां पार्थिवात्मजः ।

एवमाश्वासयन्नेव दुःखार्तो निपपात ह ॥ ५९ ॥

राजपुत्र भरत इस प्रकार पति पुत्र विहीन कौशल्या को समझाते और अपनी सफाई देते हुर, आर्त हो, पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ५९ ॥

तथा तु शपथैः कष्टैः शपमानमचेतनम् ।

भरतं शोकसन्तसं कौसल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ ६० ॥

१ भक्त्या—जयेपापयमाश्रित्य । (गो०) २ पश्यतः—ब्रुवत्सत्यपापेन युज्येतेति संबन्धः । (गो०)

तब भरत से जो इस प्रकार की कठिन शपथें खा कर, शोक से मन्तप हो, ज्ञानशून्य हो गये थे—कौशल्या जी बोलीं ॥ ६० ॥

मम दुःखमिदं पुत्र भूयः समुपजायते ।

शपथैः शपमानो हि प्राणानुपरुणत्सि मे ॥ ६१ ॥

हे वत्स ! तुम जो तरह तरह की शपथें खा रहे हो, सो इससे तो मुझ दुखियारी का दुःख और भी अधिक बढ़ता है ॥ ६१ ॥

दिष्ट्या^१ न चलितो धर्मादात्मा^२ ते सहलक्ष्मणः ।

वत्स सत्यपतिज्ञो मे सतां लोकानवाप्स्यसि ॥ ६२ ॥

यह सौभाग्य की बात है कि, तुम्हारा मन अपने बड़े भाई की ओर से चलायमान नहीं हुश्चा और तुम लक्ष्मण की तरह सत्य-प्रतिज्ञ हो । अतः तुम उस लोक को प्राप्त होगे, जिसे सज्जन प्राप्त करते हैं ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वा चाङ्गमानीय भरतं भ्रातृवत्सलम् ।

परिष्वज्य महाबाहुं रुरोद भृशदुःखिता ॥ ६३ ॥

यह कह महाराजी कौशल्या, महाबाहु भ्रातृवत्सल भरत को गोदी में ले और हृदय से लगा, अत्यन्त दुःखित हो, रोने लगीं ॥ ६३ ॥

एवं विलपमानस्य दुःखार्तस्य महात्मनः ।

मोहाच्च शोकसंरोधभूव लुलितं मनः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार रोतं हुए और दुःख से पीड़ित भरत का मन शोक उमड़ने से उत्पन्न मोह के वश गती हो, उद्विग्न हो गया ॥ ६४ ॥

^१ दिष्ट्या—भाग्येन । (गो०) ^२ आत्मा—अन्तःकरण । (गो०)

३ धर्मात्—ज्येष्ठानुवर्तनधर्मात् । (गो०)

लालप्यमानस्य विचेतनस्य

प्रणष्टवुद्धेः पतितस्य भूमौ ।

मुहुर्मुहुर्निःश्वसतश्च धर्म

सा तस्य शोकेन जगाम रात्रिः ॥ ६५ ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥

महारानी कौशल्या द्वारा लाड किये गये, बारंबार विलाप करते हुए, चेतनाशून्य, पृथिवी पर एडे छटपटाते हुए, बारंबार निश्वास लेते और शोक करते हुए भरत ने वह रात बिताई ॥ ६५ ॥

अयोध्याकाण्ड का पचहत्तरवौ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

षड्सप्ततितमः सर्गः

— : ० : —

तमेवं शोकसन्तप्तं भरतं कैकयीसुतम् ।

उवाच वदतां श्रेष्ठो वसिष्ठः श्रेष्ठवागृषिः ॥ १ ॥

कैकयीसुत भरत जी को इस प्रकार शोकाकुल देख, बोलने वालों में श्रेष्ठ ऋषि वशिष्ठ जी उनसे उत्तम वचन बोले ॥ १ ॥

अलं शोकेन भद्रं ते राजपुत्र महायशः ।

प्राप्तकालं नरपतेः कुरु संयाननुत्तमम् ॥ २ ॥

हे परम यशस्वी राजपुत्र ! तुम्हारा मङ्गल हो । वस, बहुत हुआ, अब शोक मत करो । अब साय हो चुका ; अतः अब विधि विधान से महाराज की अन्त्येष्टि किया करो ॥ २ ॥

वसिष्ठस्य वचः श्रुत्वा भरतो धारणां गतः ।

प्रेतकार्याणि सर्वाणि कारयामास धर्मवित् ॥ ३ ॥

पृथिवी पर पड़े हुए धर्मात्मा भरत जी ने बशिष्ठ जी के वचन सुन, महाराज के प्रेतकर्मों का आरम्भ किया ॥ ३ ॥

उद्धृतं तैलसंरोधात्स तु भूमौ निवेशितम् ।

आपीतवर्णवदनं प्रसुप्तमिव भूपतिम् ॥ ४ ॥

(लोगों ने) महाराज के शव को तेल के कढ़ाह से निकाल कर, ज़मीन पर लिटाया । यद्यपि कई दिनों तक तेल में पड़े रहने से महाराज का शव पीला पड़ गया था, तथापि यही जान पड़ता था कि, मानों महाराज से रहे हैं । अर्थात् उनके मुख की चेष्टा बिगड़ी न थी ॥ ४ ॥

संवेश्य शयने चाउये नानारब्नपरिष्कृते ।

ततो दशरथं पुत्रो विललाप सुदुःखितः ॥ ५ ॥

अनन्तर शव को विविध रक्तजटित विस्तरे पर लिटा कर, अत्यन्त दुःखो हो भरत जी महाराज के लिये विलाप करने लगे ॥ ५ ॥

किं ते व्यवसितं राजन्प्रोषिते मर्यनागते ।

विवास्य रामं धर्मज्ञं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ ६ ॥

हे राजन् ! न मालूम आपने क्या सोचा, जो मेरे आये विना ही आपने धर्मज्ञ श्रीराम और महाबली लक्ष्मण को वन में भेज दिया ॥ ६ ॥

क यास्यसि महाराज हित्वेमं दुःखितं जनम् ।

हीनं पुरुषसिहेन रामेणाक्षिष्ठकर्मणा ॥ ७ ॥

हे महाराज ! अमानुषिक कर्मकर्ता पुरुषसिंह श्रोराम विहीन मुझ दुखिया को छोड़ आप कहाँ जाते हैं ॥ ७ ॥

योगक्षेमं तु ते राजन्कोऽस्मिन्कल्पयिता पुरे ।

त्वयि प्रयाते १स्वस्तात् रामे च वनमाश्रिते ॥ ८ ॥

हे महाराज ! आपकी इस पुरी की राज्यवस्था, स्थिरचित्त से अब कौन सँभालेगा । क्योंकि आप तो स्वर्गवासी और श्रीराम वनवासी हैं ॥ ९ ॥

विधवा पृथिवी राजस्त्वया हीना न राजते ।

हीनचन्द्रेव रजनी नगरी प्रतिभाति माम्* ॥ ९ ॥

हे महाराज ! आपके बिना यह विधवा पृथिवी शोभा नहीं पाती । यह अयोध्यापुरी तो मुझे चन्द्रहीन रात्रि जैसी शोभाहीन जान पड़ती है ॥ १० ॥

एवं विलपमानं तं भरतं दीनमानसम् ।

अब्रवीद्वचनं भूयो वसिष्ठस्तु महामुनिः ॥ १० ॥

भरत जी को इस प्रकार दीन मन से विलाप करते देख, महर्षि वशिष्ठ फिर उनसे बोले ॥ १० ॥

प्रेतकार्याणि यान्यस्य कर्तव्यानि विशांपतेः ।

तान्यव्यग्रं महावाहो क्रियन्तामविचारितम् ॥ ११ ॥

हे महावाहो ! हे पृथिवीनाथ ! अब तुम व्यग्रता त्याग कर महाराज की अन्त्येष्टिक्रिया के जो कर्म करने चाहिये, सो करो । अब सोच विचार करने का समय नहीं है ॥ ११ ॥

* स्वः — स्वर्ग । (गा०) * पाठान्तरे — ‘मा’ , ‘मे’ ।

तथेति भरतो वाक्यं वसिष्ठस्याभिपूज्य तत् ।

ऋत्विक्पुरोहिताचार्यास्त्वरयमास सर्वशः ॥ १२ ॥

तब भरत जी ने वशिष्ठ जी की बात मान ऋत्विज, पुरोहित और आचार्य से महाराज के प्रेतकर्म करवाने के लिये शीघ्रता की ॥ १२ ॥

ये त्वग्रयो नरेन्द्रस्य चाग्न्यगाराढहिष्कृताः ।

ऋत्विग्भिर्याजकैश्चैव तेहूयन्ते* यथाविधि ॥ १३ ॥

महाराज के अग्न्यगार में जो अग्नि में स्थापित थी, उन सब को बाहर निकाल कर, ऋत्विज और याचक यथाविधि होम करने लगे ॥ १३ ॥

शिविकायामथारोप्य राजानं गतचेतसम् ।

बाष्पकण्ठा विमनसस्तमूढुः परिचारकाः ॥ १४ ॥

तदनन्तर परिचारकगण महाराज के शव को पालकी में रख, अत्यन्त उदास और रोते हुए पालकी उठा कर चले ॥ १४ ॥

हिरण्यं च सुवर्णं च वासांसि विविधानि च ।

प्रकिरन्तो जना मार्गं नृपतेरग्रतो ययुः ॥ १५ ॥

लोग महाराज की पालकी के आगे आगे मेहरें रुपये अथवा सोने चाँदी के फूल और तरह तरह के बछ सङ्कों पर बरसाते हुए चले जाते थे अर्थात् लुगते हुए चले जाते थे ॥ १५ ॥

१ चन्दनागरुनिर्यासान्सरलं^१ पद्मकं तथा ।

देवदारूणि चाहृत्य क्षेपयन्ति तथा परे ॥ १६ ॥

१ चन्दनागरुनिर्यासान् —निर्यासे गुगुलः । (गो०) २ सरलं—धूपसरलं । (गो०) * पाठान्तरे—“तेऽहूयन्त” “आहियन्त” ।

कुछ लोग चन्दन, अगर, गुण्डुल की धूप (पालकी के इधर उधर) जलाते जाते थे । (जब पालकी सरयूतट पर पहुँची तब) देवदारु, पद्मक, चन्दन, अगर आदि सुगन्धित काष्ठ पक्ष प्रक्रिया कर चिता बनायी गयी ॥ १६ ॥

गन्धानुच्चावचांश्चान्यांस्तत्र गत्वाऽथ भूमिपम् ।

ततः संवेशयामासुश्रितामध्ये तमृत्विजः ॥ १७ ॥

चिता में और भी अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ डाले गये । तदनन्तर मृत्विजों ने चिता के (पास पालकी लेजा कर तथा उसमें से महाराज के शव को निकाल,) ऊपर शव को लिटा दिया ॥ १७ ॥

तथा हुताशनं दत्त्वा 'जेपुस्तस्य' तमृत्विजः ।

जगुश्च ते यथाशास्त्रं तत्र सामानि सामगाः ॥ १८ ॥

तदनन्तर मृत्विज लोग महाराज की परमगति के लिये प्रेत्याग्नि में आहुति दें कर, पैतृमेधिक मंत्र विशेषों का जप करने लगे और सामगायी ब्राह्मणों ने सामवेद का गान किया ॥ १८ ॥

शिविकाभिश्च यानैश्च यथार्हं तस्य योषितः ।

नगरान्निर्युस्तत्र दृष्टेः परिवृत्तास्तदा ॥ १९ ॥

महाराज की शोकसन्तप्त सब रानियाँ भी यथायोग्य पालकी रथ आदि सदारियों में बैठ, बूढ़ रक्षकों के साथ नगर के बाहर, जहाँ महाराज की चिता बनाई गयी थी, पहुँचीं ॥ १९ ॥

? जेपुः—पैतृमेधिकमंत्रविशेषानितिशेषः । (गो०) २ तस्य परम गत्यर्थमितिशेषः । (गो०)

प्रसव्यं चापि तं चक्रुर्दित्विजोऽग्निचितं वृपम् ।

ख्यिश्व शोकसन्तसाः कौसल्याप्रमुखास्तदा ॥ २० ॥

फिर ऋत्विजों ने और कौशल्यादि रानियों ने अत्यन्त शोक-
सन्तस हो, जलते हुए महाराज के शव की प्रदक्षिणा की ॥ २० ॥

कौश्चीनामिव नारीणां निनादस्तत्र शुश्रुवे ।

आर्तानां करुणं काले क्रोशन्तीनां सहस्रशः ॥ २१ ॥

उस समय करुण स्वर से रोती हुई और शोक से व्याकुल होने
के कारण चिल्हाती हुई, उन सहस्रों ख्यियों का चिल्हाना सुनने से
येसा जान पड़ता था, मानों क्राँच पक्षी की मादाएँ चिल्हा रही
हों ॥ २१ ॥

ततो रुदन्त्यो विवशा विलप्य च पुनः पुनः ।

यानेभ्यः सरयूतीरमवतेर्खराङ्गनाः ॥ २२ ॥

तदनन्तर सब रानियाँ रोती और चिलाप करती हुई, अपनी
अपनी सवारियाँ से उतर, सरयू नदी के तट पर पहुँची ॥ २२ ॥

कृत्वोदकं ते भरतेन सार्धं

वृपाङ्गना मन्त्रिपुरोहिताश ।

पुरं प्रविश्याश्रुपरीतनेत्रा

भूमौ दशाहं व्यनयन्त दुःखम् ॥ २३ ॥

इति षट्सप्ततितमः सर्गः ॥

उन ख्यियों ने भरत, मंत्री, और पुरोहितों के साथ महाराज को
जलाञ्जलि दी । तदनन्तर सब लोग आँख बहाते हुए नगर में आये

और दस दिन तक भूमि पर लेट कर बड़े दुःख से समय बिताया ॥ २३ ॥

श्रयोव्याकारण का विहत्तरवा सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

सप्तसततितमः सर्गः

—:०:—

ततो दशाहेतिगते कृतशौचो नृपात्मजः ।

द्वादशेऽहनि सम्प्राप्ते श्राद्धकर्मण्यकारयत् ॥ १ ॥

दस दिन बीत जाने पर ११वें दिन भरत जी शुद्ध हुए और बारहवें दिन सपिष्ठी आदि कर्म किये ॥ १ ॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ रत्वं धनपत्रं च पुष्कलम् ।

वासांसि च महार्हाणि रत्वानि विविधानि च ॥ २ ॥

और ब्राह्मणों को बहुत सा रत्न, धन और अन्न तथा बहुमूल्य वस्त्र एवं अन्य विविध उत्तम वस्तुएँ दीं ॥ २ ॥

वास्तिकं^१ वहुशुक्लं^२ च गाश्वापि शतशस्तदा ।

दासीदासं च यानं च वेश्मानि सुमहान्ति च ॥३॥

ब्राह्मणेभ्यो ददौ पुत्रो राजस्तस्यौर्ध्वदैहिकम् ।

ततः प्रभातसमये दिवसेऽथ त्रयोदशे ॥ ४ ॥

१ वास्तिकं—छागानांसमूहोऽवास्तिकं । (गो०) २ वहुशुक्लं—छागविशेषणं । (गो०)

भरत जी ने बहुत से सफेद वकरे, सैकड़ों गौण, अनेक दास दासी, सवारियाँ और बड़े बड़े मकान महाराज के मृत-कर्म में ब्राह्मणों की दान दिये। तदनन्तर तेरहवें दिन प्रातः-काल ॥ ३ ॥ ४ ॥

विललाप महाबाहु भरतः शोककर्शितः ।
शब्दापि हितकण्ठस्तु शोधनार्थमुपागतः ॥ ५ ॥

चितामूले पितुर्वाक्यमिदमाह सुदुःखितः ।
तात यस्मिन्निसृष्टोऽहं त्वया भ्रातरि राघवे ॥ ६ ॥

महाबाहु भरत जी शोक से मुक्ति हो, विलाप करने लगे और चिता से अस्थि बीनने के लिये चिता के समीप जा गद्गद बाणी से अत्यन्त दुखी हो और पिता को पुकार कर कहने लगे—हे तात ! जिन भाई श्रीरामचन्द्र के भरोसे आपने मुझे छोड़ा था ॥ ५ ॥ ६ ॥

तस्मिन्वनं प्रव्रजिते शून्ये^१ त्यक्तोऽस्म्यहं त्वया ।
यस्या गतिरनाथायाः पुत्रः प्रव्राजितो वनम् ॥ ७ ॥

उनको वन में भेज, आपने भी मुझे अनाथ की तरह त्याग दिया। जिन अनाथिनी का पुत्र वन में निकाल दिया गया ॥ ७ ॥

तामम्बां तात कौसल्यां त्यक्त्वा त्वं क गतो नृप ।
दृष्टा भस्मारुणं तच्च दण्डास्थिस्थानमण्डलम् ॥ ८ ॥

^१ शून्ये—स्वजनरहिते । (शि०)

उन माता कौशलया को ढोड़ कर, है तात ! तुम कहाँ चले गये ?
भरत जी पिता के शरीर को जलो हुई श्वेत रंग की राख चिता
स्थान पर देख ॥ ८ ॥

पितुः शरीरनिर्वाणं निष्टुनन्विषसाद् सः ।

स तु दृष्ट्वा रुदन्दीनः पपात् धरणीतले ॥ ९ ॥

और पिता के शरीर को नष्ट हुआ देख, निरन्तर रो कर तथा
दीन हो कर, विलाप करते हुए, भूमि पर गिर पड़े ॥ ९ ॥

उत्थाप्यमानः शक्रस्य यन्त्रध्वजः इव च्युतः ।

अभिपेतुस्ततः सर्वे तस्यामात्याः शुचिव्रतम् ॥ १० ॥

फिर लोगों द्वारा उठाये जाने पर भरत जी उसी प्रकार गिर
पड़े जिस प्रकार डोरो से बंधो इन्द्र की धज्जा, डोरी टूट जाने से
गिर पड़ती है । शुचिव्रत भरत को गिरा देख, मंत्रियों ने दौड़ कर
उनको उठाया ॥ १० ॥

३ अन्तकाले निपतितं ययातिमृष्यो यथा ।

शत्रुघ्नश्चापि भरतं दृष्ट्वा शोकपरिप्लुतम् ॥ ११ ॥

मंत्रियों ने भरत को उसी प्रकार उठाया जिस प्रकार ऋषियों
ने राजा ययाति को पुण्यक्षीण होने पर स्वर्ग से गिरते समय उठाया
था । शत्रुघ्न जी भी भरत जी को शोक में डूबा हुआ देख ॥ ११ ॥

विसंज्ञो न्यपतदभूमौ भूमिपालमनुस्मरन् ।

उन्मत्त इव निश्चेता विललाप सुदुःखितः ॥ १२ ॥

१ शक्रस्य यन्त्रध्वजः—रज्जुयुक्तो ध्वजहृतपपात् । (गो०) २ अन्तकाले
—पुण्यक्षयकाले । (गो०)

महाराज का स्मरण करते हुए अचेत हो, भूमि पर गिर पड़े
और अत्यन्त दुःखी होने के कारण वेसुध और उन्मत्त की तरह
विलाप करने लगे ॥ १२ ॥

स्मृत्वा पितुर्गुणाङ्गानि तानि तानि तदा तदा ।
मन्थरांप्रभवस्तीत्रः कैकेयीग्राहसङ्कुलः ॥ १३ ॥

वह पिता के गुणों को एक एक कर स्मरण करते जाते थे ।
इस समय शत्रुघ्न जी कहने लगे कि, मन्थरा की करतूत से उत्पन्न,
और कैकेयी रूपी मगर से युक्त ॥ १३ ॥

वरदानमयोक्षोभ्योऽप्यजयच्छोकसागरः ।

सुकुमारं च बालं च सततं लालितं त्वया ॥ १४ ॥

वरदान रूपी स्थिर महासागर में हम सब ढूब गये । हे
पिता जी ! जिस सुकुमार बालक का लाड प्यार आपने सदा
किया, ॥ १४ ॥

क तात भरतं हित्वा विलपन्तं गतो भवान् ।

ननु भोज्येषु पानेषु वस्त्रेष्वाभरणेषु च ॥ १५ ॥

इस विलाप करते हुए भरत को छोड़, आप कहाँ चल दिये ?
भोजन के योग्य पदार्थ वस्त्र और आभूषण ॥ १५ ॥

प्रवारयसि नः सर्वास्तन्नः कोऽन्यः करिष्यति ।

अवदारणकाले तु पृथिवी नावदीर्यते ॥ १६ ॥

या विहीना त्वया राजा धर्मज्ञेन महात्मना ।

पितरि स्वर्गमापन्ने रामे चारण्यमाश्रिते ॥ १७ ॥

१ प्रवारयसि—प्रकर्षेण स्वयं ग्राहयसि । (गो०)

आप आग्रह पूर्वक हम लोगों को स्वयं दिया करते थे—
सो ये सब वस्तुएँ हमें अब कौन देगा ? इस दारुण काल में, आप
जैसे महात्मा और धर्मज्ञ महाराज से रहित होने पर यह पृथिवी
फट क्ष्यों नहीं जाती । पिता जी तो स्वर्ग चले गये और श्रीरामचन्द्र
वनवासी हो गये ॥ १६ ॥ १७ ॥

किं मे जीवितसामर्थ्यं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

हीनो भ्रात्रा च पित्रा च शून्यामिक्ष्वाकुपालिताम् ॥ १८ ॥

अब मैं किस प्रकार प्राण धारण करूँ । मैं तो अब अग्नि में
कूद पड़ूँगा । अब मैं भाई और पिता से हीन इस इक्ष्वाकुपालित
सूनी ॥ १८ ॥

अयोध्यां न प्रवेक्ष्यामि प्रवेक्ष्यामि तपोवनम् ।

तयोर्विलिपिं श्रुत्वा व्यसनं चान्ववेक्ष्य तत् ॥ १९ ॥

अयोध्या में न जा कर, तपोवन में जाऊँगा । इस प्रकार उन
दोनों भाइयों का चिलाप सुन, और उनका कष्ट देख, ॥ १९ ॥

भृशमार्त्तरा भूयः सर्व एवानुगमिनः ।

ततो विषण्णौ श्शोचन्तौ शत्रुघ्नभरतावुभौ ॥ २० ॥

सब नौकर चाकर बहुत दुःखी हुए । दोनों भाई विषादयुक
परं दुःखी हो ॥ २० ॥

धरण्यां संव्यचेष्टेतां भग्नशृङ्गाविवर्षभौ ।

ततः प्रकृतिमान्वैद्यं पितुरेषां पुरोहितः ॥ २१ ॥

१ व्यचेष्टेतां—व्यलुण्ठेतां । (गो०) २ प्रकृतिमान्—प्रशस्तस्वभावः ।
(गो०) ३ वैद्यः—वैदान्तविद्याधिगतपरावरतत्वयाथात्म्यविज्ञानः सर्वज्ञ-
इतियावत् । (गो०) * पाठान्तरे—“विश्रान्ती,” “श्रान्तीच” ।

सींग कटे हुए बैल को तरह, पृथिवी पर गिर कर, क्रृष्णने लगे। उस समय प्रशस्त स्वभाव सर्वज्ञ और उनके पिता के पुरोहित ॥ २१ ॥

वसिष्ठो भरतं वाक्यमुत्थाप्य तमुवाच ह ।

त्रयोदशोऽयं दिवसः पितुर्वृत्तस्य^१ ते विभो ॥ २२ ॥

वशिष्ठ जो, भरत जो को उठा कर कहने लगे। हे विभो ! आपके पिता का अग्निसंस्कार हुए आज तेरह दिन हो चुके ॥ २२ ॥

सावशेषास्थिनिचये किमिह त्वं विलम्बसे ।

त्रीणि द्वन्द्वानि भूतेषु प्रवृत्तान्यविशेषतः ॥ २३ ॥

अतः अब भस्म सहित अस्थि सञ्चयन करने में क्यों देर करते हो। प्रत्येक प्राणी में तीन द्वन्द्व (जोड़े) रहा करते हैं—अर्थात् (१) भूख प्यास (२) शोक मोह, और (३) जरा (बुढ़ापा) मरण ॥ २३ ॥

तेषु चापरिहार्येषु नैवं भवितुमर्हसि ।

सुमन्त्रश्चापि शत्रुघ्नमुत्थाप्याभिप्रसाद्य च ॥ २४ ॥

इन द्वः को दूर करना सम्भव नहीं। अतएव तुमको इस प्रकार दुःखी होना उचित नहीं। (वशिष्ठ जी ने भरत को इस प्रकार समझाया और) तत्वज्ञ तुमन्त्र ने भी शत्रुघ्न को उठा कर और प्रसन्न कर सब प्राणियों की उत्पत्ति एवं विनाश के तत्व को समझाया ॥ २४ ॥

^१ वृत्तस्य—संस्कृतस्य । (गो०)

श्रावयामास तत्त्वज्ञः सर्वभूतभवाभवौ ।
उत्थितौ च नरव्याघौ प्रकाशेते यशस्विनौ ।
वर्षातपपरिक्लिन्नौ पृथगिन्द्रध्वजाविव ॥ २५ ॥

जब वे दोनों पुरुषसिंह एवं यशस्वी भाई उठ कर खड़े हुए,
तब वे ऐसे जान पड़े, मानों वर्षा और धाम के कारण मलिन
भाव धारण किये हुए, दो इद्र को धन्नार्ण अतः अलग खड़ी
हों ॥ २५ ॥

अश्रूणि परिमृद्गन्तौः रक्ताक्षौ दीनभाषिणौ ।
अपात्यास्त्वरयन्ति स्म तनयौ चापराः क्रियाः ॥ २६ ॥

इति सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥

मंत्रिगण इन दोनों भाइयों से, जिनकी आखें लाल हो गयी
थीं और जो आखों के आसुओं को पौँछ रहे थे तथा जो दोन वचन
बोल रहे थे, आगे का कृत्य करने के लिये, शोब्रता करने
लगे ॥ २६ ॥

अयोध्याकाशड का सनहतरवौ सर्ग समाप्त हुआ ।

—१०:—

अष्टसप्ततितमः सर्गः

—१०:—

अथ यात्रां समीहन्तं शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।
भरतं शोकसन्तसमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

भरत जी से, जो शोकसन्तप्त हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास जाने का विचार कर रहे थे, लक्ष्मण के द्वाटे भाई शत्रुघ्नि बोले ॥ १ ॥

गतिर्यः सर्वभूतानां दुःखे किं पुनरात्मनः ।

स रामः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रिया प्रव्राजितो वनम् ॥२॥

भाई ! जो श्रीरामचन्द्र दुःख और सङ्कट में प्राणि मात्र के एक मात्र अवलंब हैं और सामर्थ्ययुक्त हैं—वे ही जब खी सहित वन में निकाल दिये गये, तब हम अपने दुःखों की बात ही क्या कहैं ॥ २ ॥

बलवान्वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ ।

किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम् ॥ ३ ॥

(यदि मान लिया जाय कि, श्रीरामचन्द्र ने सङ्कोचवश उस समय कुछ न कहा तो) बलवान् और वीर्य सम्पन्न लक्ष्मण ने पिता को रोक कर, श्रीरामचन्द्र को क्यों न बचाया ? ॥ ३ ॥

पूर्वमेव तु निग्राहः समवेक्ष्य नयानयौ ।

उत्पथं यः समारूढो नार्या राजा वशं गतः ॥ ४ ॥

क्योंकि महाराज जब खी के वशवर्ती हो, अथवा खी के आग्रह से अन्याय करने को उद्यत हुए थे, तब ही लक्ष्मण को उचित था कि, नीति अनीति का भलो भाँति विचार कर, पहिले ही महाराज को इस कर्म करने से रोक देते ॥ ४ ॥

इति सम्भाषमाणे तु शत्रुघ्ने लक्ष्मणानुजे ।

प्राग्द्वारेऽभूत्तदा कुञ्जा सर्वा भरणभूषिता ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के द्वारे भाई शत्रुघ्न जी इस प्रकार भरत जी से बात चीत कर ही रहे थे कि, इतने ही में कुबड़ी मन्थरा सब गहने पहिने हुए पूर्वद्वार पर देख पड़ो ॥ ५ ॥

लिपा चन्दनसारेणः राजवस्त्राणिः विभ्रती ।

विविधं विविधैस्तैर्भूषणैश्च विभूषिता ॥ ६ ॥

उस समय मन्थरा गाढ़े चन्दन से अपना शरीर पोते हुए थी, कैकेयी के दिये रानियों के पहनने योग्य वस्त्रों से सजी हुई थी और अनेक प्रकार के रानियों के पहिनने योग्य आभूषण धारण किये हुए थी ॥ ६ ॥

मेखलादामभिश्चत्रैन्यैश्च शुभभूषणैः ।

बभासे बहुभिर्बद्धा रजुबद्धेव वानरी ॥ ७ ॥

उसकी कमर के ऊपर जड़ाऊ करधनी थी तथा अन्य अंगों पर भी बड़े बढ़िया और सुन्दर अनेक जड़ाऊ आभूषण थे । (यद्यपि उसने अपने शरीर का शृङ्खाल करने में कोई कोर कसर नहीं रखी थी ; तथापि) वह अनेक आभूषणों को धारण किये हुए डोरी से बँधी हुई बंदरिया जैसी जान पड़ती थी ॥ ७ ॥

तां समीक्ष्य तदा द्वाःस्था *भूशं पापस्य कारिणीम् ।

गृहीत्वाऽकरुणां कुञ्जां शत्रुघ्नाय न्यवेदयत् ॥ ८ ॥

इस समय उस महापापिन को देख, द्वारपालों ने उसे निर्दयता पूर्वक पकड़, शत्रुघ्नजी को सौंप दिया ॥ ८ ॥

१ चन्दनसारेण—चन्दनपहुङ्न । (गो०) २ राजवस्त्राणि—राजार्हवस्त्राणि कैकेयीदत्तानि । (गो०) * पाठान्तरे—“ सुभूशं पापकारिणीम् । ”

यस्याः कुते वने राष्ट्रो न्यत्तदेहश्च वः पिता ।

सेयं पापा नृशंसा च तस्याः कुरु^१ यथामति ॥ ९ ॥

और शत्रुघ्न से बोले कि, जिसके कहने से श्रीरामचन्द्र वनवासी हुए और आपके पिता को शरीर ल्यागना पड़ा, वह यही पापिन और कसाइन हैं। सो जैसा तुम उचित समझो वैसा इसे दण्ड दो ॥ ९ ॥

शत्रुघ्नश्च तदाज्ञाय वचनं भृशदुःखितः ।

अन्तःपुरचरान्सर्वानित्युवाच धृतव्रतः^२ ॥ १० ॥

शत्रुघ्न जो यह बात सुन अत्यन्त ही दुःखित हो तथा कर्त्तव्य-कर्म निश्चय कर, सब अन्तःपुरचारियों से यह बोले ॥ १० ॥

तीव्रमुत्पादितं दुःखं भ्रातृणां मे तथा पितुः ।

यथा सेयं नृशंसस्य कर्मणः फलमश्नुताम् ॥ ११ ॥

जिसने मेरे सब भाइयों और पिता के लिये महान् दुःख उत्पन्न किया, यह वही घात करने वाली है—अतः यह अपने किये का फल भागे ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु तेनाशु सखीजनसमावृता ।

गृहीता बलवत्कुञ्जा सा तदगृहमनादयत् ॥ १२ ॥

यह कह कर, शत्रुघ्न ने सखियों से घिरो हुई मन्थरा को तुरन्त ऐसे ज़ोर से पकड़ा कि, उसके चोकार से सारा भवन भर गया ॥ १२ ॥

१ कुरुशिक्षणमितिशेषः । (गो०) २ धृतव्रतः—कर्त्तव्यत्वेनभवधृत

व्रतः । (रा०)

ततः सुभृशसन्तस्तस्याः सर्वः सखीजनः ।

क्रुद्धमाज्ञाय शत्रुघ्नं विपलायत सर्वशः ॥ १३ ॥

मन्थरा की यह दशा देख उसके साथ की सखियाँ बहुत सन्तप्त हुईं और शत्रुघ्न को क्रुद्ध हुआ जान, वे सब इधर उधर भाग गयीं ॥ १३ ॥

आमन्त्रयत क्रुत्सनश्च तस्याः सर्वः सखीजनः ।

यथायं समुपक्रान्तो निःशेषान्नः करिष्यति ॥ १४ ॥

और दूर जा कर सब आपस में कहने लगीं कि, इस समय शत्रुघ्न ने जैसा कार्य आरम्भ किया है, उससे तो यह जान पड़ता है कि, शत्रुघ्न हम सब को मार ही डालेंगे ॥ १४ ॥

सानुक्रोशां वदान्यां च धर्मज्ञां च यशस्विनीम् ।

कौसल्यां शरणं याम सा हि नोऽस्तु ध्रुवा गतिः ॥ १५ ॥

अतएव इस समय हमें उन दयालु, परमोदार, धर्मज्ञ एवं यशस्विनी कौशल्या जो का आश्रय ग्रहण करना उचित है । क्योंकि वे ही हमको आश्रय देंगी ॥ १५ ॥

स च रोषेण ताम्राक्षः शत्रुघ्नः शत्रुतापनः ।

विचकर्षं तदा कुञ्जां क्रोशन्तीं धरणीतले ॥ १६ ॥

उधर मारे क्रोध के लाल लाल आँखें किये हुए, शत्रुओं के दमन करने वाले शत्रुघ्न ने, चीत्कार करती हुई मन्थरा को, भूमि पर पटक कर कढ़ारा ॥ १६ ॥

तस्या ह्याकृष्यमाणाया मन्थरायास्ततस्ततः ।

चित्रं बहुविधं भाण्डं^१ पृथिव्यां तद्वयशीर्यत ॥ १७ ॥

घसीटा घसाटी में मन्थरा के सब गहने तितर हो गये और दूट फूट कर चारों ओर विखर गये ॥ १७ ॥

तेन भाण्डेन *संस्तीर्ण श्रीमद्राजनिवेशनम् ।

अशोभत तदा भूयः शारदं गगनं यथा ॥ १८ ॥

उस समय वह परम सुन्दर राजभवन उन दूटे फूटे विखरे हुए गहनों से उसी प्रकार शोभित हुआ, जिस प्रकार शरदऋतु का आकाशमण्डल तारागण से सुशोभित होता है ॥ १८ ॥

स बली वलवत्क्रोधात् गृहीत्वा पुरुषर्षभः ।

कैकेयीमभिनिर्भत्स्य वभाषे परुषं वचः ॥ १९ ॥

पुरुषश्रेष्ठ, वलवान शत्रुघ्न जी मन्थरा को अत्यन्त कुद्ध हो, पकड़े हुए थे । यह देख कैकेयी ने मन्थरा को कुड़ाना चाहा । इस पर शत्रुघ्न जी ने कैकेयी को भी अत्यन्त कड़वी बातें सुनायी ॥ १९ ॥

तैर्वाक्यैः परुषैर्दुःखैः कैकेयी भृशदुःखिता ।

शत्रुघ्नभयसंत्रस्ता पुत्रं शरणमागता ॥ २० ॥

शत्रुघ्न के उन कड़वे वचनों से कैकेयी अत्यन्त दुःखित हो और शत्रुघ्न से भयभीत हो, अपने पुत्र भरत के शरण गयी ॥ २० ॥

तां प्रेक्ष्य भरतः कुद्धं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ।

अवध्याः सर्वभूतानां प्रमदाः क्षम्यतामिति ॥ २१ ॥

तब शत्रुघ्न को कुपित देख, भरत ने उनसे यह कहा, भाई ! प्राणिमात्र के लिये स्त्रियां अवध्य हैं, अतएव अब इसे न्मा करना चाहिये अर्थात् क्रोड देना चाहिये ॥ २१ ॥

¹ वलवत्क्रोधत्—अतीवक्रोधात् । (गो०) * पाठान्तरे—“सहीर्ण” ।

हन्यामहमिमां पापां कैकेयीं दुष्टचारिणीम् ।

यदि मां धार्मिको रामो नासूयेन्मातृघातकम् ॥ २२ ॥

(यदि स्त्रियाँ अवध्य न होतीं और) यदि धर्मात्मा श्रोराम-
चन्द्र जो मुझे मातृघाती समझ, मुझ पर कुद्र न होते, तो मैं तो
इस पापिन दुष्टा कैकेयी को (कभी का) मार डालता ॥ २२ ॥

इमामपि हतां कुञ्जां यदि जानाति राघवः ।

त्वां च मां च हि धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम् ॥ २३ ॥

यदि इस कुञ्जा का मारना कहीं श्रोरामचन्द्र जो जान पाये,
तो वे धर्मात्मा निश्चय ही तुमसे और मुझसे बात तक न
करेंगे ॥ २३ ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा शत्रुघ्नो लक्ष्मणानुजः ।

न्यवर्तत ततो रोषात्तां मुमोच च मन्थराम् ॥ २४ ॥

इस प्रकार भरत के कहने पर, लक्ष्मण के छोटे भाई शत्रुघ्न का
क्रोध शान्त हुआ और उन्होंने मन्थरा को छोड़ दिया ॥ २४ ॥

सा पादमूले कैकेया मन्थरा निपपात ह ।

निःश्वसन्ती सुदुःखाता कृपणं विललाप च ॥ २५ ॥

तब मन्थरा जा कर कैकेयी के पैरों पर गिर पड़ी और
अत्यन्त दुखी हो श्वसे छोड़ती हुई, करुणस्वर से विलाप करने
लगी ॥ २५ ॥

शत्रुघ्नविक्षेपविमूढसंज्ञां

समीक्ष्य कुञ्जां भरतस्य माता ।

शनैः समाश्वासयदार्तरूपां

क्रौञ्चीं विलग्नामिव वीक्षमाणाम् ॥ २६ ॥

इति अष्टसप्ततितमः सर्गः ॥

शशुभ्र जी के कढ़ारने से अचेत और पीड़ित मन्थरा को जाल-पाश में बंधी क्रौञ्ची पक्षिणी की तरह देख, भरतमाता कैकेयी ने धीरे धीरे उसे समझाया ॥ २६ ॥

अयोध्याकाण्ड का अठत्तरवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकोनाशीतितमः सर्गः

—:०:—

ततः प्रभातसमये दिवसे च चतुर्दशे ।

समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् ॥ १ ॥

चौदहवें दिन प्रातःकाल होने पर राज-कर्मचारों लोग इकट्ठे हुए और भरत जी से कहने लगे ॥ १ ॥

गतो दशरथः स्वर्गं यो नो गुरुतरो गुरुः ।

रामं प्रव्राज्य वै ज्येष्ठं लक्ष्मणं च महाबलम् ॥ २ ॥

हमारे पूज्यों के भी पूज्य महाराज दशरथ, अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामचन्द्र जी और महाबलवान् लक्ष्मण जी को वन भेज स्वयं स्वर्ग पधारे ॥ २ ॥

त्वमद्य भव नो राजा राजपुत्र महायशः ।

सङ्गत्या नापराध्नोति सज्यमेतदनायकम् ॥ ३ ॥

अतएव हे महायशस्वी राजकुमार ! अब आप हमारे राजा हों। क्योंकि यह राज्य विना राजा का है और जब पिता आपको यह राज दे गये हैं, तब आपका इसे ग्रहण करना न तो असङ्गत है और न आपको ऐसा करने से कोई दोष ही लग सकता है ॥ ३ ॥

अभिषेचनिकं सर्वभिदमादाय राघव ।

प्रतीक्षते त्वां स्वजनः^१ श्रेणयश्च^२ नृपात्मज ॥ ४ ॥

हे रघुवंशसम्भूत राजकुमार ! यह कथन केवल हम राजकर्म-चारियों ही का नहीं है—बल्कि आपके मंत्रीगण और पुरवासी लोग अभिषेक की सामग्री लिये आपकी अनुमति की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यं गृहाण भरत पितृपैतामहं ध्रुवम् ।

अभिषेचय चात्मानं पाहि चास्मान्बर्षभ ॥ ५ ॥

हे नरध्रेष्ठ ! आप अपने इस पिता पितामह के राज्य को अवश्य ग्रहण करें और अपना अभिषेक करवा, हम सब का पालन करें ॥ ५ ॥

[एवमुक्तः शुभं वाक्यं द्युतिमान्सत्यवाक्लुचिः ।]

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा सर्वं प्रदक्षिणम् ॥ ६ ॥

इस प्रकार उन सब का यह शुभ वचन सुन तेजस्वी, सत्यवादी एवं पवित्र भरत ने अभिषेक की सामग्री से भरे हुए सब पात्रों की प्रदक्षिणा की ॥ ६ ॥

भरतस्तं जनं सर्वं प्रत्युवाच धृतव्रतः ।

ज्येष्ठस्य राजता नित्यमुचिता हि कुलस्य नः ॥ ७ ॥

^१ स्वजनः—अमात्यादिः । (गो०) ^२ श्रेणयः—वैराः । (रा०)

तदनन्तर व्रतधारी भरत जी उन सब लोगों से बोले—देखो हमारे कुल में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही राजसिंहासन पर बैठता आया है ॥ ७ ॥

नैवं भवन्तो मां वक्तुर्मर्हन्ति कुशला जनाः ।

रामः पूर्वा हि ने भ्राता भविष्यति महीपतिः ॥ ८ ॥

अहं त्वरण्ये वत्स्यामि वर्षाणि नव पञ्च च ।

युज्यतां महती सेना चतुरङ्गमहाबला ॥ ९ ॥

अतः यह बात जान कर भी, आप लोग मुझसे ऐसी बात न कहिये । श्रीरामचन्द्र जी मेरे बड़े भाई हैं, वे ही राजा होंगे । मैं (उनके बढ़ले) वन में जा कर चौदह वर्ष वनवास करूँगा । अतः चतुरङ्गिणी सेना तैयार करो ॥ ८ ॥ ६ ॥

आनयिष्याम्यहं ज्येष्ठं भ्रातरं राघवं वनात् ।

आभिषेचनिकं चैव सर्वमेतदुपस्कृतम् ॥ १० ॥

मैं वन में जा कर भाई श्रीरामचन्द्र को यहाँ लिवा लाऊँगा । यह जो अभिषेक की सामग्री है ॥ १० ॥

पुरस्कृत्य गमिष्यामि रामहेतोर्वनं प्रति ।

तत्रैव तं नरव्याघ्रमभिषिच्य पुरस्कृतम् ॥ ११ ॥

उसको साथ ले कर, मैं श्रीरामचन्द्र जी का अभिषेक करने के वन में जाऊँगा और वहीं उनका अभिषेक कर, ॥ ११ ॥

आनेष्यामि तु वै रामं हव्यवाहमिवाध्वरात् ।

न सकामां करिष्यामि स्वामिमां मातृगन्धिनीम् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को यहाँ उसी प्रकार ले आँँगा, जिस प्रकार यज्ञशाला में अग्नि लाया जाता है। मैं अपनो इस नाममात्र की माता को साध पूरी नहीं होने दूँगा ॥ १२ ॥

वने वत्स्याम्यहं दुर्गे रामे। राजा भविष्यति ।

क्रियतां शिल्पभिः पन्थाः समानि विषमाणि च ॥१३॥

प्रत्युत मैं स्वयं दुर्गम बन में जा कर रहूँगा और श्रीरामचन्द्र राजा होंगे। इस जिये मैं आङ्गा देता हूँ कि, सङ्क की मरम्मत करने वाले कारोगर लोग (आगे जा कर) ऊँचे नीचे रास्ते को ठीक करें ॥ १३ ॥

रक्षणश्चानुसंयान्तु पथि दुर्गविचारकाः^१ ।

एवं संभाषमाणं तं रामहेतोर्नृपात्मजम् ।

प्रत्युवाच जनः सर्वः श्रीमद्वाक्यमनुत्तमम् ॥ १४ ॥

उनके पीछे रक्षक और दुर्गम मार्गों के शोधक भी जायँ। इस प्रकार राजकुमार भरत ने श्रीरामचन्द्र के अभिषेक के जिये कहा, तब सब लोग भरत जी से यह मनोहर एवं अति उत्तम वचन कहने लगे ॥ १४ ॥

एवं ते भाषमाणस्य पद्मा श्रीरूपतिष्ठताम् ।

यस्त्वं ज्येष्ठे नृपसुते पृथिवीं दातुमिच्छसि ॥ १५ ॥

आप इस पृथिवी का राज्य ज्येष्ठ राजकुमार श्रीरामचन्द्र जी को देना चाहते हैं—आपका यह वचन मनोहर और उत्तमोत्तम है। अतः आपके समोप सदा पद्मासना लहरी देवी निवास करें ॥ १५ ॥

^१ विचारकाः — शोधकाः । (शि०)

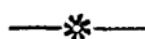
अनुत्तमं तद्वचनं नृपात्मज-
 प्रभाषितं संश्रवणे निशम्य च ।
 प्रहर्षजास्तं प्रति वाष्पविन्दवो
 निपेतुरार्याननेत्रसम्भवाः ॥ १६ ॥

उस समय वहाँ जितने साधुजन उपस्थित थे, वे सब भरत जी के कहे हुए उत्तम वचन सुन, नेत्रों से आनन्द के आँखू टपकाने लगे ॥ १६ ॥

ऊचुस्ते वचनमिदं निशम्य हृष्टाः
 सामात्याः सपरिषदो वियातशोकाः ।
 पन्थानं नरवर भक्तिमाञ्जनश्च
 व्यादिष्टास्तव वचनाच्च शिल्पिवर्गः ॥ १७ ॥
 इति एकोनाशीतितमः सर्गः ॥

यह बात सुन, मंत्रिगण नौकरों चाकरों सहित प्रसन्न हो और शोक रहित हो कहने लगे, हे नरश्रेष्ठ ! आपके वचन के अनु-सार शिल्पियों को आङ्गा दे दी गयी है ॥ १७ ॥

अयोध्याकाण्ड का उन्नासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



अशीतितमः सर्गः

—०:—

अथ भूमिपदेशज्ञाः सूत्रकर्मविशारदाः ।

२ स्वकर्माभिरताः शूराः स्वनका यन्त्रकास्तथाः ॥ १ ॥

कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषाः यन्त्रकोविदाः ।

तथा वर्धक्यश्वैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः ॥ २ ॥

कूपकाराः सुधाकाराः ५ वंशकर्मकृतस्तथा ।

६ समर्था ये च द्रष्टारः ७ पुरतस्ते प्रतस्थिरे ॥ ३ ॥

तदनन्तर भरत जो के आज्ञानुसार भूमि के भेदों के जानने वाले, देखते ही यह जान लेने वाले कि अमुक भूमि में जल कितनो दूर पर है अथवा है कि नहीं, अपने काम में मदा सावधान रहने वाले एवं परिध्रमी वेलदार तथा जल को बीध कर रोकने वाले अथवा पुल बनाने वाले मज़दूर, राजथवी, निरीक्षक, कल्पपुर्जी के जानने वाले, बढ़ी, मार्गों के ज्ञाता और वृक्ष काठने वाले, कुआ खादने वाले, दीवालों पर अस्तर करने वाले, वंसफोड़ा, अन्य कार्मों के करने में समर्थ और वे लोग जो उन मार्गों को पहिले से देखे हुए थे ; ये सब लोग आगे ही चल दिये ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

१ विशारदाः—समर्थाः । (गो०) २ स्वकर्माभिरताः—स्वकर्मसावधानाः ।
 (गो०) ३ यन्त्रकाः—जलप्रवाहादियन्त्रण समर्थाः । (रा०) ४ पुरुषाः—
 अध्यक्षराजपुरुषाः । (गो०) ५ सुधाकाराः—प्रसादस्थलक्षित्यादिलेपनकराः ।
 (गो०) ६ समर्थाः—कार्यान्तरेषु समर्थाः । (गो०) ७ द्रष्टारः—पूर्वानुभूत-
 मार्गाः—मार्गप्रदर्शकाः । (गो०)

स तु हर्षाचमुदेशं जनैघो विपुलः प्रयान् ।

अशोभत महावेगः समुद्र इव पर्वणि ॥ ४ ॥

इन लोगों के भूँड जो प्रसन्न होते हुए चले जाते थे, ऐसे शोभायमान जान पड़ते थे. जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र शोभायमान देख पड़ता है। अर्थात् जैसे समुद्र उमड़ता है, वैसे ही मनुष्यों की भीड़ उमड़ी हुई जा रही थी ॥ ४ ॥

ते स्ववारं समास्थाय वर्त्मकर्मणि कोविदाः ।

करणौर्विविधोपेतैः पुरस्तात्संप्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

मार्ग बनाने में चतुर लोग अपने दल में मिल कर, फांडे कुल्हाड़ी इत्यादि बहुत सा उपयोगी सामान साथ ले, आगे आगे चले ॥ ५ ॥

लता वलीश्च गुलमांश्च स्थाणूनश्मन एव च ।

जनास्ते चक्रिरे मार्ग छिन्दन्तो विविधान्दुमान् ॥ ६ ॥

वे लोग रास्ता साफ करने के अभिप्राय से लता, बल्ली, झाड़, खूँटी, पथर और अनेक प्रकार के वृक्षों को, जो रास्ते में पड़ते थे, काटकूट कर, रास्ता बनाते जाते थे ॥ ६ ॥

अवृक्षेषु च देशेषु केचिदवृक्षानरोपयन् ।

केचित्कुठारैष्टङ्कैश्च दात्रैश्छिन्दन्कचित्कचित् ॥ ७ ॥

जहाँ कहीं वृक्ष नहीं लगे थे, वहाँ वृक्ष लगाते जाते थे और जहाँ कहीं वृक्षों की घनी डालियाँ रास्ता रोके हुए थीं, वहाँ उनको कुल्हाड़ी फरसे आदि से काट कूट कर दकसा करते जाते थे ॥ ७ ॥

अपरे वीरणस्तम्बान्॒बलिनोबलवत्तराः ।

विधमन्ति॑ स्म दुर्गाणि॑ स्थलानि च ततस्ततः ॥ ८ ॥

कुछ बलवान लोगों ने अत्यन्त मज़बूत ठूँड़ों को, जो उखाड़े नहीं उखड़ सकते थे, जला कर साफ कर दिया और जितने ऊँचे नीचे रास्ते और दुर्गम स्थान थे, उन सब को ठोक पीट कर तथा मिट्टी से पाट कर ठीक कर दिया ॥ ८ ॥

अपरेऽपूरयन्कूपान्पांसुभिः श्वभ्रमायतम् ।

निम्नभागांस्ततः केचित्समांश्क्रुः समन्ततः ॥ ९ ॥

कुछ लोग बीच रास्ते में जो कुप्पे और गड़हे आते, उनको मिट्टी से पाटते और नीचो भूमि को मिट्टी से भर बराबर करते चले जाते थे ॥ ९ ॥

बबन्धु॑र्बन्धनीयांश्च क्षोदनीयांश्च चुक्षुदुःः ॥

विभिदुर्भेदनीयांश्च तांस्तान्देशान्बरास्तदा ॥ १० ॥

वे लोग, रास्ते की छोटी नदियों या नालों पर पुल बनाते जाते थे, जहाँ कहीं गोखरु या कंकड़ी आदि पाते उनको बटोर कर फैक देते थे, जहाँ कहीं जल के आने में रुकावट देखते वहाँ के बोध को तोड़ कर जल निकाल देते थे ॥ १० ॥

अचिरेणैव कालेन परिवाहान्बहूदकान् ।

चक्रुर्बहुविधाकारान्सागरप्रतिमान्बहून् ॥ ११ ॥

१ वीरणस्तम्बान्—वीरणतृणकाण्डान् । (गो०) २ बलिनः—रुद्रमूलान् ।

(गो०) ३ विधिमन्तिस्म—अहन् । (गो०) ४ दुर्गाणि—गन्तुमशक्यानि ।

(गो०) ५ छेत्तुमशक्यान् । (रा०) ५ बन्धनीयान्—जलप्रदेशान् । (गो०) ६

क्षोदनीयान्—शर्करा भूयिष्ठ प्रदेशान् । (गो०) * पाठान्तरे—“क्षोद्यान्सञ्जु
चुक्षुदा” ।

वहुत जल्द ही उन लोगों ने थोड़े पानी के सेतों का जल रोकने के लिये बांध बांध दिये और कई एक जगहों के तालावों को खोद कर सागर की तरह अगाध जलयुक्त कर दिया ॥ ११ ॥

निर्जलेषु च देशेषु स्वानयामासुरुत्तमान् ।

'उदपानान् बहुविधान्वेदिकापरिमण्डितान् ॥ १२ ॥

और जहाँ जल का अभाव था, वहाँ अनेक नये कुण्ड तालाव खोदे और उनके समीए लोगों के विश्राम करने के लिये चबूतरे बना दिये ॥ १२ ॥

स सुधाकुट्टिमतलः प्रपुष्पितमहीरुहः ।

मत्तोदुष्टिजगणः पताकाभिरलंकृतः ॥ १३ ॥

उन शिल्पियों ने सेना के जाने के रास्ते को चूने की गचों से ठीक कर, सड़क के इधर उधर ऐसे कृत लगा दिये, जिन पर पक्षी बोला करते थे और जगह जगह सड़कों की दोनों ओर पताकाएँ सुशोभित हो रही थीं ॥ १३ ॥

चन्दनोदकसंसिक्तो नानाकुसुमभूषितः ।

बहशोभत सेनायाः पन्थाः सुरपथोपमः ॥ १४ ॥

चन्दन के जल के क्षिणकाव और अनेक प्रकार की फूली हुई लताओं से वह सेना का रास्ता देवमार्ग की तरह सजा दिया गया था ॥ १४ ॥

आज्ञाप्याथ यथाज्ञसि॑ युक्तास्तेऽधिकृताः नराः ।

रमणीयेषु देशेषु वहुस्वादुफलेषु च ॥ १५ ॥

१ उदपानान्—कूपान् । (गो०) २ यथाज्ञसि—यथामति । ३ अधि-
कृताः—मार्गशिविरादिकरणेनियुक्ताः । (गो०)

जो लोग पड़ावों पर शिविर आदि बनाने के लिये नियुक्त किये गये थे, उन लोगों ने, यथामति रमणीय और अत्यन्त स्वादिष्ट फल बाले बृक्षों से युक्त जगहों पर ॥ १५ ॥

ये निवेशस्त्वभिमतोऽभरतस्य महात्मनः ।

भूयस्तं शोभयामासु भूषाभिर्भूषणोपमम् ॥ १६ ॥

सेना के उत्तरने के लिये वैसे ही स्थान बना दिये, जैसे कि महात्मा भरत जी चाहते थे । फिर उन स्थानों को अनेक प्रकार की सामग्री से सज्जा भी दिया ॥ १६ ॥

नक्षत्रेषु प्रशस्तेषु मुहूर्तेषु च तद्विदः ।

निवेशान्॒स्थापयामासु भरतस्य महात्मनः ॥ १७ ॥

वास्तुशाखा (मकान बनाने के शाखा के) ज्ञाताओं ने शुभ नक्षत्र युक्त मुहूर्त में महात्मा भरत के लिये शिविर बनाये ॥ १७ ॥

बहुपांसुचया॑श्चापि परिखापरिवारिताः ।

तद्वेन्द्रनीलप्रतिमाः प्रतोली॑वरशोभिताः ॥ १८ ॥

शिविर, इन्द्रनील पर्वत की तरह ऊँचे रेतोले धुस्सों से तथा जलयुक्त खाइयों से घिरवा दिये गये थे और जगह जगह गलियां बनाई गयी थीं ॥ १८ ॥

प्रासादमालावितताः सौध॑प्रकारसंवृत्ताः ।

पताकाशोभिताः सर्वे सुनिर्मितमहापथाः ॥ १९ ॥

१ तद्विदः—वास्तुशाखाः । (गो०) २ निवेशान्—शिवराणि । (गो०)

बहुपांसुचयाः—पांसुशब्देनासूक्ष्मसिकता उच्यन्ते । (गो०) ४ प्रतोली—वीथिः ।

(गो०) ५ सौधा—राजगृहाणि यद्वासुधाधवलिताः । (गो०)

* पाठान्तरे—“ अभिप्रेतो । ”

सफेद रंग के बड़े ऊँचे ऊँचे देवगृहों के सदृश मकानों की पाति बनाई गयी थी। जितने रास्ते थे, वे सब पताकाओं से सुशोभित किये गये थे ॥ १६ ॥

विसर्पद्विरिवाकाशे विटङ्काग्रविमानकैः ।

'समुच्छृतैर्निवेशास्ते वभुः शक्रपुरोपमाः ॥ २० ॥

वहाँ पर सात सात खण्डों के गृहों के ऊपर जो अटारियाँ थीं, वे कबूतरों के बैठने की छतरी की तरह ऊँची थीं। ऊँचे ऊँचे भवनों को देखने से ऐसा जान पड़ता था, मानों आकाश में देवताओं के आवासस्थान बने हों। उस समय उन पड़ावों की शोभा इन्द्र की अमरावती पुरी की शोभा जैसी हो रही थी ॥ २० ॥

जाह्वाँ तु समासाद्य^१ विविधद्रुमकाननाम् ।

शीतलामलपानीयां महामीनसमाकुलाम् ॥ २१ ॥

भरत जी के लिये, (अथेाध्या से लेकर) निर्मल एवं शीतल जल वाली उस गङ्गा तक, जिसमें बड़ी बड़ी मछलियाँ रहती हैं, जो मार्ग बनाया गया था, उसके अगल बगल तरह तरह के बृक्षों से युक्त अनेक कानन थे। अर्थात् यह मार्ग जङ्गलों में हो कर गया था ॥ २१ ॥

सचन्द्रतारागणमण्डितं यथा

नभः क्षपायाममलं विराजते ।

नरेन्द्रमार्गः स तथा व्यराजत

क्रमेण रम्यः शुभशिल्पनिर्मितः ॥ २२ ॥

इति अशीतितमः सर्गः ॥

१ समुच्छृतैः— उच्छृतैः । (गो०) २ समासाद्य— अवधीकृत्य । (गो०)

चतुर शिलिपयों द्वारा बनाये गये इस रमणीक राजमार्ग की
ऐसी शोभा ही रही थी, जैसी रात में निर्मल आकाश की चन्द्रमा
सहित तारागण से होती है ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का अस्सीवी सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

एकाशीतितमः सर्गः

—:o:—

ततो नन्दीमुखीं रात्रि भरतं सूतमागधाः ।

तुष्टुवुर्वाग्विशेषज्ञाः स्तवैर्मङ्गलसंहितैः ॥ १ ॥

[अब फिर अयोध्या का वृत्तान्त आदिकवि वर्णन करते हैं ।]

जब वह आनन्दमयी (इसलिये कि श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने का उद्योग आरम्भ हुआ था) रात थोड़ी बाकी रही, तब मागधों ने माङ्गलिक स्तुतियों से भरत की स्तुति करनी आरम्भ की ॥ १ ॥

३सुवर्णकोणाभिहतः २प्राणदद्यामदुन्दुभिः ।

दध्मुः शङ्खांश्च शतशो नादांश्चोच्चावचस्वरान् ॥ २ ॥

पहर भर रात रहने पर जो नगाड़े बजाये जाते थे, वे सोने की बोबों (छंडों) से बजाये जाने लगे । शङ्खध्वनि होने लगी और नाना स्वर युक्त सैकड़ों बाजे बजने लगे ॥ २ ॥

स तूर्यघोषः सुमहान्दिवमापूरयन्निव ।

भरतं शोकसन्तसं भूयः शोकैरवर्धयत्* ॥ ३ ॥

१ नन्दीमुखी—रामानयनाभ्युदयप्रारम्भयुक्ताः । (गो०) २ सुवर्णकोणः

—सुवर्णदण्डः । (रा०) ३ प्राणदत्—नदतिस्थ । (गो०) * पाठान्तरे—
“शोकैररन्ध्रयत्” ।

उन बाजों के बजने का शब्द, आकाश में व्याप्त हो, शोक से सन्तुत भरत जी के शोक को और भी अधिक बढ़ाने लगा ॥ ३ ॥

ततः प्रबुद्धो भरतस्तं घोषं सन्निवर्त्य च ।

नाहं राजेति चाप्युक्त्वा शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

भरत जी उस शब्द को सुन जागे और यह कह कर कि, मैं राजा नहीं हूँ, उन बाजों का बजना बंद करवाया और शत्रुघ्न से यह बोले ॥ ४ ॥

पश्य शत्रुघ्नं कैकेय्या लोकस्यापकृतं महत् ।

विसृज्य मयि दुःखानि राजा दशरथो गतः ॥ ५ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी के कहने से इन सूत मागधों ने कैसा अनुचित काम किया है, अर्थवा हे शत्रुघ्न ! देखो, कैकेयी ने इसलोक का बड़ा अपकार किया है कि, जो महाराज दशरथ मुझे दुःख में डाल, आप स्वयं स्वर्गवासी हो गये ॥ ५ ॥

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः ।

परिभ्रमति राजश्रीनौरिवाकर्णिका जले ॥ ६ ॥

उन महात्मा धर्मराज की यह धर्ममूलक राजलक्ष्मी इस समय माझीहीन नाव की तरह समुद्र में इधर उधर मारी मारी फिर रही है ॥ ६ ॥

ये हि नः सुमहान्नाथः सोऽपि प्रवाजितो वनम् ।

अनया धर्ममुत्सृज्य मात्रा मे राघवः स्वयम् ॥ ७ ॥

१ कैकेय्या हेतुभूतया जायमानलोकस्य सूतमागधादिः । (गो०)

१ अपकृतं—अनुचितं कर्म । (गो०)

पितां की वह दशा हुई, तिस पर, मेरे जो बड़े रक्षक श्रीराम-
चन्द्र जी थे, उनको भी इसने (कैकेयी ने) धर्म को त्याग स्थयं
बन में भिजवा दिया ॥ ७ ॥

इत्येवं भरतं प्रेक्ष्य विलप्नं विचेतनम् ।

कृपणं रुदुः सर्वाः सस्वरं योषितस्तदा ॥ ८ ॥

इस प्रकार भरत को चेतना रहित प्रलाप करते देख, सब छिया
करुणा स्वर से रोने लगे ॥ ८ ॥

तथा तस्मिन्विलप्ति वसिष्ठो राजधर्मवित् ।

सभामिक्ष्वाकुनाथस्य प्रविवेश महायशाः ॥ ९ ॥

इस प्रकार से विलाप हो रहा था कि, इतने में राजधर्म के ज्ञाता
महायशस्वी वशिष्ठ मुनि हृष्वाकुनाथ की सभा में आये ॥ ९ ॥

शातकुम्भमर्यां रम्यां मणिरन्नसमाकुलाम् ।

सुधर्मामिव धर्मात्मा सगणः^२ प्रत्यपद्यत ॥ १० ॥

इस सभाभवन में सुनहला सुन्दर नकाशी का काम किया था
और जगह जगह पद्मरागादि मणियाँ जड़ी हुई थीं । जिस प्रकार
सुधर्मा नाम के सभाभवन में इन्द्र अपने अनुयायियों सहित प्रवेश
करते हैं, वैसे ही इृष्वाकुनाथ की सभा के भवन में वशिष्ठ जी ने
अपने अनुयायी शिष्यों सहित प्रवेश किया ॥ १० ॥

स काञ्चनमर्यं पीठं *पराध्यास्तरणावृतम् ।

अध्यास्त सर्ववेदज्ञो दूताननुशशास च ॥ ११ ॥

१ शातकुम्भमर्यां—स्वर्णमर्यां । (गो०) २ सगणः—सशिष्यगणः ।

(गो०) * पाठान्तरे—“सुखास्तरणसंवृतम्” ।

और वहाँ सोने के एक सिंहासन पर, जिस पर स्वस्तिकाकार अर्थात् गोल आसन पड़ा था, जा बैठे, और दूतों को आज्ञा दी ॥ ११ ॥

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्यानमात्यानगणवल्लभान् ।

क्षिप्रमानयताव्यग्राः कृत्यमात्ययिकं हि नः ॥ १२ ॥

कि तुम लोग जा कर, बहुत शीघ्र ब्राह्मणों, क्षत्रियों और मंत्रिश्वरों सेनापतियों को लिवा लाओ । क्योंकि एक बड़ा ज़रूरी काम है ॥ १२ ॥

स राजभृत्यं॒ शत्रुघ्नं भरतं च यशस्विनम् ।

युधाजितं॒ सुमन्त्रं च ये च तत्र हिता जनाः ॥१३॥

यशस्वी भरत और शत्रुघ्न को उनके निज के नौकरों सहित, युधाजित सुमन्त्र आदि मंत्रियों को, तथा और जो कोई वहाँ हित हों, उनको भी शीघ्र बुला लाओ ॥ १३ ॥

ततो हलहलाशब्दः सुमहान्समपद्यत ।

रथैरश्वैर्गजैश्चापि जनानामुपगच्छताम् ॥ १४ ॥

कुछ ही देर में दूतों के बुनाये लोग रथों, घोड़ों, और हाथियों पर सवार हो कर आने लगे । उनकी सवारियों के आने का एक प्रकार का महाशब्द उत्पन्न हुआ ॥ १४ ॥

ततो भरतमायान्तं शतक्रतुमिवामराः ।

प्रत्यनन्दन्प्रकृतयो यथा दशरथं तथा ॥ १५ ॥

१ गणवल्लभान्—गणाध्यक्षान् । (गो०) २ सराजभृत्यं—राजान्त रङ्गभृत्य सहित । (गो०) ३ युधाजित—युधाजिरितिविजयाल्यमंत्रिणो नामान्तरंसुमन्त्रशब्दसाहचर्यात् । (गो०)

देवता जिस प्रकार इन्द्र को देख प्रसन्न होते हैं, उसी प्रकार भरत को आते देख मंत्री आदि ऐसे प्रसन्न हुए, मानों वे महाराज दशरथ के सभाप्रवेश पर प्रसन्नता प्रकट कर रहे हों ॥ १५ ॥

हृद^१ इव तिमिनागसंवृत्तः
स्तिमितजलो मणिशङ्खशर्करः^२ ।
दशरथसुतशोभिता सभा
सदशरथेव वभौ यथा पुरा ॥ १६ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

उस समय भरत की उपस्थिति से वह राजसभा उसी प्रकार शोभित हुई, जिस प्रकार समुद्र का स्थिर जल बड़े बड़े मच्छ, नाके, मणियों, शङ्खों, और बालू से सुशोभित होता है। उस समय ऐसा मालूम पड़ता था, मानों महाराज दशरथ स्वयं सभा में आ कर बैठे हों ॥ १६ ॥

अयोध्याकाण्ड का इक्ष्यासीर्वाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



द्वचशीतितमः सर्गः

— : * : —

तामार्यगणसम्पूर्णा^१ भरतः प्रग्रहाः^२ सभाम् ।
ददर्श बुद्धिसम्पन्नः पूर्णचन्द्रो निशामिव ॥ १ ॥

^१ हृदश्च—समुद्रसमीपस्थः । (गो०) ^२ शर्कराशब्देनात्रस्थूलबालुका उच्यते । (गो०) ^३ प्रग्रहा—नियमवर्ती । (गो०) ^४ घनापाये—शरदि । (रा०)

वशिष्ठादि श्रेष्ठ पुरुषों से भरी, भरत द्वारा नियंत्रित सभा को, बुद्धि सम्पन्न भरत जी ने देखा कि, वह पूर्णमासी की रात की तरह शोभायमान है ॥ १ ॥

आसनानि यथान्यायमार्यणां विशतां तदा ।

वस्त्राङ्गरागप्रभया घोतिता सा सभोत्तमा ॥ २ ॥

यथायोग्य आसनों पर बैठे हुए तथा अंगराग लगाये और चमकीली भड़कीली पोशाकें पहिने हुए श्रेष्ठ जनों से, वह श्रेष्ठ सभा चमक रही थी । अर्थात् सुशोभित थी ॥ २ ॥

सा विद्वज्जनसम्पूर्णा सभा सुरुचिरा तदा ।

अदृश्यत घनापाये पूर्णचन्द्रेव शर्वरी ॥ ३ ॥

शरद ऋतु में जिस प्रकार पूर्णमासी के चन्द्रमा से रात्रि सुशोभित होती है, उसी प्रकार चिद्वज्जनों के सम्मिलित होने से वह सभा परम शोभायुक्त दिखलाई पड़ती थी ॥ ३ ॥

राजस्तु प्रकृतीः सर्वाः समग्राः प्रेक्ष्य धर्मवित् ।

इदं पुरोहितो वाक्यं भरतं मृदु चाब्रवीत् ॥ ४ ॥

उस समय धर्मज्ञ पुरोहित वशिष्ठ जी ने, महाराज के सब मंत्रिआदि प्रधानों को देख, भरत जी से ये मधुर वचन कहे ॥ ४ ॥

तत राजा दशरथः स्वर्गतो धर्माचरन् ।

धनधान्यवतीं स्फीतां प्रदाय पृथिवीं तव ॥ ५ ॥

हे वत्स ! इस धन धान्ययुक्त और समृद्धशालिनी पृथिवी का राज्य तुम्हें दे कर, महाराज दशरथ धर्माचरणपूर्वक स्वर्ग सिधार गये ॥ ५ ॥

रामस्तथा सत्यधृतिः सतां^१ धर्मनुस्मरन् ।

नाजहात्पितुरादेशं शशी ज्योत्स्नामिवोदितः ॥ ६ ॥

सत्यव्रतधारी श्रीरामचन्द्र ने पितृआज्ञाकारी सज्जनों के पितृ-वचन-पालन रूपी धर्म का पालन कर, महाराज की आज्ञा का त्याग वैसे ही नहीं किया, जैसे चन्द्रमा चाँदनी का त्याग नहीं करता ॥ ६ ॥

[नोट—पुत्र की पुत्रता भीचे के श्लोक में बतलायी गयी—

“ जीवतोर्वाक्यकरणात् प्रत्यवृद्धभूरिभेजनात् ।

गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता ॥ ”

अर्थात् पुत्रोत्पादन करने की आवश्यकता यही है कि, (१) जब तक पिता जीवित रहे तब तक पुत्र अपने पिता को आज्ञा माने (२) पिता के मरने पर प्रतिवर्ष पिता की मरणतिथि को पिण्डदान कर अनेक ब्राह्मणों को भोजन करावे और (३) गया में जा कर पिण्ड दे कर पिता का उद्घार करे । पुत्र के ये ही तीन मुख्य कर्तव्य हैं ।]

पित्रा भ्रात्रा च ते दत्तं राज्यं निहतकण्टकम् ।

तदभ्रुडःक्ष्व मुदितामात्यः क्षिप्रमेवाभिषेचय ॥ ७ ॥

अतएव पिता और भ्राता के दिये हुए इस निष्कण्टक राज्य को तुम भोगो और तुरन्त अपना अभिषेक करवा, अपने मंत्रियों को प्रसन्न करो ॥ ७ ॥

उदीच्याश्र प्रतीच्याश्र दाक्षिणात्याश्र केवलाः^३ ।

कोऽव्यपरान्ताः^४ सामुद्रा रत्नान्यभिहरन्तु ते ॥ ८ ॥

१ सतां—पितृनिदेशवर्तिनाम् । (गो०) २ धर्म—पितृवचनपरिपालन रूपं । (गो०) ३ केवलाः—सिंहासनादिरहिता इत्यपरान्तादि विशेषणं । ४ अपरान्ताः—अपरान्तदेशवासिनोयवनाः । (गो०)

उत्तर पश्चिम और दक्षिण देशवासी राजा तथा अन्य वेतिलक के ज़मीदार तथा पश्चिमान्त सोमावासी यवनादि, तथा द्वीपों के राजा लोग तुमको करोड़ों रुप भेंट करेंगे ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा भरतो वाक्यं शोकेनाभिपरिप्लुतः ।

जगाम मनसा रामं^१ धर्मज्ञो^२ धर्मकाङ्क्षयाः^३ ॥ ९ ॥

भरत जो गुरु वशिष्ठ के ये वचन सुन, बहुत दुःखी हुए । वंश-परम्परागत ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता है—इस कुलधर्म को जानने वाले, भरत जो ने बड़े भाई का अनुगमन करने की आकौशा से, श्रीरामचन्द्र जी का स्मरण किया ॥ ९ ॥

स वाष्पकलया वाचा कलहंसस्वरो युवा ।

विललाप सभामध्ये जगर्हे च पुरोहितम् ॥ १० ॥

उस समय कलहंस की तरह स्वर वाले युवा भरत का गला भर आया, वे विलाप करने लगे और उन्होंने कुलपुरोहित वशिष्ठ जी के इस कथन को सर्वथा अनुचित बतलाया ॥ १० ॥

४ चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य^५ धीमतः^६ ।

धर्मे^७ प्रयतमानस्य को राज्यं मद्विधो^८ हरेत् ॥ ११ ॥

१ रामं मनसा जगाम्—संस्भारेत्यर्थः । (गो०) २ धर्मज्ञः—कुलक्रमागत ज्येष्ठाभिषेचनरूपधर्मज्ञः । (गो०) ३ धर्मकाङ्क्षया—ज्येष्ठानुवर्तन रूप धर्म-लिप्यस्या । (गो०) ४ चरितब्रह्मचर्यस्य—अनुष्ठितगुरुकुलवासस्य । (गो०) ५ विद्यास्नातस्य—निखिलवेदाध्ययनानन्तरभाविस्त्वानकर्मयुक्तस्य । (गो०) ६ धीमतः—तदर्थज्ञस्य । (गो०) ७ धर्मे प्रयतमानस्य—तदर्थानुष्ठानवतः । (गो०) ८ मद्विधः—शास्त्रवश्योमादशः । (गो०)

भरत जी कहने लगे—हे ब्रह्मन् ! जो श्रीरामचन्द्र जी गुह-
कुल में रह कर, निखिल साङ्घोंगङ्ग वेदों को पढ़े हुए हैं और उनका
अर्थ भी भली भाँति जानते हैं और तदनुसार अनुष्ठान भी करते
रहते हैं, उन श्रीरामचन्द्र जी का राज्य भला मुझे जैसा शास्त्र के
मत का जानने वाला, क्योंकर हरण कर सकता है ॥ ११ ॥

[नोट—शिरोमणि टीकाकार ने धर्मप्रयत्नमानस्य का अर्थ किया है—
“ पितृप्रतिज्ञा पालने प्रयत्नमानस्य ”]

कथं दशरथाज्जातो भवेद्राज्यापहारकः ।

राज्यं चाहं च रामस्य धर्मं वक्तुमिहार्हसि ॥ १२ ॥

महाराज दशरथ से उत्पन्न कोई क्योंकर धर्मानुमोदित दूसरे
के राज्याधिकार को अपहृत कर सकता है । केवल यह सारा राज्य
ही नहीं, बढ़िक मैं स्वयं भी श्रीरामचन्द्र का हूँ । हे पुरोहित जी !
आप जो कुक्र कहें, सो धर्मानुमोदित हो कहें ॥ १२ ॥

ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च धर्मात्मा दिलीपनहुषोपमः ।

लब्धुमर्हति काकुत्स्थो राज्यं दशरथो यथा ॥ १३ ॥

दिलीप और नहुष की तरह जैसे महाराज दशरथ, इस राज्य
के अधिकारी थे, वैसे ही ज्येष्ठ और श्रेष्ठ धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र ही
इस राज्य को पाने के अधिकारी हैं ॥ १३ ॥

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यं कुर्यां पापमहं यदि ।

इक्ष्वाकूणामहं लोके भवेयं कुलपासनः ॥ १४ ॥

यदि मैं आपके कथनानुसार इस राज्य को ग्रहण कर, असाधु
सेवित और सर्वाविरोधी महापाप करूँ, तो सब लोग मुझे इक्ष्वाकु-
कुल का नाश करने वाला बतलावेंगे ॥ १४ ॥

यद्धि मात्रा कृतं पापं नाहं तदपि रोचये ।

इहस्थो वनदुर्गस्थं नमस्यामि कृताञ्जलिः ॥ १५ ॥

मेरी माता जो पापकर्म कर बैठी है—वह भी मुझे पसन्द नहीं है। मैं (इसके लिये) वन में बैठे हुए श्रीरामचन्द्र की हाथ जोड़ कर प्रणाम करता हूँ—अर्थात् माता के अनुचित कर्म के लिये ज्ञामा माँगता हूँ ॥ १५ ॥

राममेवानुगच्छामि स राजा द्विपदांवरः ।

त्रयाणामपि लोकानां राज्यमर्हति राघवः ॥ १६ ॥

और उनका अनुगामी होता हूँ। नरों में श्रेष्ठ वे ही राजा हैं। वे तीनों लोकों का राज्यशासन करने योग्य हैं, उनके लिये इस पृथिवी का राज्यशासन करना कौन बड़ी बात है ॥ १६ ॥

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः ।

हर्षान्मुमुक्षुरश्रूणि रामे निहितचेतसः ॥ १७ ॥

भरत जी के ऐसे धर्मानुमोदित वचन सुन सब के सब सभासद जिनका मन श्रीरामचन्द्र जी में लगा था, आनन्द के आँख गिराने लगे ॥ १७ ॥

यदि त्वार्य न शक्ष्यामि विनिवर्तयितुं वनात् ।

वने तत्रैव वत्स्यामि यथार्यो लक्ष्मणस्तथा ॥ १८ ॥

भरत जी फिर कहने लगे—यदि मैं श्रीरामचन्द्र जी को वन से न लौटा सका, तो मैं उसी वन में श्रीरामचन्द्र जी के पास लक्ष्मण जी की तरह रहूँगा ॥ १८ ॥

सर्वोपायं च वर्तिष्ये विनिवर्तयितुं वनात्* ।

समक्षमार्यमिश्राणां^१ साधूनां गुणवर्तिनाम् ॥ १९ ॥

मैं श्रीरामचन्द्र जी को वन से लौटाने के लिये, (आप सब) सभासदों और अन्द्रे गुण वाले साधु जनों की उपस्थित हो मैं, सब प्रकार के उपाय करूँगा । (अर्थात् आप लोग मेरे साथ चलें और देखें कि, मैं श्रीरामचन्द्र जो को लौटाने के लिये उपाय करने में कोई कौरकसर नहीं करता) ॥ १९ ॥

२० विष्टिकर्मान्तिकाः सर्वे मार्गशोधकतक्षकाः ।

प्रस्थापिता मया पूर्वं यात्राऽपि मम रोचते ॥ २० ॥

मैंने पहिले ही बेगारी तथा पारिश्रमिक ले कर काम करने वाले चतुर मार्गशोधकों और बढ़इयों को, राष्ट्रा ठीक करने के लिये भेज दिया है ॥ २० ॥

एवमुक्त्वा तु धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।

समीपस्थमुवाचेदं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २१ ॥

यह कह भ्रातृवत्सल एवं धर्मात्मा भरत ने सलाह देने में चतुर और पास बैठे हुए सुमन्त्र से कहा ॥ २१ ॥

तृण्मुत्थाय गच्छ त्वं सुमन्त्र मम शासनात् ।

यात्रामाङ्गापय क्षिपं बलं चैव समानय ॥ २२ ॥

तुम उठ कर शीघ्र जाओ और सेना को यह जना कर कि, मेरी आङ्गानुसार उनका यहाँ से प्रस्थान करना होगा, तुरन्त अपने साथ लिवा लाओ ॥ २२ ॥

१ आर्यमिश्राणां—सदस्यानां । (गो०) २ विष्टिकर्मान्तिकाइति—विष्टयो भूतिमन्तरेण जनपदेभ्यः समानीताः कर्मकराः । (गो०) * पाठान्तरे—“बलात्” ।

एवमुक्तः सुमन्त्रस्तु भरतेन महात्मना ।

*प्रहृष्टः सोऽदिशत्सर्वं यथासंदिष्टमिष्टवत् ॥ २३ ॥

महात्मा भरत जी के ये वचन सुन, सुमन्त्र ने प्रसन्न हो भरत जी के आश्चानुसार सब काम किया ॥ २३ ॥

ताः प्रहृष्टाः प्रकृतयो बलाध्यक्षा बलस्य च ।

श्रुत्वा यात्रां समाज्ञसां राघवस्य निवर्तने ॥ २४ ॥

भरत जी की इस आश्चा को कि, श्रीरामचन्द्र जी को लौटाने के लिये चलना होगा, सुन कर प्रजाजन, तथा सेनापति लोग बहुत प्रसन्न हुए ॥ २४ ॥

ततो योधाङ्गनाः सर्वा भर्तृन्सर्वान्गृहे गृहे ।

यात्रागमनमाज्ञाय त्वरयन्ति स्म हर्षिताः ॥ २५ ॥

घर घर, योद्धाओं की खियाँ, हर्षित हो कर, अपने अपने पतियों से, श्रीरामचन्द्र को लौटा लाने के लिये वन में जाने की, जल्दी मचाने लगीं ॥ २५ ॥

ते हयैर्गेरथैः शीघ्रैः स्यन्दनैश्चमहाजवैः ।

सह योधैर्वलाध्यक्षा बलं सर्वमचोदयन् ॥ २६ ॥

सब सेनाध्यक्षों ने घोड़ों बैलों से खोंचे जाने वाले और तेज चलने वाले रथों पर सवार हो समस्त सेना को शीघ्र चलने की आशा दी ॥ २६ ॥

सज्जं तु तद्वलं दृष्टा भरतो गुरुसन्निधौ ।

रथं मे त्वरयस्वेति सुमन्त्रं पार्श्वतोऽन्वीत् ॥ २७ ॥

* पाठान्तरे—“हृष्टस्तदादिशत्सर्वं” ।

सेना को यात्रा के लिये तैयार देख, गुरुवशिष्ठ की सन्निधि में और अपनी बगल में बैठे हुए सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तुरन्त लाओ ॥ २७ ॥

भरतस्य तु तस्याज्ञां प्रतिगृह्य च हर्षितः ।
रथं गृहीत्वा प्रययौ युक्तं परमवाजिभिः ॥ २८ ॥

सुमंत्र जी “जो आज्ञा” कह और इनके आदेशानुसार प्रसन्न होते हुए गये और बड़े अच्छे घोड़े जौत कर, एक रथ भरत जी के सामने ला खड़ा किया ॥ २८ ॥

स राघवः सत्यधृतिः^१ प्रतापवान्
ब्रुवन्सुयुक्तं^२ दृढसत्यविक्रमः ।
गुरुं महारण्यगतं यशस्विनं
प्रसादयिष्यन्भरतोऽव्रवीत्तदा ॥ २९ ॥

वे धैर्यवान्, प्रतापी, दृढप्रतिज्ञ और सत्यपराक्रमी भरत जी, महावन में गये हुए यशस्वी श्रीरामचन्द्र को प्रसन्न कर लौटा जाने का विचार कर, सुमंत्र जी से बोले ॥ २९ ॥

तूर्णं समुत्थाय सुमन्त्र गच्छ
बलस्य योगाय बलप्रधानान् ।
आनेतुमिच्छामि हि तं वनस्थं
प्रसाद्य रामं जगतो हिताय ॥ ३० ॥

^१ सत्यधृतिः—अप्रच्युतधैर्यः । (गो०) ^२ सुयुक्तब्रुवन्—गुरुं प्रसादयिष्यन् । (गो०)

हे सुमंत्र ! तुम तुरन्त सेनानायकादि, सुहृदों तथा अन्य मुख्य मुख्य प्रजाजनों को तैयार होने की आशा दो। मैं जगत् के कल्याण के लिये श्रीरामचन्द्र को वन से लौटाने के लिये वन जाना चाहता हूँ ३० ॥

स सूतपुत्रो भरतेन सम्य-

गाज्ञापितः सम्परिपूर्णकामः ।

शशास सर्वान्प्रकृतिप्रधाना-

न्बलस्य मुख्यांशु सुहृज्जनं च ॥ ३१ ॥

भरत जी के वचन सुन, पूर्णकाम सूत सुमंत्र ने प्रजा के मुखियों, सेनाध्यक्षों, तथा सुहृद जनों से, भरत जी की आशा समझा कर, कह दी ॥ ३१ ॥

ततः समुत्थाय कुले^१ कुले ते

राजन्यवैश्या वृषलाश्रे विप्राः ।

अयूयुजनुष्ट्रथान्खरांश्च

नागान्हयांश्चैव कुलप्रसूतान् ॥ ३२ ॥

इति द्वयशीतितमः सर्गः ॥

अनन्तर घर घर में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने अपने ऊँट, रथ, खच्चर और अच्छ्रे जाति के हाथी और घोड़ों को तैयार करने लगे ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का व्यासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



१ कुले कुले—गृहे गृहे । (गो०) २ वृषलाः—शूद्राः । (गो०)

न्यशीतितमः सर्गः

— : ० : —

ततः समुत्थितः काल्यमास्थाय स्यन्दनोत्तमम् ।
प्रययौ भरतः शीघ्रं रामदर्शनकाङ्क्षया ॥ १ ॥

तदनन्तर सबेरा होते ही भरत जी उठे और सुन्दर रथ पर सवार हो कर, श्रीरामचन्द्र के दर्शन की कामना किये हुए शीघ्रता से रवाना हुए ॥ १ ॥

अग्रतः प्रययुस्तस्य सर्वे मन्त्रिपुरोधसः ।

अधिरुद्ध्य हयैयुक्तानरथान्सूर्यरथोपमान् ॥ २ ॥

भरत जी के रथ के आगे आगे सब मंत्रि और पुरोहित घोड़ों के रथों में, जो सूर्य नारायण के रथ के समान चमकीले थे, बैठ कर चले ॥ २ ॥

नवनागसहस्राणि कल्पितानि यथाविधि ।

अन्वयुर्भरतं यान्तमिक्ष्वाकुकुलनन्दनम् ॥ ३ ॥

और अच्छी तरह सजे हुए ६ हज़ार हाथी इक्ष्वाकुकुलनन्दन भरत जी के रथ के पीछे चले ॥ ३ ॥

षष्ठी रथसहस्राणि धन्विनो विविधायुधाः ।

अन्वयुर्भरतं यान्तं राजपुत्रं यशस्विनम् ॥ ४ ॥

और साठ हज़ार रथों में बैठ कर विविध अख्लधारी, धनुर्दर्शक राजकुमार भरत जी के पीछे चले ॥ ४ ॥

शतं सहस्राण्यश्वानां समारुद्धानि राघवम् ।

अन्वयुर्भरतं यान्तं सत्यसन्धं जितेन्द्रियम् ॥ ५ ॥

और घोड़ों पर चढ़े हुए, एक लाख घुड़सवार जितेन्द्रिय एवं सत्यप्रतिज्ञा भरत जो के साथ चले ॥ ५ ॥

कैकेयी च सुमित्रा च कौशल्या च यशस्विनी ।
रामानयनसंहृष्टा ययुर्यनेन भास्ता ॥ ६ ॥

कैकेयी, सुमित्रा और यशस्विनी कौशल्या जी, श्रीरामचन्द्र जी को लौटा लाने के लिये प्रसन्न हो, परम दीपमान् रथों पर चढ़ कर चलीं ॥ ६ ॥

प्रयाताश्चार्यसङ्घाता^१ रामं द्रष्टुं सलक्ष्यणम् ।
तस्यैव च कथाश्चित्राः कुर्विणा हृष्टमानसाः ॥ ७ ॥

द्विजातियों के झुगड के झुगड श्रीरामचन्द्र जी को देखने के लिये (अयोध्या से) रवाना हुए । वे लोग आपस में श्रीरामचन्द्र जी ही का विचित्र वृत्तान्त कहते रुनते और प्रसन्न होते हुए चले जाते थे ॥ ७ ॥

मेघश्यामं महावाहुं स्थिरसन्त्वं हृष्टव्रतम् ।
कदा द्रक्ष्यामहे रामं जगतः शोकनाशनम् ॥ ८ ॥

वे कहते थे कि, हम लोग उन मेघश्याम, महावाहु, द्रुष्टव्रत, स्थिरव्यवसायी और जगत का शोक नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र को कब देखेंगे ॥ ८ ॥

^१ आर्यसंघाताः — त्रैवाणिंकसंघाः । (गो०)

दृष्ट एव हि नः शोकमपनेष्यति राघवः ।

तमः सर्वस्य लोकस्य समुद्दिव भास्करः ॥ ९ ॥

जैसे सूर्य उदय होते ही त्रिभुवन के अन्धकार को नाश कर देते हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी महाराज अपने दर्शन भात्र से हम लोगों के शोक को दूर करेंगे ॥ ९ ॥

इत्येवं कथयन्तस्ते संप्रहृष्टाः कथाः शुभाः ।

परिष्वजानाश्चन्योन्यं ययुन्नागरिका जनाः ॥ १० ॥

उस समय नगर के रहने वाले, सब लोग आपल में इस प्रकार शुभ कथा कहते और मारे हर्ष के एक दूसरे के गले से भेंटते हुए, चले जाते थे ॥ १० ॥

ये च तत्रापरे सर्वे सम्मताः^१ ये च नैगमाः ।

रामं प्रतियुर्हृष्टाः सर्वाः^२ प्रकृतयस्तथा ॥ ११ ॥

अयोध्यावासी जिन प्रसिद्ध बनियों को भरत जी ने चलने की आज्ञा दी थी और जिनको आज्ञा नहीं दी थी, वे भी, बनिये तथा अन्य सब प्रजाजन प्रसन्न मन से श्रीरामदर्शनार्थ चले जाते थे ॥ ११ ॥

मणिकाराश्च ये केचित्कुम्भकाराश्च शोभनाः^३ ।

सूत्रकर्मकृतश्चैव ये च शस्त्रोपजीविनः ॥ १२ ॥

प्रजाजनों में से कोई चतुर जड़िया थे, कोई चतुर कुम्हार थे, कोई कपड़ा बिनने वाले कोरी थे और कोई हथियार बनाने वाले कारीगर थे ॥ १२ ॥

^१ समताः—प्रसिद्धाः । (रा०) ^२ प्रकृतयः—श्रेणयः । (रा०)

^३ शोभनाः—स्वकार्यदक्षाः । (व०७) ^४ सूत्रकर्मकृतः—तन्तुवायादयः ।

(ग००)

मायूरकाः क्राकचिका रोचकाः वेधकास्तथा ।

दन्तकाराः सुधाकारास्तथा गन्धोपजीविनः ॥ १३ ॥

कोई मोरपङ्गी बनाने वाले, कोई आरी से लकड़ी चोरने वाले और कोई कलईगर थे, अथवा कोई कान्च की शीशी बनाने वाले, कोई मणियों और मेतियों को बेधने वाले, कोई हाथी दाँत का काम बनाने वाले, कोई अस्तरकारो करने वाले, और कोई गँधी थे ॥ १३ ॥

सुवर्णकाराः प्रख्यातास्तथा कम्बलधावकाः ।

३ स्नापकोच्छादकाः वैद्या धूपकाः शौणिडकास्तथा ॥ १४ ॥

कोई प्रसिद्ध सुनार थे, कोई कंबल बनाने वाले या धोने वाले थे, कोई शरीर में तेल उबढ़न कर गर्म जल से स्नान कराने वाले थे, कोई पगचप्पी (पैर दबाने वाले) थे, कोई वैद्य थे, कोई घर में धूप दे कर घर का वायु शुद्ध करने वाले थे और कोई कलार (शराब बेचने वाले) थे ॥ १४ ॥

रजकास्तु न वायाश्च ४ ग्रामघोषमहत्तराः ।

शैलूषाश्च ५ सह स्त्रीभिर्युः कैवर्तकास्तथा ॥ १५ ॥

उनमें कोई धोदी थे, कोई दर्जी थे, कोई गाँवों के मुखिया थे, कोई अहीरों के मुखिया थे, कोई नट अपनी छियों सहित थे (ये नट

१ रोचकाः—काचकुप्यादिकर्तारः इति कतकः । २ स्नापकाः—तैलाभ्यङ्गादिस्नानकारिणः । (गो०) ३ उच्छादकाः—अङ्गमर्दकाः । (गो०) ४ तुव्वायाः—सूच्यासीवनकर्तारः । (रा०) ५ ग्रामघोषमहत्तराः—ग्राममहत्तराः धोषमहत्तरश्च । (गो०) ६ शैलूषाः—भूमिकाधारिणः स्त्रीजीविनोवा । (गो०)

खीजीवो होने के कारण ही खियों सहित गये थे) और कोई मल्लाह थे ॥ १५ ॥

१ समाहिता वेदविदा ब्राह्मणा वृत्तसम्पताः ।

२ गोरथैर्भरतं यान्तमनुजग्मुः सहस्रशः ॥ १६ ॥

सहस्रों सदाचारी वेदपाठी ब्राह्मण जिनका मन श्रीराम में लगा था, छकड़ों पर बैठ भरत जो के पीछे हो लिये थे ॥ १६ ॥

सुवेषाः शुद्धवसनास्ताम्रमृष्टानुलेपनाः ।

सर्वे ते विविधैर्यानैः शनैर्भरतमन्वयुः ॥ १७ ॥

सब ही सुन्दरवेश बनाये, सुन्दर वस्त्र पहने और लाल चन्द्रन लगाये और तरह तरह की सवारियों पर सवार, धीरे धीरे भरत जो के पीछे चले जाते थे ॥ १७ ॥

प्रहृष्टमुदिता सेना सान्वयात्केकयीसुतम् ।

भ्रातुरानयने यान्तं भरतं भ्रातृवत्सलम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार जब कैकियोनन्दन एवं भ्रातृवत्सल भरत, श्रीराम-चन्द्र को लौटा लाने के लिये चले, तब सैनिक लोग भी हर्षित होते हुए भरत जो के साथ चले जाते थे ॥ १८ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं रथयानाश्वकुञ्जरैः ।

समासेदुस्ततो गङ्गां शृङ्गिवेरपुरं प्रति ॥ १९ ॥

वे लोग, रथों, पालकियों, छकड़ों आदि सवारियों तथा घोड़ों और हाथियों पर सवार हो, बहुत दूर चलने के बाद, शृङ्गिवेरपुर में गङ्गा जो के तट पर पहुँचे ॥ १९ ॥

१ समाहिताः—रामावेशतच्चित्ताः । (शि०) २ गोरथैः—शक्टैः । (गा०)

यत्र रामसखो वीरो गुहो ज्ञातिगणैर्वृतः ।

निवसत्यप्रमादेन देशं तं परिपालयन् ॥ २० ॥

जहाँ पर श्रीरामचन्द्र जी का मित्र गुह, अपनी जाति के लोगों के साथ, सावधानी के साथ, उस देश का पालन करता हुआ निवास करता था ॥ २० ॥

उपेत्य तीरं गङ्गायाश्चक्रवाकैरलंकृतम् ।

व्यवातिष्ठत सा सेना भरतस्यानुयायिनी ॥ २१ ॥

भरत जी के पीछे चलने वाली वह सेना चक्रवाकों से सुशोभित भागीरथी गङ्गा के तट पर पहुँच कर, वहीं टिक रही ॥ २१ ॥

निरीक्ष्यानुगतां सेनां तां च गङ्गां शिवोदकाम् ।

भरतः सचिवान्सर्वानब्रवीद्राक्य कोविदः ॥ २२ ॥

वचन बोलने में चतुर भरत जी अपने साथ चलने वाली सेना को टिकी हुई देख व सुखद गङ्गाजल को निहार सब मंत्रियों से कहने लगे ॥ २२ ॥

निवेशयत मे सैन्यमभिप्रायेण सर्वतः ।

विश्रान्ताः प्रतरिष्यामः श्व इदानीमिमां नदीम् ॥ २३ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मेरी सेना आज यहीं पर अपने लिये अनुकूल स्थान देख टिके, कल सब इस नदी के पार उतरेंगे ॥ २३ ॥

दातुं च तावदिच्छामि स्वर्गतस्य महीपतेः ।

और्ध्वदेहनिमित्तार्थमवतीर्यादकं नदीम् ॥ २४ ॥

मैं चाहता हूँ कि, मैं स्वर्गवासी महाराज दशरथ को, उनकी और्द्धदेहिक क्रिया के निमित्त, कल इस नदी को पार करने के समय जल दूँ अर्थात् गङ्गाजल से तर्पण करूँ ॥ २४ ॥

तस्यैवं ब्रुवतोऽमात्यास्तथेत्युक्त्वा समाहिताः ।

न्यवेशयंस्तांश्छन्देन^१ स्वेनस्वेन पृथकपृथक् ॥ २५ ॥

जब भरत जी ने इस प्रकार कहा, तब मंत्रियों ने “जो आङ्गा” कह, बड़ी सावधानी से सब लोगों को उनकी इच्छानुसार अलग अलग टिका दिया ॥ २५ ॥

निवेश्य गङ्गामनु तां महानदीं

चमूं विधानैः परिवर्हशोभिनीम्^२ ।

उवास रामस्य तदा महात्मनो

विचिन्तयानो भरतो निवर्तनम् ॥ २६ ॥

इति श्यशीतितमः सर्गः ॥

महात्मा भरत जी, महानदी गङ्गा के तट पर यथाविधान पाश्रौपयुक्त (अथवा तंबू, खीमें में) अपनी सेना की टिका, श्रीरामचन्द्र जी के लौटाने की चिन्ता करते हुए, वहाँ निवास करते हुए ॥ २६ ॥

अयोध्याकाशड का तिरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

^१ छन्देन — इच्छया । (गो०) ^२ परिवर्हशोभिनीम् — परिवर्हेयात्रोपयुक्त-पटवैऽमाशुपकरणं । (गो०)

चतुरशीतितमः सर्गः

—००—

ततो निविष्टां ध्वजिनीं^१ गङ्गामन्वाश्रितां नदीम् ।

निषादराजो दृष्टैव ज्ञातीन्सन्त्वरितोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

भरत जो की चतुरङ्गिनी सेना को गङ्गा जी के किनारे टिकी हुई देख और सशङ्कित हो गुह ने अपनी जाति बालों से कहा ॥ १ ॥

महतीऽयमितः सेना सागराभा प्रदृश्यते ।

*तस्यान्तं नाधिगच्छामि मनसाऽपि विचिन्तयन् ॥ २ ॥

यहाँ पर यह बड़ी सेना समुद्र के समान पड़ी हुई देख पड़ती है । मैं कल्पना कर के भी इसका अन्त नहीं पा सकता अर्थात् गणना नहीं कर सकता ॥ २ ॥

यथा तु खलु दुर्बुद्धिर्भरतः स्वयमागतः ।

स एष हि महाकायः कोविदारध्वजो रथे ॥ ३ ॥

मैं समझता हूँ कि, निश्चय ही भरत बुरे विचार से स्वयं आये हैं, क्योंकि इस महाकाय रथ पर, कोविदार (कचनाराकार) इद्वाकुकुल की ध्वजा, फहरा रही है ॥ ३ ॥

बन्धयिष्यति वा दाशानथ^३ वाऽस्मान्वधिष्यति ।

अथ^४ दाशरथि रामं पित्रा राज्याद्विवासितम्^५ ॥४॥

१ ध्वजिनीं—सेना । (गो०) २ संत्वरितः—संसंभ्रमः । (गो०)

३ दाशानस्मान् । (गो०) ४ अथ—अथवा । (गो०) ५ विवासितं—दुर्बुद्धिं । (गो०) * पाठान्तरे—“नास्यान्तमधिगच्छामि” ।

अतः या तो भरत जी मुझे गिरफ्तार करेंगे अथवा मेरा वध करेंगे । अथवा पिता के राज्य से निकाले हुए असहाय दुर्वल श्री-रामचन्द्र जी का वध करेंगे ॥ ४ ॥

सम्पन्नां श्रियमन्विच्छंस्तस्य राज्ञः सुदुर्लभाम् ।

भरतः कैकयीपुत्रो हन्तुं तमुपगच्छति ॥ ५ ॥

सो क्या कैकेयी के पुत्र भरत यह परमदुर्लभ राजश्री को भली भाँति अपने अधिकर में कर लेने के विचार से, कहीं श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये तो नहीं जा रहे ॥ ५ ॥

भर्ता चैव सखा चैव रामो दाशरथिर्मम ।

तस्यार्थकामाः^१ सन्नद्धाः^२ गङ्गानूपे प्रतिष्ठृत ॥ ६ ॥

परन्तु वह दशरथनन्दन श्रीराम, मेरे स्वामी, अथवा सखा सभी कुछ हैं, अतएव तुम सब लोग श्रीराम के प्रयोजन के लिये, कवच पहिन और हथियार ले, गङ्गा के कड़ार में तैयार रहो ॥ ६ ॥

तिष्ठन्तु सर्वे दाशाश्च गङ्गामन्वाश्रिता नदीम् ।

बलयुक्ताः^३ नदीरक्षाः^४ मांसमूलफलाशनाः ॥ ७ ॥

मेरे अधीन के सब नौकर, सेना सहित, फल, मूल एवं मांस खाते हुए, गङ्गा जी के पास उतारे के घाटों की रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

नावां शतानां पञ्चानां कैवर्तानां शतं शतम् ।

सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वत्यभ्यचोदयत् ॥ ८ ॥

१ अर्थकामाः—प्रयोजन सिद्धिविषयकेच्छावन्तः । (शि०) २ सन्नद्धा—
घृतकवचाः । (शि०) ३ बलयुक्ताः—सेनायुक्ताः । (गो०) ४ नदीरक्षाः—
नदीतरणमांगरक्षन्तः । (गो०)

घाटों को रखवाली के लिये गुह ने कहा कि, पांच सौ नावें रहें और उनमें से प्रत्येक नाव पर सौ सौ जवान मल्लाह कवच पहिन और हथियार ले, तैयार रहें ॥ ८ ॥

यदा तुष्टस्तु भरतो रामस्येह भविष्यति ।

सेयं स्वस्तिमती सेना गङ्गामद्य तरिष्यति ॥ ९ ॥

यदि भरत जी, श्रीरामचन्द्र के विषय में मुझे सन्तुष्ट जान पड़ेंगे, तो ही उनकी सेना, सकुशल गङ्गा को पार कर सकेगी ॥ ९ ॥

इत्युक्त्वोपायनं गृह्ण मत्स्यमांसमधूनि च ।

अभिचक्राम भरतं निषादाधिपतिर्गुहः ॥ १० ॥

इस तरह अपने नौकरों और सैनिकों को सावधान कर, निषादपति गुह मछलिया, माँस, और शहद भरत जी को भेंट करने के लिये अपने साथ ले कर, चला ॥ १० ॥

तमायान्तं तु सम्प्रेक्ष्य सूतपुत्रः प्रतापवान् ।

भरतायाच्चक्षेऽथ विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

प्रतापी और विनीतवान् सुमंत्र ने निषाद को आते देख, विनीत भाव से भरत जी से कहा ॥ ११ ॥

एष ज्ञातिसहस्रेण स्थपतिः^१ परिवारितः ।

कुशलो दण्डकारण्ये^२ वृद्धो भ्रातुश्च ते सखा ॥ १२ ॥

यह गुह यहाँ का राजा है और अपने सहस्रों विरादरी के लोगों को साथ लिये हुए आता है। यह वृद्ध गुह दण्डकारण्य का धूमने

^१ स्थपतिः—प्रभुः । (गो०) ^२ दण्डकारण्येकुशलः—तत्रसञ्चरण समर्थहस्तर्थः । (गो०)

फिरने वाला होने के कारण, वहाँ का रक्ती रक्ती हाल जानता है और तुम्हारे भाई श्रीरामचन्द्र का मित्र है ॥ १२ ॥

तस्मात्पश्यतु काकुत्स्थ त्वां निषादाधिपो गुहः ।
असंशयं विजानीते यत्र तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

अतः हे काकुत्स्थ ! तुम निषादों के राजा गुह से भेंट करो। क्योंकि निश्चय ही यह वह स्थान जानता है, जहाँ वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण वन में निवास करते हैं ॥ १३ ॥

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुमन्त्राद्वरतः शुभम् ।
उवाच वचनं शीघ्रं गुहः पश्यतु मामिति ॥ १४ ॥

सुमन्त्र से ये शुभ वचन सुन, भरत बोले कि, अच्छा, गुह से तुरन्त जा कर कहो कि, वह मुझसे मिले ॥ १४ ॥

लब्ध्वाभ्यनुज्ञां संहृष्टो ज्ञातिभिः परिवारितः ।
आगम्य भरतं प्रद्वो गुहो वचनमब्रवीत् ॥ १५ ॥

भरत की आज्ञा पा, गुह अपने जाति विरादरो के लोगों के साथ, भरत जी के पास आ, प्रसन्न होता हुआ बोला ॥ १५ ॥

निष्कुटश्चैव^१ देशोऽयं वञ्चिताश्चापि^२ ते वयम् ।
निवेदयामस्ते सर्वे स्वके दासकुले वस ॥ १६ ॥

हे प्रभो ! यह देश आपके घर की बाटिका (नजरबाग) के तुल्य है। आपने अपने आने की सूचना हमें नहीं दी ; अतः हम

^१ निष्कुट—गृहारामभूतः । (गो०) ^२ वञ्चिताः—अब्र गमनानिवेदनेन वञ्चिता इत्यर्थः । (गो०)

जाग आपका यथाविधि स्वागत करने से वञ्चित रहे । यह सम्पूर्ण राज्य आपका है और हम सब भी आपके हैं । अतः आप अपने दास के घर में वास कीजिये ॥ १६ ॥

अस्ति मूलं फलं चैव निषादैः समुपाहृतम् ।

आर्द्रं च मांसं शुष्कं च वन्यं चोच्चावचं महत् ॥ १७ ॥

निषाद लोगों के लाये हुए फल मूल, ताज़ा और सूखा मांस तथा वन में इत्यन्न होने वाली अन्य थोड़ी बहुत भद्र्य वस्तुएँ ये उपस्थित हैं ॥ १७ ॥

आशंसे^१ स्वाशिता^२ सेना वत्स्यतीमां विभावरीम् ।

अर्चिता विविधैः कार्यैः श्वः ससैन्यो गमिष्यसि ॥ १८ ॥

इति चतुरशीतितमः सर्गः ॥

मेरी प्रार्थना है कि, आज सेना मेरे यहाँ अच्छी तरह (मेरे अर्पण किये हुए) भेजन कर, रात भर यहाँ रहे और हम लोग यहाँ हर तरह से सेवा करें । तदनन्तर आप सेना सहित कल यात्रा करें ॥ १८ ॥

अयोध्याकाशड का चौरासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—: * :—

पञ्चाशीतितमः सर्गः

—: ० :—

एवमुक्तस्तु भरतो निषादाधिपतिं गुहम् ।

प्रत्युवाच महाप्राज्ञो वाक्यं हेत्वर्थसंहितम् ॥ १ ॥

^१ आशंसे —प्रार्थयामि । (गो०) ^२ स्वाशिता—सुष्टुभोजिता । (गो०)

निषादाधिपति गुह के वचन सुन, महाप्राज्ञ भरत ने अपना अभिप्राय जनाने के लिये युक्तियुक्त वचन कहे ॥ १ ॥

ऊर्जितः खलु ते कामः कृतो मम गुरोः सखे ।

ये मे त्वमीद्वर्णी सेनापेकोऽभ्यर्चितुमिच्छसि ॥ २ ॥

हे ज्येष्ठ भ्राता के मित्र ! तुम जो अकेले ही मेरी इतनी बड़ी सेना की पढ़नाई करना चाहते हो — सो यह तो निश्चय ही तुम्हारा बड़ा भारी मनोरथ है । (अर्थात् तुम्हारे इस आदर से ही हम अपने को सत्कारित मानते हैं) ॥ २ ॥

इत्युक्त्वा तु महातेजा गुहं वचनमुत्तमम् ।

अब्रवीद्वरतः श्रीमान्निषादाधिपतिं पुनः ॥ ३ ॥

परम तेजस्वी श्रीमान् भरत जो गुह से इस प्रकार श्रेष्ठ वचनों द्वारा बातचीत कर, फिर बैले ॥ ३ ॥

कतरेण ? गमिष्यामि भरद्वाजाश्रमं गुह ।

गहनोऽयं भृशं^२ देशो गङ्गानूपोः दुरत्ययः ॥ ४ ॥

हे निषादराज ! भला यह तो बतलाओ कि, हम किस मार्ग से भरद्वाज के शाश्रम को जायँ । क्योंकि हम देखते हैं कि, यह गङ्गा का जलप्रायदेश अत्यन्त दुष्प्रवेश्य धर्थवा दुर्गम है ॥ ४ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राजपुत्रस्य धीमतः ।

अब्रवीत्पाञ्चलिर्वाक्यं गुहो गहनगोचरः ॥ ५ ॥

१ कतरेण — केनमागेण । (गो०) २ भृशंगहनः — अत्यन्तदुष्प्रवेशः । (गो०) ; अनूपोदेशः — जलप्रायोदेशः । (गो०)

बुद्धिमान राजकुमार भरत का यह प्रश्न सुन, सब दुर्गम स्थानों का रास्ता जानने वाला गुह, हाथ जोड़ कर, भरत जी से बोला ॥ ५ ॥

दाशास्त्वानुगमिष्यन्ति धन्विनः सुसमाहिताः ।
अहं त्वानुगमिष्यामि राजपुत्र महायशः ॥ ६ ॥

हे महायशस्वी राजकुमार ! आप इसके लिये कुछ भी चिन्ता न करें । जो इस प्रान्त का रक्ती रक्ती हाल जानते हैं, वे आपकी रखवाली के लिये धनुष बाण ले, बड़ी सावधानता पूर्वक आपके साथ जायेंगे और मैं स्वयं भी आपके पीछे पीछे चलूँगा ॥ ६ ॥

कच्चिन्द दुष्टो व्रजसि रामस्याक्षिष्टकर्मणः ।
इयं ते महती सेना शङ्कां जनयतीव मे ॥ ७ ॥

किन्तु, आपकी इस विशाल सेना को देख, मेरे मन में यह सन्देह उत्पन्न हो गया है कि, कहीं आप अक्षिष्टकर्मा श्रीराम के पास किसी दुष्ट अभिप्राय से तो नहीं जा रहे ॥ ७ ॥

तमेवमभिभाषन्तमाकाश इव निर्मलः ।
भरतः श्लक्षणया वाचा गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ८ ॥

गुह के ऐसा कहने पर आकाश की तरह निर्मल स्वभाव के भरत जी निषाद से (ऐसा सन्देह करने के लिये नाराज़ हो कर कड़े वचन नहीं बोले, प्रत्युत) मधुर वचन बोले ॥ ८ ॥

मा भूत्स कालो यत्कष्टं न मां शङ्कितुमर्हसि ।
राघवः स हि मे भ्राता ज्येष्ठः पितृसमो मतः ॥ ९ ॥

हे गुह ! वह बुरा समय न आवे, जब मेरी ऐसी दुष्ट बुद्धि हो जाय। तुमको भी मेरे सम्बन्ध में ऐसा अनुचित सन्देह करना उचित नहीं। क्योंकि मैं तो आपने उषेष भ्राता श्रीरामचन्द्र जी को आपने पिता के तुल्य मानता हूँ ॥ ६ ॥

तं निवर्तयितुं यामि काकुत्स्थं वनवासिनम् ।

बुद्धिरन्या न ते कार्या गुह सत्यं ब्रवीमि ते ॥ १० ॥

हे गुह ! मैं तो वनवासी श्रीरामचन्द्र को लौटाने के लिये जा रहा हूँ। इस सम्बन्ध में तुमको अन्यथा न समझना चाहिये। मैं यह बात तुमसे सत्य ही सत्य कहता हूँ ॥ १० ॥

स तु संहृष्टवदनः श्रुत्वा भरतभाषितम् ।

पुनरेवाब्रवीद्वाक्यं भरतं प्रति हर्षितः ॥ ११ ॥

भरत जी के यह वचन सुन, गुह प्रसन्न हो गया और प्रसन्न हो, पुनः भरत जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले ।

अयत्रादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि ॥ १२ ॥

हे भरत ! आप धन्य हैं। आपके समान इस धराधाम पर मुझे दूसरा कोई नहीं देख पड़ता। क्योंकि, आप बिना प्रयत्न किये हाथ लगे हुए राज्य का, त्याग करना चाहते हैं ॥ १२ ॥

शाश्वती खलु ते कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ।

यस्त्वं कृच्छ्रगतं रामं प्रत्यानयितुमिच्छसि ॥ १३ ॥

निश्चय ही आपकी यह कीर्ति सदा इस लोक में बनी रहैगी। क्योंकि आप कष्ट पाते हुए श्रीराम को लौटा लाना चाहते हैं ॥ १३ ॥

एवं सम्भाषमाणस्य गुहस्य भरतं तदा ।

बभौ नष्टप्रभः सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ॥ १४ ॥

इस प्रकार गुह की भरत से बातचीत हो रही थी कि, इतने में सूर्य का प्रकाश नष्ट हो गया (अर्थात् सूर्य अस्त हो गये) और रात हो गई ॥ १४ ॥

सन्निवेश्य स तां सेनां गुहेन परितोषितः ।

शत्रुघ्नेन सह श्रीमाङ्गयनं पुनरागमत् ॥ १५ ॥

गुह की बातचीत और खातिरदारी से सन्तुष्ट हो भरत जी, अपनी सेना को टिका कर, शत्रुघ्न सहित पुनः लेटने को चले गये ॥ १५ ॥

[“ शयनं पुनरागमत् ” से जान पड़ता है कि, गुह से भेट करने के पूर्व भी भरत जी लेटे हुए आराम कर रहे थे ।]

रामचिन्तामयः शोको भरतस्य महात्मनः ।

उपस्थितो ह्यनर्हस्य॒ धर्मप्रेक्षस्य॑ तादृशः४ ॥ १६ ॥

परन्तु दुःखी न होने के योग्य उन भरत जी को भी, जो बड़े धैर्यवान् थे, तथा शोकमूलक पाप से शून्य थे, श्रीरामचन्द्र जी के चिन्तारूपी अति दुस्सह शोक ने घेर लिया ॥ १६ ॥

अन्तर्दृहेन दहनः सन्तापयति राघवम् ।

वनदाहाभिसन्तसं५ गृहोऽग्निरिव६ पादपम् ॥ १७ ॥

१ महात्मन—महाधीरस्यापि । (गो०) २ अनर्हस्य—न शोकयोग्यस्य ।

(शि०) ३ धर्मप्रेक्षस्य—शोकमूलपापशून्यस्य । (गो०) ४ तादृशः—अति-दुस्सह । (शि०) ५ सन्तसं—शुष्कं । (गो०) ६ गृहोऽग्निरिव—कोटराग्नि-रिव । (गो०)

और वह शोकरूपी आग भरत जी को भीतर ही भीतर उसी प्रकार दग्ध करने लगी, जिस प्रकार बनाश्चि से सुखे हुए पेड़ के उसके खोड़िर की आग दग्ध करती है ॥ १७ ॥

प्रसृतः सर्वगात्रेभ्यः स्वेदं शोकाग्निसम्भवम् ।

यथा सूर्याशुसन्तसो हिमवान्प्रसृतो हिमम् ॥ १८ ॥

शोकाग्नि से उत्पन्न पसीना, भरत जी के सारे शरीर से उसी प्रकार निकलने लगा, जिस प्रकार सूर्य की गर्मी से पिघल कर हिमालय से वर्फ़ गिरता है ॥ १८ ॥

[आदि कवि ने भरत के शोक की उपमा पर्वत से दो है—वे रहते हैं]

ध्याननिर्दरशैलेन विनिःश्वसितधातुना ।

दैन्यपादपसङ्घेन १शोकायासाधिशृङ्गिणा ॥ १९ ॥

भरत के शोक रूपी पर्वत की, श्रीरामचन्द्र जी का उत्सुकता पूर्वक व्यान ही मानों क्रिद्रहित शिजाएँ हैं, वारबार लिये हुए दीर्घ श्वास मानों गेहआदि की धाराएँ हैं, दोनता मानों पेड़ों का समूह है, और शोक से उत्पन्न हुई मन की थकावट, मानों उस पर्वत के शृङ्ग (चोटियाँ) हैं ॥ १९ ॥

प्रमोहानन्तसत्त्वेन॑ सन्तापौषधिवेणुना ।

आक्रान्तो दुःखशैलेन महता कैक्यीसुतः ॥ २० ॥

और अत्यन्त मोह ही मानों अनेक बनैले जीव जन्तु हैं, तथा सन्ताप उस पर्वत की औषधियाँ तथा बांस हैं। ऐसे दुःखरूपी पर्वत के नीचे कैकेयीनन्दन भरत दब गये ॥ २० ॥

१ शोकायासाधि—शोकजाचित्तश्रान्तयः । (रा०) २ अनन्तसत्त्वानि—वन्यप्राणिनोयस्मिंस्तेन । (रा०)

विनिःश्वसन्वै भृशदुर्मनास्ततः
 प्रमूढसंज्ञः परमापदं गतः ।
 शमं न लेभे हृदयज्वरार्दितो
 नर्षभो युथगतो यथर्षभः ॥ २१ ॥

इस प्रकार भरत जी के ऊपर बड़ी भारी विपत्ति आयी—वे ऊँची सांसे लेने लगे और बहुत उदास हो गये। उनको अपने शरीर की सुध न रही। वे मानसिक ग्रोकज्वर से अत्यन्त पीड़ित थे। वे, अपनी हँड़ से विकुड़े हुए बैल की तरह, किसी प्रकार भी शान्ति न पा सके ॥ २१ ॥

‘गुहेन सार्धं भरतः समागतो
 महानुभावः सजनः^२ समाहितः^३ ।
 सुदुर्मनास्तं भरतं तदा पुनः
 गुहः समाश्वासयदग्रजं प्रति ॥ २२ ॥
 इति पञ्चाशीतितमः सर्गः ॥

गुह से आलिंगन किये हुए भरत को, जो श्रीरामचन्द्र जी के बनगमन के कारण बहुत उदास थे, गुह ने अपने भाईबंदों सहित एकाग्रचित्त हो, पुनः धीरे धीरे समझाया ॥ २२ ॥

अथेष्याकाण्ड का पचासीवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—————*

^१ गुहेनसार्धं समागतः—गुहेन आलिङ्गतो यो भरतः । (शि०) ^२ सजनः—सपरिवारः । (गो०) ^३ समाहितः—एकाग्रचित्तः । (गो०)

षडशीतितमः सर्गः

—:०:—

आच्चक्षेऽथ सद्भावं लक्ष्मणस्य महात्मनः ।

भरतायाप्रमेयाय गुहो गहनगोचरः ॥ १ ॥

अनन्तर दुर्गम बन में रहने वाले गुह, अपिन गुणशाली भरत जी से, श्रीरामचन्द्र जी के प्रति महात्मा लक्ष्मण जी का जो सद्भाव (प्रीति) था वह कहने लगे ॥ १ ॥

तं जाग्रतं गुणैर्युक्तं वरचापेषुधारिणम् ।

भ्रातृगुप्त्यर्थमत्यन्तमहं लक्ष्मणमब्रवम् ॥ २ ॥

हे प्रभो ! जब भाई की रखवाली के लिये तीर और कमान ले कर, भ्रातुभक्त लक्ष्मण जाग कर पहरा दे रहे थे, तब मैंने उनसे कहा ॥ २ ॥

इयं तात सुखा शश्या त्वदर्थमुपकल्पिता ।

प्रत्याश्वसिहि शेष्वास्यां सुखं राघवनन्दन ॥ ३ ॥

हे तात ! आपके सोने के लिये यह सुख की देने वाली सेज तैयार है, हे राघवनन्दन ! आप सुख से इस पर सोइये ॥ ३ ॥

उचितोऽर्यं जनः सर्वो दुःखानां त्वं सुखोचितः ।

धर्मात्मस्तस्य गुप्त्यर्थं जागरिष्यामहे वयम् ॥ ४ ॥

आप तो सुख पाने के योग्य हैं । दुःख तो सहने योग्य हम लोग हैं । सो हम लोग श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिये जागते रहेंगे ॥ ४ ॥

न हि रामात्प्रियतरो ममास्ति भुवि कश्चन ।

मेत्युकोऽभूर्बंवीम्येतदप्यसत्यं तवाग्रतः ॥ ५ ॥

(यह मत समझना कि, हम रखवाली करने में असावधानी करेंगे, क्योंकि) इस संसार में श्रीरामचन्द्र जी से बढ़ कर प्रिय मेरे लिये और दूसरा कोई नहीं है । मैं आपके सामने यह बात सत्य ही कहता हूँ । आप श्रीरामचन्द्र की रखवाली के लिये ज़रा भी किसी बात की चिन्ता न करें ॥ ५ ॥

अस्य प्रसादादाशंसे लोकेऽस्मिन्सुमहद्यशः ।

धर्मवासिं च विपुलामर्थवासिं च केवलाम् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र ही की कृपा से मैं इस लोक में बड़े यश की और विपुल धर्म तथा कामेषार्जित धन पाने की आशा करता हूँ ॥ ६ ॥

सोऽहं प्रियसखं रामं शयानं सह सीतया ।

रक्षिष्यामि धनुष्पाणिः सर्वैः स्वैर्ज्ञातिभिः सह ॥ ७ ॥

अतः हे लक्ष्मण ! मैं धनुष ले कर अपने प्रिय सखा श्रीराम-चन्द्र जी को, जो सीता सहित सो रहे हैं, अपनो विरादरो के साथ रक्षा करूँगा ॥ ७ ॥

न हि मेऽविदितं किञ्चिद्गुनेऽस्मिश्वरतः सदा ।

चतुरङ्गं ह्यपि बलं प्रसहेम वयं युधि ॥ ८ ॥

इस प्रान्त का रक्ती रक्ती हाल मुझे मालूम है । क्योंकि मैं यहाँ के बन में सदा घूमा फिरा ही करता हूँ । कदाचित् श्रीराम के

ऊपर आक्रमण करने को चतुरद्विनो सेना भी आ जाय, तो भी मैं युद्ध में एक बार उसे रोक सकता हूँ ॥ ८ ॥

एवमस्माभिरुक्तेन लक्ष्मणेन महात्मना ।

अनुनीता वर्यं सर्वे धर्ममेवानुपश्यता ॥ ९ ॥

हे प्रभो ! मेरी ये बातें सुन, धर्म में निष्ठा रखते हुए महात्मा लक्ष्मण जी, हम सब को यह सिखाने लगे ॥ ६ ॥

कथं दाशरथौ भूमौ शयाने सह सीतया ।

शक्या निद्रा मया लब्धुं जीवितं वा सुखानि वा ॥ १० ॥

जब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी, सोता जी सहित पृथिवी पर पड़े सो रहे हैं, तब मैं किस तरह इस सुखसेज पर सो सकता हूँ । मैं प्राणों को कैसे रख सकता हूँ (और प्राणों को सुख देने वाले) सुखों को कैसे भोग सकता हूँ । ॥ १० ॥

यो न देवासुरैः सर्वैः शक्यः प्रसहितुं युधि ।

तं पश्य गुह संविष्टं तृणेषु सह सीतया ॥ ११ ॥

देखो न जिन श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में क्या देवता और क्या असुर कोई भी नहीं ठहर सकता, वे ही श्रीराम, सीता सहित वासफूस के विश्वरे पर पड़े हैं ॥ ११ ॥

महता तपसा लब्धो विविधैश्च परिश्रमैः ।

एको दशरथस्यैष पुत्रः सदृशलक्षणः ॥ १२ ॥

बड़ी तपस्या करने के बाद और विविध प्रयत्न करके महाराज दशरथ ने अपने जैसे लक्षणों वाला यह एकमात्र पुत्र पाया है ॥ १२ ॥

अस्मिन्प्रव्राजिते राजा न चिरं वर्तयिष्यति ।
विधवा मेदिनी नूनं क्षिप्रमेव भविष्यति ॥ १३ ॥

अतएव मैं कह सकता हूँ कि, इनको वन में भेज, महाराज बहुत दिनों जीवित न रह सकेंगे और निश्चय ही यह पृथिवी शीघ्र विधवा हो जायगी ॥ १३ ॥

विनद्य सुमहानादं श्रमेणोपरताः स्त्रियः ।
निर्घोषेपरतं नूनमद्य राजानिवेशनम् ॥ १४ ॥

स्त्रियां उच्चस्वर से रोते रोते थक कर अब चुप हो गयी होंगीं और अब राजभवन में सज्जाटा छाया होगा ॥ १४ ॥

कौशल्या चैव राजा च तथैव जननी मम ।
नाशंसे यदि जीवेयुः सर्वे ते शर्वरीमिमाम् ॥ १५ ॥

मुझे आशा नहीं कि, महाराज, कौशल्या और मेरी माता आज की रात में जीवित बच जाय ॥ १५ ॥

जीवेदपि च मे माता शत्रुघ्नस्यान्ववेक्षया ।
दुःखिता या तु कौशल्या वीरसूर्विनशिष्यति ॥ १६ ॥

सम्भव है शत्रुघ्न के आने की प्रतीक्षा करती हुई मेरी माता जीतो रहे, परन्तु वीरप्रसविनो माता कौशल्या का इस दुःख से जीवित रहना असम्भव है ॥ १६ ॥

अतिक्रान्तमतिक्रान्तमनवाप्य मनोरथम् ।
राज्ये राममनिक्षिप्य पिता मे विनशिष्यति ॥ १७ ॥

महाराज पिता जी का कितने हो दिनों से मनोरथ था कि, श्रीरामचन्द्र को राज्य सिंहासन पर बैठावें, किन्तु अब उनका यह मनोरथ उनके मन ही में चला जायगा ॥ १७ ॥

सिद्धार्थः पितरं वृत्तं तस्मिन्काले ह्युपस्थिते ।

प्रेतकार्येषु सर्वेषु संस्करिष्यन्ति भूमिपम् ॥ १८ ॥

जब मेरे पिता जी प्राणत्याग देंगे, तब जो उनके शव को दग्ध करेंगे, वे अपना जन्म सफल करेंगे ॥ १८ ॥

रम्यचत्वरसंस्थानां सुविभक्तमहापथाम् ।

हर्म्यप्रासादसम्पन्नां सर्वरत्नविभूषिताम् ॥ १९ ॥

जिस पुरी के चबूतरे और बैठक बड़े सुन्दर बने हैं, जिसमें मनोहर राजमार्ग हैं और जिसमें अच्छे अच्छे ऊँचे मकान सुशोभित हैं और जो सर्वप्रकार के रत्नों से भूषित हैं ॥ १९ ॥

गजाश्वरथसम्बाधां तूर्यनादविनादिताम् ।

सर्वकल्याणसम्पूर्णा हृष्टपुष्टजनाकुलाम् ॥ २० ॥

जो हाथी, घोड़ों और रथों से परिपूर्ण है, जिसमें विविध भाँति के तुरही भेरी आदि वाजे बजा करते हैं और जिसमें सब प्रकार का सुख है और जो हृष्ट पुष्ट जनों से भरी है ॥ २० ॥

आरामोद्यानसम्पन्नां समाजोत्सवशालिनीम् ।

सुखिता विचरिष्यन्ति राजधानीं पितुर्मम ॥ २१ ॥

जो वाटिकाओं और उपवनों से भूषित है, सभाएँ और उत्सव जहाँ सदा होते ही रहते हैं—ऐसी मेरे पिता की राजधानी में, जो लोग सुखी हो कर विचरेंगे, वे ही लोग धन्य हैं ॥ २१ ॥

अपि सत्यप्रतिज्ञेन सार्धं कुशलिना वयम् ।

निवृत्ते संमये हस्मिन्सुखिताः प्रविशेषहि ॥ २२ ॥

हे गुह ! चौदहवर्ष बीतने पर इस व्रत को पालन कर, क्या हम लोग भी सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामचन्द्र के साथ कुशलपूर्वक श्रव्योध्यापुरी में सुख से प्रवेश करेंगे ? ॥ २२ ॥

परिदेवयमानस्य तस्यैर्वं सुमहात्मनः ।

तिष्ठतो राजपुत्रस्य शर्वरी सात्यवर्तत ॥ २३ ॥

गुह ने कहा—हे भरत ! राजकुमार और महात्मा लक्ष्मण जी तार कमान हाथ में ले, खड़े रहे और इस प्रकार विलाप करते ही करते व खड़े ही खड़े सबेरा हो गया ॥ २३ ॥

प्रभाते विमले सूर्ये कारयित्वा जटा उभौ ।

अस्मिन्भागीरथीतीरे सुखं सन्तारितौ मया ॥ २४ ॥

प्रातःकाल सूर्य के उदय होने पर दोनों भाइयों ने, इन्हीं भागीरथी के तट पर, जटा बनाई । तब मैंने बड़े आराम से उनको पार ढतारा ॥ २४ ॥

जटाधरौ तौ दुष्पचीरवाससौ

महाबलौ कुञ्जरयूथपोपमौ ।

वरेषुचापासिधरौ परन्तपौ

व्यवेक्षमाणौ सह सीतया गतौ ॥ २५ ॥

इति एकाशीतितमः सर्गः ॥

महाबली, तेजस्वी और शत्रुघ्नों के दमन करने वाले वे दोनों भाई, सीता को साथ ले और महत्क पर जटा बनाये, बूँद के

छिलकों के वस्त्र पहिने हुए, तरकस और धनुष धारण किये हुए
तथा मेरी ओर देखते हुए, गजराज की तरह चले गये ॥ २५ ॥

अयोध्याकाण्ड का द्रियासीवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:५:—

सप्ताशीतितमः सर्गः

—:०:—

गुहस्य वचनं श्रुत्वा भरतो भृशमप्रियम् ।

ध्यानं जगाम तत्रैव यत्रै तच्छ्रुतमप्रियम् ॥ १ ॥

भरत जी ने ज्योंही गुह के ऐसे दुःखप्रद वचन सुने त्योंही, वे
श्रीरामचन्द्र जी का ध्यान करने लगे ॥ १ ॥

सुकुमारो महासत्त्वः सिंहस्कन्थो महाभुजः ।

पुण्डरीकविशालाक्षस्तरुणः प्रियदर्शनः ॥ २ ॥

तदनन्तर सुकुमार, वडी भुजाओं वाले, केहरी के समान कंधे
वाले, महाधैर्यवान, कमलनयन, तरुण और मनोहर दर्शन वाले ॥ २ ॥

प्रत्याश्वस्य मुहूर्तं तु कालं परमदुर्मनाः ।

पपात सहसा त्वैर्हैतिविद्धि इव द्विपः ॥ ३ ॥

भरत जी, जब दो घड़ी बाद सचेत हुए, तब बहुत उदास हो,
हृदय में अङ्कुश खाये हुए हाथों की तरह अचानक मूर्छित हो, पृथिवी
पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

१ यत्रतत्रैव—यत्रक्षणेऽप्रियं श्रुतं तत्रैवेत्यर्थः । (गो०) २ तोत्रैः—

अहुतैः । (रा०) ३ हृदि—हृदयदेशे । (रा०)

तदवस्थं तु भरतं शत्रुघ्नोऽनन्तरस्थितः ।
परिष्वज्य रुरोदेच्छैर्विसंज्ञः शोककर्शितः ॥ ४ ॥

भरत जी की ऐसी दशा देख, निरन्तर भरत जी के पास रहने वाले शत्रुघ्न जी अत्यन्त दुखित पवं संज्ञाहीन हो, भरत जी के शरीर से लिपट कर, उच्चस्वर से विलाप कर रोने लगे ॥ ४ ॥

ततः सर्वाः समापेतुर्मातरो भरतस्य ताः ।
उपवासकृशा दीना भर्तुर्व्यसनकर्शिताः ॥ ५ ॥

तब भरत जी की सब माताएँ, जो उपवास करने के कारण शरीर से कृश और पति की मृत्यु होने से शोकातुर हो रही थीं, (भरत जो को मूर्ढित हुआ सुन) उनके पास दौड़ी हुई गयीं ॥ ५ ॥

ताथ तं पतितं भूमौ रुदन्त्यः पर्यवारयन् ।
कौशल्या रेत्वनुसृत्यैनं दुर्मनाः परिष्वजे ॥ ६ ॥

और भरत जी को भूमि पर (मूर्ढित) पड़ा देख, वे उनको चारों ओर से घेर कर खड़ी हो गयीं । कौशल्या ने भरत जी के निकट जा और अधिक विकल हो, भरत जी को उठा कर अपने हृदय से लगा लिया ॥ ६ ॥

वत्सला स्वं यथा वत्समुपगूह्यं तपस्विनी ।
परिप्रच्छ भरतं रुदन्ती शोककर्शिता ॥ ७ ॥

१ अनन्तरस्थितः—निरन्तरसमीपेहितः । (रा०) २ अनुसृत्यं—समीपं प्राप्य । (गो०) ३ उपगूह्य—परिष्वज्य । (गो०)

तदनन्तर पुत्रवत्सल एवं तपस्विनो कौशल्या, अपने निज मर्मजात पुत्र के समान, भरत जी को अपने हृदय से लगा, शोकाकुल हो, रो रो कर उनसे पूँछने लगों ॥ ७ ॥

पुत्र व्याधिर्न ते कञ्चिच्छरीरं परिबाधते ।

अद्य राजकुलस्यास्य त्वदधीनं हि जीवितम् ॥ ८ ॥

बेटा ! क्या तुम्हारे शरीर में कोई बीमारी उठ खड़ी हुई है ? देखो, अब इस राजकुल का जीना मरना तुम्हारे हो ऊपर निर्भर है ॥ ८ ॥

त्वां हष्टा पुत्र जीवामि रामे सभ्रातृके गते ।

वृत्ते दशरथे राज्ञि नाथ एकस्त्वमद्य नः ॥ ९ ॥

हे बत्स ! लक्ष्मण जी को साथ ले श्रीरामचन्द्र तो वन में चले ही गये, अब तो मैं तुम्हारा ही मुख देख कर जी रही हूँ। अब महाराज दशरथ के बाद, एक तुम्हीं हम लोगों के रक्तक हो ॥ ९ ॥

कञ्चिन्नु लक्ष्मणे पुत्र श्रुतं ते किञ्चिदप्रियम् ।

पुत्रे वा हेकपुत्रायाः सहभार्ये वनं गते ॥ १० ॥

हे बेटा ! लक्ष्मण जी के बारे में तो तुमने कोई अप्रिय बात नहीं सुनी ? अथवा मेरे एकमात्र पुत्र, जो आजी सहित वन में गया है, उसके विषय में तो कोई अमङ्गल समाचार नहीं सुना ? ॥ १० ॥

स मुहूर्तात्समाश्वस्य* रुदन्नेव महायशाः ।

कौसल्यां परिसान्त्व्येदं गुहं वचनमब्रवीत् ॥ ११ ॥

महायशस्वो भरत जी दो घड़ी बाद सबैत हुए । तब उन्होंने रुदन करती हुई कौशल्या को धीरज बंधाया और गुह से कहने लगे ॥ ११ ॥

* पाठान्तरे—“ स मुहूर्तं समाश्वस्य ” ।

भ्राता मे कावसद्राव्रौ क सीता क च लक्ष्मणः ।

अस्यपरच्छयने कस्मिन्कु खुक्त्वा गुह शंस मे ॥ १२ ॥

हे गुह ! मेरे भाई श्रीराम ने रात कहाँ बिताई थी, उन्होंने भोजन वया किया था और किस विद्वाने पर वे सोये थे ; सीता और लक्ष्मण कहाँ रहे थे ? तुम ये सब वृत्तान्त हुभसे कहो ॥ १२ ॥

सोऽब्रवीद्दरतं हृष्टोऽनिषादाधिपतिर्गुहः ।

यद्विधं॒ प्रतिपेदे॑ च रामे प्रियहितेऽतिथौ ॥ १३ ॥

निषादराज गुह ने, प्रसन्न होा, (प्रसन्न इसलिये कि उसे श्रीराम जी के गणगान करने का अवसर प्राप्त हुआ) श्रीराम जैसे प्रिय और हितैषी अतिथि का जैसा स्वत्कार किया था—सो कहा ॥ १३ ॥

अन्नमुच्चावचं॑ भक्षाः फलानि विविधानि च ।

रामायाभ्यवहारार्थं बहु चोपहृतं मया ॥ १४ ॥

हे भरत ! मैंने तरह तरह के अन्न, भक्ष्य, और बहुत से फल मूल ला कर भोजन करने के लिये श्रीराम के आगे रखे थे ॥ १४ ॥

तत्सर्वं॑ प्रत्यनुज्ञासीद्रामः सत्यपराक्रमः ।

न तु तत्प्रत्यगृह्णात्स क्षत्रधर्मै॒मनुस्मरन् ॥ १५ ॥

१ गुहः—हृष्टः—रामवृत्तान्तकीर्तनस्यावकाशोलब्धहितिसंजातहर्षःसन् ।

(गो०) २ रामे यद्विधं—यादशमुपचारादिकं । (गो०) ३ प्रतिपेदे—भक्तरादिति । (गो०) ४ उच्चावचं—अनेकविधं । (शि०) ५ प्रत्यनुज्ञासीत्—मदनुग्रहार्थकेवलमङ्गीकृत्यपुनर्द्वामेवदत्तवान् । (रा०) ६ क्षत्रधर्मं—भागीरथी तीरं तत्रयोधर्मः अन्यदीयवस्तुग्रहणान्विवृत्तिस्तं । (शि०)

किन्तु सत्यपरोक्षनी श्रीरामचन्द्र ने मुझ पर अनुग्रह करने के लिये सब बीजें बबत मात्र से ब्रह्म की और मुझे तत्त्विय धर्म का स्परण करा कर (कि गङ्गा के तट पर तत्त्वियों को किसी को दी हुई वस्तु ग्रहण करना अनुचित है) वे सब वहनुएँ मुझको लौटा दीं ॥ १५ ॥

[नोट—किसी किसी टीकाकार का मत है कि, श्रीरामचन्द्र के उपवास करने का कारण तीर्थविधि का पालन था—अर्थात् तीर्थ में जा कर प्रथम दिन उपवास करना चाहिये। इसी लिये उन्होंने गुह की भेंट ग्रहण नहीं की थी। किन्तु आगे के श्लोक से यह अनुमान सिद्ध नहीं होता।]

न ह्यस्माभिः प्रतिग्राह्यं सखे देयं तु सर्वदा ।

इति तेन वयं राजन्न'नुनीता महात्मना ॥ १६ ॥

और मुझसे कहा—हे सखे ! हम तत्त्विय हैं, हमारा धर्म है कि, सदा सब की सब कुछ दिया तो करें, किन्तु लें कुछ भी नहीं। हे राजन् ! उन महात्मा श्रीराम ने हम लोगों से यह कहा ॥ १६ ॥

लक्ष्मणेन सप्तानीतं पीत्वा वारि महामनाः* ।

औपवास्य तदाऽकार्षीद्राघ्यः सह सीतया ॥ १७ ॥

महामना श्रीराम, लक्ष्मण जी का लाया हुआ जल, सीता सहित पी कर, उस रात उपवास करके रह गये ॥ १७ ॥

ततस्तु जलशेषेण लक्ष्मणोऽप्यकरोत्तदा ।

॒वाग्यतास्ते त्रय सन्ध्यां॑ समुपासत संहिताः॒ ॥१८॥

१ अनुनीता—पद्मुका । शि०) २ वाग्यतः—नियतवाचः । (गो०)

३ सीतायाऽविसन्ध्यायां॑च्यानजयादिकमत्स्येव । (गो०) ४ संहिताः—समाहिताः । (गो०) * पाठान्तरे—“महायशः” ।

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने भी, जो जल बच रहा था, सो पी लिया । तदनन्तर तीनों ने मौन और एकाग्रचित्त हो, सन्ध्यावन्दन किया ॥ १८ ॥

[नोट—तीनों ने सन्ध्योपासन किया । तीन की संख्या में किसी किसी ने ती श्रीराम, लक्ष्मण और सुमंत्र की गणना की है, और किसी ने श्रीराम, लक्ष्मण और सीता की । जिस प्रकार सूतजातीय होने के कारण सुमंत्र को शास्त्रतः वैदिक सन्ध्योपासन करने का निषेध हो सकता है, उसो प्रकार खीजाति की होने के कारण सीता जी भी वैदिक सन्ध्योपासन करने की अधिकारिणी नहीं हैं । अतः जो समाधान सुमंत्र के किये है, वहो जानकी जी के लिये भी । श्रीगोविन्दराज जी का मत है कि, सीता ने जो सन्ध्योपासन किया उसमें केवल परमात्मा का ध्यान और उनके नाम का जप किया था । खियों तथा शूद्रों के लिये, परमात्मा का ध्यान करने और उनका नाम जपने का निषेध नहीं है । यहाँ पर एक शङ्खा और घटती है । वह यह कि, जलपान के बाद सन्ध्योपासन कैसा ? इसका समाधान भूषणटीका में इस प्रकार किया गया है कि, गुह ने भरत के इस प्रश्न के उत्तर में कि, श्रीराम ने क्या खाया था, कहा कि, मेरे लाये हुए फलादि को छौटा-लक्ष्मण के लाये हुए जल को पी कर, श्रीराम रहे । यह प्रसङ्गानुसार प्रश्न का उत्तर है । इससे यह न समझना चाहिये कि, जल पीने के अनन्तर श्रीरामचन्द्र ने सन्ध्योपासन किया था ।]

सौमित्रिस्तु ततः पश्चादकरोत्स्वास्तरं शुभम् ।
स्वयमानीय वर्हीषि क्षिप्रं राघवकारणात् ॥ १९ ॥

तदनन्तर महात्मा लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र के सोने के लिये तुरन्त कुश ला कर बिछा दिये ॥ १९ ॥

तस्मिन्समाविशद्रामः स्वास्तरे सह सीतया ।
प्रक्षालय च तयोः पादावपचक्राम लक्ष्मणः ॥ २० ॥

और जब उन पर श्रीरामचन्द्र जी सीता सहित लेटे, तब लक्ष्मण उन दोनों के पैर धो कर, वहाँ से कुछ दूर हट कर, चले आये ॥ २० ॥

एतत्तदिङ्गुदीमूलमिदमेव च तत्त्वणम् ।

यस्मिन्नरामश्च सीता च रात्रिं तां शयितावुभौ ॥२१॥

हे राजकुमार ! देखो यही तो वह इंगुदी का ऐड है और यही वह तृणशश्या है । इसी पर उस रात में श्रीराम और सीता—दोनों सेये थे ॥ २१ ॥

१नियम्य पृष्ठे तु तलाङ्गुलित्रवा-
ञ्जरैः सुपूर्णाविषुधी२ परन्तपः ।

महद्भुतुः सज्यमुपोद्धृ३ लक्ष्मणो
४निशामतिष्ठत्परितोऽस्य केवलम् ॥ २२ ॥

उस रात में शशुध्रों को दमन करने वाले लक्ष्मण, तीर से भरे दो तरकस बाँध, हाथों में गोह के चमड़े के दस्ताने पहिन और हाथ में रोदा चढ़ा कुआ बड़ा धनुष ले, श्रीरामचन्द्र जी की रख-वाली के लिये उनकी तृणशश्या (से कुछ हट) उसके चारों ओर धूम धूम कर पहरा देते रहे ॥ २२ ॥

ततस्त्वहं चोत्तमवाणचापधृ-
तिस्थितोऽभवं तत्र स यत्र लक्ष्मणः ।

१ नियम्य—वध्वा । (गो०) २ इषुधी—तूणीरद्वयं । (गो०)

३ उपोद्धृ—धृत्वा । (गो०) ४ अस्तपरितोत्तिष्ठत्—सर्वतो रक्षणार्थं प्रदक्षिणं चचारेत्यर्थः । (गो०)

अतन्द्रिभिर्ज्ञातिभिरात्तकार्मुकैः

सहेन्द्रकल्पं परिपालयं स्तदा ॥ २३ ॥

इति सप्तशीतितमः सर्गः ॥

मैं भी एक वाङ्मया धनुष हाथ में ले, अपनी विरादरी के धनुष-धारी लोगों के साथ, उन इन्द्र तुल्य श्रीरामचन्द्र जी की रखवाली करता हुआ लक्ष्मण जी के साथ यहाँ रात भर जागता रहा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का सत्तासीर्वा सर्ग समाप्त हुआ ।



अष्टाशीतितमः सर्गः

— : * : —

तच्छुत्वा निपुणं^१ सर्वं भरतः सह मन्त्रिभिः ।

इडू दीमूलमागम्य रामशश्यामवेक्ष्य ताम् ॥ १ ॥

गुह के बचन सुन भरत जो मंत्रियों सहित, सावधानतापूर्वक इंगुदी वृक्ष के नीचे गये और श्रीरामचन्द्र जी की तुणशश्या को देखने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीज्जननीः सर्वा इह तेन^२ महात्मना ।

शर्वरी शयिता भूमाविदमस्य विमर्दितम् ॥ २ ॥

और अपनी माताश्री से बोले कि, महात्मा श्रीरामचन्द्र ने उस रात, इसी पर यहाँ शयन किया था । यह कुश उन्हींके शरीर से मर्दन किये हुए हैं ॥ २ ॥

१ निपुणं—सावधानं । (गो०) २ तेन—रामेण । (गो०)

महाभागकुलीनेन महाभागेन धीमता ।

जातो दशरथेनोर्व्या न रामः स्वप्नुमर्हति ॥ ३ ॥

परम भाग्यवान्, कुलीन और बुद्धिशाली महाराज दशरथ से उत्पन्न हों, श्रीरामचन्द्र ने पृथिवी पर शयन किया सो यह अत्यन्त अनुचित हुआ ॥ ३ ॥

अजिनोत्तरसंस्तीर्णे वरास्तरणसंवृते ।

शयित्वा पुरुषव्याघ्रः कथं शेते महीतले ॥ ४ ॥

जो श्रीराम, सदा ही राजाओं के सेवे योग्य केले की छाल के बने अति कोमल विकौने से युक्त सेजों पर सेते रहे हैं, वे भला, किस तरह भूमि पर सेते होंगे ॥ ४ ॥

प्रासादाग्रविमानेषु बलभीषु^१ च सर्वदा ।

हैमराजतथौमेषु वरास्तरणशालिषु ॥ ५ ॥

६पुष्पसञ्चयचित्रेषु चन्दनागरुगन्धिषु ।

पाण्डुराम्रप्रकाशेषु शुकसङ्खरुतेषु च ॥ ६ ॥

प्रासादवरबर्येषु शीतवत्सु सुगन्धिषु ।

उषित्वा मेरुकल्पेषु कृतकाञ्चनभित्तिषु ॥ ७ ॥

गीतवादित्रनिर्धार्षैर्वराधरणनिःस्वनैः ।

मृदङ्गवरशब्दैश्च सततं प्रतिबोधितः ॥ ८ ॥

१ अजिन—शब्देन कदल्याद्यजिनं विवक्षितं । (गो०) २ बलभीषु—कूटागारेषु । (गो०) ३ वरास्तरणशालिषु—चित्रकम्बलाशालिषु । (गो०)

* पाठान्तरे—“सञ्चये । ”

जिस सातखने राजभवन की चैखण्डी की भूमि सोने और चाँदी की बनी हुई है और जिस पर अच्छे अच्छे रंग विरंगे ऊनी गलीचे बिछे हुए हैं, जिन पर पुष्पों से चित्र चित्र रचनाएँ की जाती हैं और जो शयनगृह चन्दन और अगर की सुगन्ध से सुवासित हैं, जो सफेद उजले बादल की तरह दीख पड़ता है, जहाँ पर तोता मैंना आदि पक्षी बोलते, जो राजभवनों में सब से श्रेष्ठ हैं, जहाँ पर आवश्यकता नुसार ठंडक पहुँचायी जा सकती है (अर्थात् जब चाहो तब कमरे में ठंडक हो जाय) अथवा जिसमें सदा शीतल और सुन्धित पवन का सञ्चार हुआ करता है, जिसकी ऊँची दीवालें होने चाँदी के काम से खचित होने के कारण मेर पर्वत जैसी जान पड़ती हैं—ऐसे उत्तम शयनागार में सोने वाले श्रीरामचन्द्र जी जो मधुर गान और उत्तम मृदङ्गादि बाजों के शब्दों से तथा सुन्दर स्त्रियों की पायजेव, नूपुर आदि गहनों के कुम्कुम शब्द से जगाये जाते थे ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

बन्दिभिर्वन्दितः काले^१ बहुभिः सूतमागधैः ।
गाथाभिरनुरूपाभिः स्तुतिभिश्च परन्तपः ॥ ९ ॥

और जागने के बाद, प्रातःकाल शब्दों के दमन करने वाले श्रीराम, जिनकी अनेक सूत, मागध और बंदीगण अनेक प्रकार की सुन्दर (पूर्व पुरुषों की) गाथाओं और स्तुतियों से बंदना करते थे ॥ ९ ॥

अश्रद्धेयमिदं लोके न सत्यं प्रतिभाति मे* ।
मुद्यते खलु मे भावः स्वमोऽयमिति मे मतिः ॥ १० ॥

^१ काले—प्रातःकाले । (गो०) * पाठान्तरे—“ मा । ”

वे ज़मीन पर सोवें, और शृगाल एवं वन्य जन्तुओं का भयडूर चीकार सुन जाएं—इस बात पर मुझे न तो विश्वास ही होता है और न यह मुझे सत्य ही जान पड़ती है। क्योंकि इसकी कल्पना मात्र से मुझे भ्रम होने लगता है और स्वप्न सा जान पड़ता है ॥ १० ॥

न नूनं दैवतं किञ्चित्कालेन^१ बलवत्तरम् ।

यत्र दाशरथी रामो भूमावेव शयीत सः ॥ ११ ॥

निश्चय ही परमात्मा की इच्छा से बढ़ कर कोई देवता नहीं है। नहीं तो महाराज दशरथ के पुत्र हो कर भी श्रीराम ज़मीन पर क्यों सोते ॥ ११ ॥

विदेहराजस्य सुता सीता च प्रियदर्शना ।

दयिता शयिता भूमौ स्नुषा दशरथस्य च ॥ १२ ॥

राजा जनक की बेटी, महाराज दशरथ की बहू जो अति सुन्दरी है और जिस पर महाराज दशरथ की बड़ी कृपा थी, हाय ! ज़मीन पर सोती है !! ॥ १२ ॥

इयं शश्या मम भ्रातुरिदं हि परिवर्तितम् ।

स्थण्डले^२ कठिने सर्वं गात्रैर्विमृदितं तृणम् ॥ १३ ॥

हे माता ! देखो मेरे भाई की यह सेज है ! देखो, जैसे जैसे उन्होंने करवटें बदली हैं, वैसे ही वैसे कड़ी भूमि पर बिछे। हुए तृण उनके शरीर से दब दब कर कुचल गये हैं ॥ १३ ॥

^१ कालेन—कालात् परमात्मेच्छया । (शि०) ^२ स्थण्डले—भूतले ।

मन्ये साभरणा सुप्ता सीतास्मिन्दशयनोत्तमे ।

तत्र तत्र हि दृश्यन्ते सक्ताः कनकविन्दवः ॥ १४ ॥

मुझे जान पड़ता है, गहने पहिने हुए सीता सोई थी । इसीसे तो जहाँ तहाँ सोने के रोना (दाने) पड़े हुए देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

उत्तरीयमिहासक्तं सुव्यक्तं सीतया तदा ।

तथा होते प्रकाशन्ते सक्ताः कौशेयतन्तवः ॥ १५ ॥

हे माता ! जान पड़ता है, यहाँ पर सीता की ओढ़नी उलझ गयी थी — क्योंकि यहाँ रेशम के धागे उलझे हुए हैं ॥ १५ ॥

मन्ये भर्तुः सुखा शश्या येन वाला तपस्विनी ।

सुकुमारी सती दुःखं न विजानाति मैथिली ॥ १६ ॥

पति की सेज (कैसी ही क्यों न हो अर्थात् चाहे वह कोमल हो चाहे कठोर) जियों के लिये सदा सुखदायिनी होती है, देखो न ! इसीसे तो उस सुकुमारी तपस्विनी पतिव्रता वाला सीता को इस पर गोने से कुछ भी कष्ट न हुआ ॥ १६ ॥

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽहं यत्सभार्यः कृते मम ।

ईदर्शी राघवः शश्यामधिशेते ह्यनाथवत् ॥ १७ ॥

हा ! मैं तो जीते जी ही मर गया । मैं बड़ा निर्द्यो हूँ । मेरे ही पीछे तो श्रीरामचन्द्र को अपनी खी सहित, अनाथ की तरह, ऐसी शश्या पर सोना पड़ा ॥ १७ ॥

सार्वभौमकुले जातः सर्वलोकस्य सम्मतः ।

सर्वलोकप्रियस्त्यक्त्वा राज्यं सुखमनुज्ञम् ॥ १८ ॥

सप्राद् के कुल में जन्म ले कर, सद को सुख देने वाले और सर्वप्रिय हो कर भी वे उत्तम राज्यसुख से वशित किये गये ॥१८॥

कथमिन्दीवरश्यामो रक्ताक्षः प्रियदर्शनः ।

सुखभागी न दुःखार्हः शयितो भुवि राघवः ॥१९॥

हा ! नील कपल के समान श्यामल शरीर वाले तथा रक्तवर्ण नेत्र वाले, देखने में मनोहर, जिन्होंने सदा सुख ही भोगा है और जो कभी दुःख भोगने योग्य नहीं है—वे श्रीरामचन्द्र किस प्रकार ज़मीन पर सोये ॥ १९ ॥

धन्यः खलु महाभागो लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।

ब्रातरं विषये काले यो राममनुवर्तते ॥ २० ॥

इस समय तो शुभ लक्षणों वाले लक्ष्मण जो ही धन्य हैं और उन्होंको बड़भागी समझना चाहिये कि, जो ऐसे बुरे समय में भी अपने भाई श्रीराम का साथ दे रहे हैं ॥ २० ॥

सिद्धार्था खलु वैदेही पति याऽनुगता वनम् ।

वयं संशयिताः^१ सर्वे हीनास्तेन महात्मना ॥ २१ ॥

और वैदेही जानकी का भी जन्म सफल है जो अपने पति के साथ वन में गयी । हम लोग श्रीरामचन्द्र जी से केवल हीन ही नहीं हैं, किन्तु हमें इस बात का भी सन्देह है कि, श्रीराम हम लोगों की सेवा अङ्गीकार करें या न करें ॥ २१ ॥

अकर्णधारा पृथिवी शून्येव प्रतिभाति माम्* ।

गते दशरथे स्वर्गं रामे चारण्यमाश्रिते ॥ २२ ॥

^१ संशयिताः—अस्मत्सैवारामेऽङ्गीकृत्यतिगतेतिसंशयताः । (गो०)

* पाठान्तरे—“मा” ।

महाराज दशरथ के स्वर्गवासी होने से तथा श्रीरामचन्द्र जी के वनवासी होने से, विना माँझी की नाव की तरह, यह पृथिवी, मुझे सुनी दिखलायी पड़ती है ॥ २२ ॥

न च प्रार्थयते कश्चिन्मनसाऽपि वसुन्धराम् ।
बनेऽपि वसतस्तस्य बाहुवीर्याभिरक्षिताम् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी वनवास कर रहे हैं तो क्या हुआ, यह पृथिवी उन्हींके भुजवल से रक्षित होने के कारण, दूसरा इसे लेने की, अपने मन में कल्पना भी नहीं कर सकता ॥ २३ ॥

शून्यसंवरणारक्षामयन्त्रितहयद्विपाम् ।
अपावृतपुरद्वारां राजधानीमरक्षिताम् ॥ २४ ॥

यद्यपि इस समय अयोध्या की चहारदीवारी की रक्षा जैसी होनी चाहिये वैसी नहीं हो रही, हाथी घोड़े भी जहाँ तहाँ क्यूंदे हुए घूम रहे हैं, उन्हें पकड़ कर कोई बाधने वाला नहीं है । पुर के फाटक भी खुले पड़े हैं अतएव राजधानी अरक्षित है ॥ २४ ॥

१ अप्रहृष्टबलां न्यूनां२ ३ विषमस्थामनावृताम्४ ।
शत्रवो नाभिमन्यन्ते भक्षान्विषकुत्तानिव ॥ २५ ॥

क्योंकि वहाँ की सेना उदास है, उसे पुरी की रक्षा करने की सुधि नहीं है । अतः अयोध्यापुरी इस समय साधनहीन है, दुर्दशा-पन्न है और बाहिर से भी उसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है ;

१ अप्रहृष्टबलवत्वमरक्षितत्वेहेतुः । (गो०) २ न्यूनां—साधनविहीनां । (गो०) ३ विषमस्थां—दुर्दशापन्नां । (गो०) ४ अनावृतां—वाहारक्षक-रहितां । (गो०)

तथापि शत्रुलोग, श्रीरामचन्द्र के प्रताप के कारण, उसकी ओर देखते हुए वैसे ही डरते हैं, जैसे कोई विषेजे भोजन को देख कर डरता है ॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भूमौ तु शयिष्येऽहं तुणेषु वा ।

फलमूलाशनो नित्यं जटाचीराणि धारयन् ॥२६॥

आज से मैं भी खाली ज़मीन पर अथवा चटाई पर ही सोऊँगा, और नित्य फल मूल ही खाऊँगा और जटा चीर धारण करूँगा ॥ २६ ॥

तस्यार्थमुच्चरं कलं निवत्स्यामि सुखं वने ।

तं प्रतिश्रवमामुच्य नास्य मिथ्या भविष्यति ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र को वन से लौटा कर उनके बदले मैं वन में बसूँगा—क्योंकि वनवास की जो अवधि अभी शेष है, उसे मैं पूरी करूँगा जिससे बड़े भाई की चैदह वर्ष वनवास करने की प्रतिज्ञा मिथ्या न होने पावे ॥ २७ ॥

वसन्तं भ्रातुरर्थाय शत्रुघ्नो मानुऽवत्स्यति ।

लक्ष्मणेन सह त्वार्यो ह्ययोध्यां पालयिष्यति ॥२८॥

भाई के बदले वन में वास करने पर शत्रुघ्न जी मेरे साथ वन में रहेंगे और लक्ष्मण के सहित श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या में जाराज्यशासन करेंगे ॥ २८ ॥

अभिषेक्ष्यन्ति काकुत्स्थमयोध्यायां द्विजातयः ।

‘अपि मे देवताः कुर्युरिमं सत्यं मनोरथम् ॥ २९ ॥

ब्राह्मण को ग अयोध्या में श्रीरामचन्द्र का राज्याभिषेक करेंगे । देवताओं से मैं हो यही प्रार्थना करता हूँ कि, वे मेरा मनोरथ पूरा करें ॥ २६ ॥

प्रसाद्यमानः शिरसा मया स्वयं ।

बहुप्रकारं यदि नाभिपत्स्यते ॥

३ ततोऽनुवत्स्यामि चिराय राघवं

वने वसन्नार्हति मामुपेक्षितुम् ॥ ३० ॥

इति अष्टाशीतितमः सर्गः ॥

चरणों में सीस रखने तथा अनेक प्रकार से मेरे स्वयं मनाने पर भी, यदि श्रीरामचन्द्र मेरी बात अंगीकार न करेंगे (और पिता की आङ्गा का स्वयं पालन ही करेंगे) तो मैं भी चिरकाल तक श्री-रामचन्द्र जी का सेवक बन उनके साथ बन में धास करूँगा । पर सुझे विश्वास है कि, श्रीरामचन्द्र जी भक्तवत्सल हैं, अतः वे अपने दास की उपेक्षा कभी न करेंगे ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का अट्टासीवौ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—;*;—

१ स्वयंनतु मन्त्रिमुखेन । (रा०) २ नाभिपत्स्यते—नाङ्गीकरिष्यति ।
(गो०) ३ अनुवत्स्यामि—तदनुचरोभवामि । (गो०)

एकोननवतितमः सर्गः

—०—

१ व्युष्य रात्रिं^२ तु तत्रैव^३ गङ्गाकूले स राघवः ।

भरतः ४ काल्यमुत्थाय शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

रघुकूलोत्पन्न भरत जी ने उसी स्थान पर जहाँ श्रीरामचन्द्र जी सोये थे, रात्रि व्यतीत की और जब सबेरा हुआ तब उठ कर शत्रुघ्न से कहा ॥ १ ॥

शत्रुघ्नोत्तिष्ठ किं शेषे निषादाधिपर्ति गुहम् ।

शीघ्रमानय भद्रं ते तारयिष्यति वाहिनीम् ॥ २ ॥

शत्रुघ्न उठो ! सबेरा हो चुका । अब क्यों पढ़े सो रहे हो । तुम्हारा कल्याण हो । तुम जा कर तुरन्त निषादराज गुह को यहाँ बुला लाओ, जिससे वह हमारी सेना को पार उतारे ॥ २ ॥

जागर्मि नाहं स्वपिमि तमेवार्यं विचिन्तयन् ।

इत्येवमब्रवीद्भ्रात्रा शत्रुघ्नोऽपि प्रचोदितः ॥ ३ ॥

यह सुन शत्रुघ्न ने भी कहा—हे भ्राता ! मैं सो नहीं रहा—जाग रहा हूँ और जिस प्रकार आप श्रीरामचन्द्र जी का चिन्तन करते हैं, वैसे ही मैं भी उन्होंका चिन्तन कर रहा हूँ ॥ ३ ॥

इति संवदतोरेवमन्योन्यं नरसिंहयोः ।

आगम्य प्राञ्जलिः काले गुहो भरतमब्रवीत् ॥ ४ ॥

१ व्युष्य—उषित्वा । (गो०) २ रात्रिं—रात्रौ । (गो०) ३ तत्रैव
यत्ररामोशयिष्टतत्रैव । (गो०) ४ काल्यं—प्रत्यूषः । (गो०)

इस प्रकार दोनों पुरुषसिंह बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में निषादराज गुह ठीक समय पर पहुँच और हाथ जोड़ कर भरत जी से बोला ॥ ४ ॥

कच्चित्सुखं नदीतीरेऽवात्सीः काकुत्स्थ शर्वरीम् ।
कच्चित्ते सहसैन्यस्य तावत्सर्वमनामयम् ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! आप नदी के तट पर रात को सुखपूर्वक तो रहे । आपको या आपको सेना में से किसी को किसी प्रकार का क्लेश तो नहीं हुआ ॥ ५ ॥

गुहस्य तत्तु वचनं श्रुत्वा स्नेहादुदीरितम् ।
रामस्यानुवशो वाक्यं भरतोऽपीदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

गुह के ऐसे स्नेह-सने वचन सुन, भरत जी ने भी गुह से यह कहा ॥ ६ ॥

सुखा नः शर्वरी राजन्पूजिताश्चापि ते वयम् ।
गङ्गां तु नौभिर्बहीभिर्दीशाः^३ सन्तारयन्तु नः ॥ ७ ॥

हे राजन ! यह रात हम सब की सुख से बोती और तुमने हमारा भली भाँति आदर सत्कार भी किया । अब तुम अपने मल्लाहों को आझा दो कि, बहुत सो नावों द्वारा हम लोगों को उस पार पहुँचा दें ॥ ७ ॥

ततो गुहः सन्त्वरितं श्रुत्वा भरतशासनम् ।
प्रतिप्रविश्य नगरं तं ज्ञातिजनयब्रवीत् ॥ ८ ॥

^१ रामस्यअनुवशः—रामस्यअनुचरः । (शि०) ^२ दाशाः—
कैवर्तिकाः । (शि०)

भरत जी की ऐसी आङ्गा पा कर गुह ने बड़ी शीघ्रता से पुनः अपने नगर में प्रवेश किया और वहाँ जा कर अपनी जातिवालों (मल्हाहों) से कहा—॥ ८ ॥

उत्तिष्ठत प्रबुध्यध्वं भद्रमस्तु च वः सदा ।

नावः समनुकर्षध्वं तारयिष्याम वाहिनीम् ॥ ९ ॥

भाइयो ! उठो ! जागो ! सदा तुम्हारा मङ्गल हो । नावों को किनारे पर ला कर, सेना को पार उतारो ॥ १० ॥

ते तथोक्ताः समुत्थाय त्वरिता राजशासनात् ।

पञ्च नावां शतान्याशु समानिन्युः समन्ततः ॥ १० ॥

गुह द्वारा ऐसा कहे जाने पर मल्हाह लोग उठ खड़े हुए और अपने राजा के आङ्गानुसार उन लोगों ने इधर उधर से जोड़ बटोर कर ५००नावें ला कर, घाट पर लगा दी ॥ १० ॥

अन्याः स्वस्तिकविज्ञेया महाघण्टाधरा वराः ।

शोभमानाः पताकाभिर्युक्तवाताः^१ सुसंहिताः^२ ॥ ११ ॥

इनके अतिरिक्त राजश्रों के चढ़ने योग्य “स्वस्तिक” नामक कई एक बजरा नावें भी लायी गयीं । इन स्वस्तिक नावों में घण्टे ढंगे हुए थे । पताकाएँ शोभायमान थीं । हवा आने जाने के लिये खिड़कियाँ बनी थीं, और नाव की तली में कीले आदि ऐसी सावधानी से जड़ी थीं कि, उनमें एक बूँद भी जल नाव के भीतर नहीं आ सकता था ॥ ११ ॥

^१ युक्तवाताः—फलककुड्यकरणेन मध्ये मध्येगवाक्षनिर्मणेन च महावात-निवारणादुच्चितवाताः । (गो०) ^२ सुसंहिताः—राजारैहणस्थानत्वैनाथसकीला दिभिर्दृष्टसन्धिवन्धाः । (गो०)

ततः स्वस्तिकविज्ञेयां पाण्डुकम्बलसंवृत्ताम् ।

१ सनन्दिधोषां २ कल्याणीं गुहो नावमुपाहरत् ॥१२॥

उन स्वस्तिक नाम के बजरों में सफेद उनी कालीन विक्षे हुए थे । जब वे चलायी जाती थीं, तब उनमें छोटी छोटी घंटियां बजती थीं, वे देखने में बड़ी सुन्दर जान पड़ती थीं । ऐसी एक नाव को गुह स्थयं लाया था ॥ १२ ॥

तामारुरोह भरतः शत्रुघ्नश्च महायशाः* ।

कौसल्या च सुमित्रा च याश्वान्या राजयोषितः ॥१३॥

इस बजरे पर महायशस्वी भरत, शत्रुघ्न, कौशल्या, सुमित्रा, तथा अन्य जो रानियाँ थीं, सवार हुईं ॥ १३ ॥

पुरोहितश्च तत्पूर्वं गुरवो ब्राह्मणाश्च ये ।

अनन्तरं राजदारास्तथैव शकटापणाः ॥ १४ ॥

भरत आदि के नाव में बैठने के पूर्व पुरोहित तथा अन्य गुरु-जन ब्राह्मण पहिले ही चढ़ चुके थे । तदनन्तर कौशल्यादि रानियां नाव में बैठी थीं । उनके बैठने के बाद सामान से लदे छकड़े नावों पर बोझे गये थे ॥ १४ ॥

३ आवासमादीपयतां४ तीर्थ५ चाप्यवगाहताम् ।

६ भाण्डानि चादानानां घोषस्त्रिदिवमस्पृशत् ॥ १५ ॥

१ सनन्दिधोषां—हर्षजनकिहिण्यादिधोषयुक्तं । (गो०) २ कल्याणीं—शोभनां । (गो०) ३ आवास—सेनानिवेशं । (गो०) ४ आदीपयतां—अस्त्रिनाज्वलयतां । (गो०) ५ तीर्थ—अवतरणप्रदेशं । (गो०) ६ भाण्डानि—उपकरणानि । (गो०) * पाठान्तरे—“महाबलः” ।

चलते समय द्रावनी में जो धास फूस था वह जला दिया गया । फिर गङ्गा जी में स्नान करने वालों का कोलाहल, तथा नावों पर सामान लादने वालों का चीत्कार शब्द ऐसा हुआ कि, आकाश प्रतिध्वनित हो उठा । अर्थात् वहाँ से सेना के कुँच के समय और नावों में सामान लादते समय बड़ा हो हल्ला हुआ ॥ १५ ॥

पताकिन्यस्तु ता नावः स्वयं दाशैरधिष्ठिताः ।

वहन्त्यो जनमारुदं तदा सम्पेतुराशुगाः ॥ १६ ॥

वे पालवाली नावें, जिन पर माँझी लोग बैठे हुए रखवाली कर रहे थे, नावों पर सवार लोगों को लिये हुए, बड़े बेग से चली जाती थीं ॥ १६ ॥

नारीणामभिपूर्णस्तु काश्चित्काश्चिच्च वाजिनाम् ।

काश्चिदत्र वहन्ति स्म यानयुग्यं^१ महाधनम्^२ ॥ १७ ॥

कितनी ही नावों में तो खियाँ ही खियाँ बैठी थीं और कितनी ही नावों में घोड़े ही घोड़े भरे थे । कई एक नावों पर रथ बैल छकड़े, घोड़े, खच्चर—जो बड़े बड़े मोल के थे भरे थे ॥ १७ ॥

ताः स्म गत्वा परं तीरमवरोप्य च तं जनम् ।

निवृत्ताः^३ काण्डचित्राणि^४ क्रियन्ते दाशवन्धुभिः ॥ १८ ॥

धीरे धीरे ये सब नावें गङ्गा के दूसरे पार पर जा लगीं और आरोहियों को उतारा । लौटते समय, गुह के बन्धु मल्लाह लोग, नौका ले जल में विविध प्रकार के खेल करतं जाते थे ॥ १८ ॥

^१ यानयुग्यं—यानानिरथशकटादीनि युग्यानि—अश्वतरबलीवर्दादीनि ।

(गो०) ^२ महाधनं—बहुमूल्यं । (गो०) ^३ काण्डे—वारिणि । (गो०)

^४ चित्राणि—चित्रगमनानि । (गो०)

सवैजयन्तास्तु गजा गजारोहप्रचोदिताः ।

तरन्तः स्म प्रकाशन्ते सध्वजाः इव पर्वताः ॥ १९ ॥

महावत लोग ध्वजा सहित हाथियों को जल में पैरा कर पार उतारते थे । उस समय वे हाथी चलते फिरते पर्वतों की तरह जान पड़ते थे ॥ १६ ॥

नावश्चारुहुश्चान्ये पुवैस्तेष्वस्तथा परे ।

अन्ये कुम्भघटैस्तेष्वस्तथा तेष्वश्च बाहुभिः ॥ २० ॥

कोई कोई तो क्षेत्री नावों पर बैठ कर पार उतरे, कोई बांस आदि के बेड़ों के साहरे, कोई घरनई से और कोई स्वयं तैर कर उस पार पहुँचे ॥ २० ॥

सा पुण्याः ध्वजिनी^३ गङ्गां दाशौः सन्तारिता स्वयम् ।

मैत्रे मुहूर्ते प्रययौ प्रयागवनमुत्तमम् ॥ २१ ॥

गुह के नौकर मल्लाहों ने स्वयं गङ्गास्नान से पवित्र हुई सेना को पार उतार दिया । वह सेना सुर्योदय से तीसरे मैत्र नामक मुहूर्त में परम मनोहर बन को प्रस्थानित हुई ॥ २१ ॥

४आश्वासयित्वा च चम्^५ महात्मा^६

निवेशयित्वा च यथोपजोषम्^७ ।

१ सध्वजाः—सगमनाः । (गो०) २ पुण्या—गङ्गास्नानादिनापृता ।

(गो०) ३ ध्वजिनी—सेना । (गो०) ४ आश्वासयित्वा—सान्तयित्वा ।

(गो०) ५ चम—महाजन । (गो०) ६ महात्मा—महामतिः । (गो०)

७ यथोपजोषम्—यथासुख । (गो०)

द्रष्टुं भरद्वाजमृषिप्रवर्य-

१ पृत्विगृहतः सन्भरतः प्रतस्थे ॥ २२ ॥

प्रयाग में पहुँच, महामति भरत ने सब सेना तथा साधियों की मधुर वचनों से सान्त्वना प्रदान कर, जहाँ जिसको छुविधा जान पड़ी, वहाँ टिकाया। तदनन्तर भरत जी, वशिष्ठादि ऋषियों को साथ ले, भरद्वाज जी के दर्शन करने को उनके आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २२ ॥

स २ ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्य

३ महात्मनो ४ देवपुरोहितस्य ।

ददर्श रम्योटजवृक्षषण्डं

महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ॥ २३ ॥

इति एकोननवतितमः सर्गः ॥

उन वेदवित् महाज्ञानी देवपुरोहित वृहस्पतिपुत्र भरद्वाज के आश्रम में पहुँच, भरतादि ने भरद्वाज जी की रमणीय पर्णशाला और सघन वृक्षों से सुशोभित बड़े वन को देखा ॥ २३ ॥

अयोध्याकाण्ड का उनवासीवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

१ पृत्विगिभिः—वशिष्ठादिभिः । (८०) २ ब्राह्मणस्य—ब्रह्मवेदः तदधीते ब्राह्मणः । (गो०) ३ महात्मनो—महाज्ञानस्य । (गो०) ४ देवपुरोहितस्य—बृहस्पति पुत्रत्वेनदेवपुरोहितत्वं “आत्मावै पुत्र नामासि” इतिन्यायात् । (गो०)

नवतितमः सर्गः

— 10 —

भरद्वाजाश्रमं दृष्टा क्रोशादेव नर्षभः ।

बलं सर्वमवस्थाप्य जगाप सह मन्त्रिभिः ॥ १ ॥

पदभ्यामेव हि धर्मज्ञो न्यस्तशक्तिपरिच्छुदः ।

वसानो वाससी क्षौमे पुरोधाय पुरोधसम् ॥ २ ॥

धर्मज्ञ पुरुषोत्तम भरत आश्रम से कोस भर के अन्तर पर सेना
आदि को टिका कर, मंत्रियों को साथ ले, अख्य शब्द छोड़
एवं राजसी पोशाक उतार, केवल रेशमी वस्त्र धारण कर, तथा
पुरोहितों को आगे कर, पैदल ही, भरद्वाज जी के दर्शन करने को
गये ॥ १ ॥ २ ॥

ततः सन्दर्शने तस्य भरद्वाजस्य राघवः ।

मन्त्रिणस्तानवस्थाप्य जगामानुपुरोहितम् ॥ ३ ॥

अनन्तर जब भरत जी ने दूर से भरद्वाज जी को देखा तब मंत्रियों को भी पीछे छोड़ आप अकेले ही वशिष्ठ जी के पीछे पीछे जाने लगे ॥ ३ ॥

वसिष्ठमथ दृष्टैव भरद्वाजो महातपाः ।

^१सञ्चालासनात्तर्णं शिष्यानर्थमिति^२ ब्रवन् ॥ ४ ॥

महातपस्जी भरद्वाज ने वशिष्ठ जी को देखते ही शिष्यों की अर्ध्यादि लाने की आज्ञा दी और वे तुरन्त आसन क्षेत्र खड़े हो गये ॥ ४ ॥

१ संचचाल— ददतिष्ठत् । (गो०) २ अव्यूँ आनयतेति क्षेषः । (गो०)

समागम्य वसिष्ठेन भरतेनाभिवादितः ।

अबुध्यतः प्रहातेजाः सुतं दशरथस्य तम् ॥ ५ ॥

और आगे बढ़ वशिष्ठ जी से मिले । भरत जी ने भरद्वाज का प्रणाम किया । मुनि भरद्वाज ने जान लिया कि, वे महातेजस्वी (भरत) दशरथनन्दन हैं ॥ ५ ॥

ताभ्यामर्थं च पादं च दत्त्वा पश्चात्फलानि च ।

आनुपूर्व्याच्च धर्मज्ञः प्रच्छ कुशलं कुले ॥ ६ ॥

धर्मात्मा भरद्वाज जी ने उनके लिये भी अर्थ सामग्री मँगवा कर, उन दोनों को अर्थ और पाद दिया । तदनन्तर भोजन के लिये फल दिये । पीछे क्रमपूर्वक उनसे उनके घर का कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ६ ॥

अयोध्यायां बले कोशे मित्रेष्वपि च मन्त्रिषु ।

जानन्दशरथं वृत्तं न राजानमुदाहरत् ॥ ७ ॥

अयोध्या में भी सेना, धनागार, मित्रों और मंत्रियों के सम्बन्ध में कुशलप्रश्न पूँछा, तदनन्तर महाराज दशरथ की मृत्यु का समाचार मालूम होने के कारण उनका नाम न लिया ॥ ७ ॥

वसिष्ठो भरतश्चैनं प्रच्छतुरनामयम् ।

शरीरेऽग्निषु वृक्षेषु शिष्येषु मृगपक्षिषु ॥ ८ ॥

तदनन्तर वशिष्ठ जी और भरत जी ने भी भरद्वाज से उनके शरीर, अग्नि, शिष्य, मृग और पक्षियों के विषय में कुशलप्रश्न पूँछा ॥ ८ ॥

^१ अबुध्यतेति वसिष्ठसाहचर्यादितिभावः । (गो०) २ कुले—गृहे ।

तथेति तत्प्रतिज्ञाय भरद्वाजो महातपाः ।

भरतं प्रत्युवाचेदं राघवस्नेहवन्धनात् ॥ ९ ॥

तब महातपस्वी भरद्वाज ने अपना सब का कुशल मङ्गल वृत्तान्त बतला, श्रीरामचन्द्र जी के स्नेह के कारण (न कि भरत जी के दोष दिखाने के उद्देश्य से) भरत जी से कहा ॥ ६ ॥

किमिहागमने कार्यं तव राज्यं प्रशासतः ।

एतदाचक्ष्व मे सर्वं न हि मे शुध्यते^१ मनः ॥ १० ॥

हे राजकुमार ! तुम तो राज्य का शासन कर रहे हो । फिर यहाँ आने की तुम्हें क्या आवश्यकता आ पड़ी । यह सब मुझसे कहो । क्योंकि इस सम्बन्ध में मुझे विश्वास नहीं होता ॥ १० ॥

सुषुवे यममित्रवृं कौशल्या *नन्दवर्धनम् ।

भ्रात्रा सह सभार्यो यश्चिरं प्रवाजितो वनम् ॥ ११ ॥

नियुक्तः स्त्रीनियुक्तेन पित्रा योऽसौ महायशाः ।

वनवासी भवेतीह समाः किल चतुर्दश ॥ १२ ॥

कच्चिन्न तस्यापापस्य पापं कर्तुमिहेच्छसि ।

अकण्टकं भोक्तुमना राज्यं तस्यानुजस्य च ॥ १३ ॥

महायशस्वी कौशल्या के आनन्द बढ़ाने वाले जिस श्रीराम को, स्त्री के कहने से, महाराज दशरथ ने भार्या सहित चौदह वर्ष के लिये वनवास दिया, उस निर्दोष राजकुमार के बारे में और उसके क्लोने भाई के विषय में, निष्कण्टक राज्य भोग की

^१ न शुध्यते—शुद्धि न प्राप्नोति । नविश्वसीतियावत् । (गो०)

* पाठान्तरे—“नन्दवर्धनम् ” ।

इच्छा से, क्या आप उन दोनों का कुछ अनभल तो करना नहीं चाहते ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

एवमुक्तो भरद्वाजं भरतः प्रत्युवाच ह ।

पर्यश्रुनयनो दुःखाद्वाचा संसज्जमानया^१ ॥ १४ ॥

भरद्वाज जी के ऐसा कहने पर, भरत जी ने दुःखी होने के कारण आँखों में आँख भर और गदूगद कण्ठ हो कहा ॥ १४ ॥

१ हतोऽस्मि यदि मामेवं भगवानपि^२ मन्यते ।

मत्तो न देशमाशङ्के नैवं मामनुशाधि हि ॥ १५ ॥

हे भगवन् ! सब कुछ जान कर भी (भूत भविष्य वर्तमान के ज्ञाता हो कर भी) यदि आप ऐसा समझ रहे हैं, तो मेरा जीना चाहा है । मेरा तो इस उपस्थित विपत्ति से कुछ भी लगाव नहीं है । मेरे मन में तो इसको कभी कल्पना भी नहीं थी । अतः आप मुझसे ऐसा कठोर वचन न कहिये ॥ १५ ॥

न चैतदिष्टं माता मे यदवोचन्मदन्तरे ।

नाहमेतेन तुष्टुश्च न तद्वचनमाददेः^३ ॥ १६ ॥

मेरी माता ने भी जो मेरे बारे में महाराज से कहा, वह भी न तो मेरा इष्ट था और न मैं उससे सन्तुष्ट हूँ और न उसका कहना मुझे स्वीकार ही है ॥ १६ ॥

अहं तु तं नरव्याघ्रमुषयातः प्रसादकः ।

प्रतिनेतुमयोध्यां च पादौ तस्याभिवन्दितुम् ॥ १७ ॥

१ संसज्जमानया—सखलन्त्या । (गो०) २ हतोस्मि—व्यर्थजन्मालिम ।

३ भगवानपि—भूतभविष्यद्वर्तमानज्ञोपीत्यर्थः । ४ नाददे—नाङ्गीकृतवानस्मि । (गो०)

मैं तो उस पुरुषसिंह को प्रसन्न कर अयोध्या में लौटा लाने तथा उसको प्रणाम करने की जा रहा हूँ ॥ १७ ॥

त्वं मामेवं गतं मत्वा प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

शंस मे भगवन्नरामः क सम्प्रति महीपतिः ॥ १८ ॥

हे भगवन् ! मेरा इस प्रकार का मनोभिप्राय जान कर, आप मुझ पर प्रसन्न हो और मुझे बतावें कि, वे पृथ्वीनाथ श्रीरामचन्द्र जी इस समय कहाँ हैं ? ॥ १९ ॥

वसिष्ठादिभिर्कृत्विभिर्याचितो भगवांस्ततः ।

उवाच तं भरद्वाजः प्रसादाद्वरतं वचः ॥ १९ ॥

तदनन्तर वशिष्ठादि ऋत्विजों ने भी भरद्वाज से श्रीरामचन्द्र जी का पता बतलाने की प्रार्थना की, तब भगवान् भरद्वाज जी भरत की बातों से प्रसन्न हो बोले ॥ २० ॥

त्वय्येतत्पुरुषव्याघ्र युक्तं राघववंशजे ।

१ गुरुवृत्तिर्दमश्वैर॒ साधूनां चानुयायिताः३ ॥ २० ॥

हे पुरुषसिंह ! तुम्हारा जन्म सुप्रसिद्ध रघुकुल में हुआ है । अतः बड़ों के कहने में चलना, इन्द्रियों का निग्रह और साधुजनों का अनुगामी होना । ये तीनों बातें तुम में होनी ही चाहिये ॥ २० ॥

जाने चैतन्मनःस्थं ते हृषीकरणमस्त्वति ।

अपृच्छं त्वां तथात्यर्थं कीर्तिं समभिवर्धयन् ॥ २१ ॥

१ गुरुवृत्तिः—ज्येष्ठानुवर्तनं (गो०) २ दम—इन्द्रियनिग्रहः । (गो०)

३ साधूनांचानुयायिता—सच्चित्तानुवर्तनं । (गो०)

यद्यपि योगद्वारा मैं जानता था कि, तुम्हारा ऐसा मनोगत भाव है, तथापि लोगों के सामने प्रकट होने पर वह और भी अधिक दृढ़ हो जाय और इसके द्वारा तुम्हारी कीर्ति दिग्नतव्यापिनी हो, इस अभिप्राय से मैंने तुमसे वैसा प्रश्न किया था ॥ २१ ॥

जाने च राम^१ धर्मज्ञं ससीतं सहलक्ष्मणम् ।

असौ वसति ते भ्राता चित्रकूटे महागिरौ ॥ २२ ॥

सीता और लक्ष्मण सहित धर्म के जानने वाले श्रीरामचन्द्र, जहाँ रहते हैं, मुझे मालूम है। वे इस समय चित्रकूट नामक महापर्वत पर वास करते हैं ॥ २२ ॥

श्वस्तु गन्तासि तं देशं वसाद्य सह मन्त्रिभिः ।

एतं मे कुरु सुप्राज्ञ कामं^२ कामार्थकोविद^३ ॥ २३ ॥

हे इष्टप्रद कोविद ! आप कल वहाँ जाना । आज मंत्रियों के सहित यहाँ ठहरिये । आपको मेरी यह बात अवश्य माननी होगी ॥ २३ ॥

ततस्तथेत्येवमुदारदर्शनः

प्रतीतरूपौ भरतोऽब्रवीद्ब्रचः ।

चकार बुद्धिं च तदा तदाश्रमे

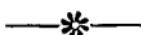
निशानिवासाय नराधिपात्मजः ॥ २४ ॥

इति नवतितमः सर्गः ॥

१ रामजाने—देशविशेषेस्थितंरामंजानमित्यर्थः । (गो०) २ कामं—अभीष्टं । (गो०) ३ कामार्थकोविदः—काँक्षितार्थप्रदानदक्षेत्यर्थः । (गो०) ४ प्रतीतिरूपः—प्रसिद्धकीर्तिः । (गो०)

जब भरद्वाज ने इस प्रकार कहा तब उदारदर्शन एवं प्रसिद्ध कीर्ति वाले राजकुमार भरत जी ने ऋषि का कहना मान रात भर ऋषि के आश्रम में रहने का विचार प्रकट किया ॥ २४ ॥

अथोध्याकाण्ड का नव्वेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



एकनवतितमः सर्गः

—०—

कृतबुद्धिं निवासाय तत्रैव स मुनिस्तदा ।

भरतं कैकयीपुत्रमातिथ्येन न्यमन्त्रयत् ॥ १ ॥

जब कैकयीनन्दन भरत ने वहाँ टिकना निश्चय कर लिया, तब भरद्वाज ने उनको आतिथ्य ग्रहण के लिये निमंत्रण दिया ॥ १ ॥

अब्रवीद्धरतस्त्वेनं नन्विदं भवता कृतम् ।

पाद्यमध्यं तथाऽतिथ्यं वने यदुपपद्यते ॥ २ ॥

तब भरत जी बोले—आप तो अर्ध्य, पाद्य तथा वन के फल मूलों से येरा यथोचित आतिथ्य कर ही चुके । मैं इससे सन्तुष्ट हूँ ॥ २ ॥

अथोवाच भरद्वाजो भरतं प्रहसन्निव ।

जाने त्वां प्रीतिसंयुक्तं तुष्येस्त्वं येनकेनचित् ॥ ३ ॥

यह सुन भरद्वाज ने मुसक्या कर कहा कि, यह तो मैं जानता हूँ कि, प्रीतिपूर्वक दी हुई किसी भी वस्तु से आप प्रसन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

सेनायास्तु तवैतस्याः कर्तुमिच्छामि भोजनम् ।
मम प्रीतिर्यथारूपा त्वमर्ह मनुजाधिप ॥ ४ ॥

किन्तु हे नरनाथ ! मैं तो आपकी समस्त सेना की पहुँचाई करना चाहता हूँ । अतः मुझे जिससे सन्तोष हो, आपको वह करना उचित है ॥ ४ ॥

किमर्थं चापि निक्षिप्य दूरे बलमिहागतः ।
कस्मान्नेहोपयातोऽसि सबलः पुरुषर्षभ ॥ ५ ॥

हे पुरुषप्रबर ! आप अपनी सेना को दूर ज्ञाइ, अकेले क्यों मेरे पास आये । सेना सहित मेरे आश्रम में न आने का क्या कारण है ? ॥ ५ ॥

भरतः प्रत्युवाचेदं प्राञ्जलिस्तं तपोधनम् ।
ससैन्यो नोपयातोऽस्मि भगवन्भगवद्यात् ॥ ६ ॥

यह सुन भरत जी ने हाथ ज्ञाइ कर भरद्वाज जी से कहा—हे भगवन् ! आप कहीं कुपित न हों—इसी भय से मैं सेना सहित नहीं आया ॥ ६ ॥

राजा च भगवन्नित्यं राजपुत्रेण वा सदा ।
यत्रतः परिहर्तव्या विषयेषु^१ तपस्विनाम्* ॥ ७ ॥

राजा हो ना राजपुत्र हो, उसे यही उचित है कि, अपने राज्य में वसने वाले ऋषियों के आश्रमों को यत्पूर्वक ज्ञाइ दे अर्थात् आश्रमों से दूर रहै ॥ ७ ॥

^१ विषयेषुतपस्विनां—स्वकीयदेशेषुवर्तमानाकृष्यः । (गो०)

* पाठान्तरे—“ तपस्विनः ” ।

वाजिमुख्या मनुष्याश्च मत्ताश्च वरवारणाः ।

प्रच्छाद्य भगवन्भूमि महतीमनुयान्ति माम् ॥ ८ ॥

हे भगवन् ! मेरे साथ बड़े बड़े धोड़े बहुत से मनुष्य और मतवाले हाथी हैं, जिनके टिकने के लिये बहुत सी जगह अपेक्षित होती है ॥ ८ ॥

ते वृक्षानुदकं भूमिमाश्रमेषु^१टजांस्तथा ।

न हिंस्युरिति तेनाहमेकएव समागतः ॥ ९ ॥

वे आश्रम के वृक्षों का तालाब अथवा कुएँ के जल को, आश्रम भूमि को और पर्णशाला को कहीं नष्ट न कर डालें, यह विचार कर मैं यहाँ अकेला ही आया हूँ ॥ ९ ॥

आनीयतामितः सेनेत्याङ्गसः परमर्षिणा ।

ततस्तु चक्रे भरतः सेनायाः समुपागमम् ॥ १० ॥

तब महर्षि भरद्वाज जी ने कहा—आप अपनी सेना को यहीं बुला लीजिये । महर्षि की आङ्गा पा कर, भरत जी ने अपनी सेना वहीं बुलवा ली ॥ १० ॥

अग्निशालां प्रविश्याथ ३पीत्वाऽपः परिमृज्य^२ च ।

आतिथ्यस्य क्रियाहेतोर्विश्वकर्मणमाहयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर भरद्वाज जी ने अग्निशाला में जा तीन बार आचमन किया और यथाविधि मार्जन कर (जल को मंत्र पढ़ते हुए शरीर पर छिड़का) भरत जी की पहुँचाई करने के लिये विश्वकर्मा का आवाहन किया ॥ ११ ॥

^१ उटजान्—पर्णशालाः । (गो०) ^२ अपःपीत्वा त्रिरितिशेषः । (गो०) “त्रिराचामेत् ” इतिश्रुतेः । (गो०) ^३ परिमृज्य—यथाविधि मार्जनं कृत्वा । (शि०)

आहये विश्वकर्माणमहं^१ त्वष्टारमेव^२ च ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १२ ॥

(आवाहन करते समय) वे कहने लगे कि, मैं भरत का आतिथ्य करने के लिये विश्वकर्मा और त्वष्टा का आवाहन करता हूँ । अतः वे आ कर सेना आदि के लिये घर आदि बनावें ॥ १२ ॥

आहये लोकपालास्त्रीन्देवाऽशक्तमुखांस्तथा ।

आतिथ्यं कर्तुमिच्छामि तत्र मे संविधीयताम् ॥ १३ ॥

मैं भरत की पहुनाई करना चाहता हूँ । अतः मैं तीनों लोकपाल यम, वरुण तथा कुबेर एवं इन्द्रादि देवताओं का आवाहन करता हूँ । वे आ कर पहुनाई की तैयारी करें ॥ १३ ॥

प्राकस्रोतसश्च या नद्यः प्रत्यक्ष्रोतस एव च ।

पृथिव्यामन्तरिक्षे च समायान्त्वद्य सर्वशः ॥ १४ ॥

पृथिवी और आकाश में पूर्व से पश्चिम की और पश्चिम से पूर्व को बहने वाली ज्ञा नदियाँ हैं, वे सब आज यहाँ आते हैं ॥ १४ ॥

अन्याः स्वन्तु मैरेयं सुरामन्याः सुनिष्ठिताम् ।

अपराश्रोदकं शीतमिक्षुकाण्डरसोपमम् ॥ १५ ॥

वे नदियाँ आ कर कोई तो मैरेय नाम की शराब, कोई सुरा नाम की उत्तम शराब और कोई शीतल और ऊख के रस जैसे मीठे जल को यहाँ वहाँ कर प्रकट करें ॥ १५ ॥

^१ विश्वकर्मा—सर्वशिल्पकर्ता । (गो०) ^२ त्वष्टातु तक्षणेनगृहादि निर्माता । (गो०) ^३ त्री॑लोकपालान्—यमवरुणकुबेरान् । (गो०)

आहये १देवगन्धर्वान्विश्वावसुहहाहुहून् ।

तथैवाप्सरसो २देवीर्गन्धर्वीश्वापि३ सर्वशः ॥ १६ ॥

मैं विश्वावसु, हाहा, हूह नामक देवगन्धर्वों को और देव जाति में उत्पन्न गन्धर्वियों को तथा सब अप्सराओं का भी आवाहन करता हूँ ॥ १६ ॥

घृताचीमथ विश्वाचीं मिश्रकेशीमलम्बुसाम् ।

नागदन्तां च हेमां च हिमामद्रिकृतस्थलाम् ॥ १७ ॥

इनके अतिरिक्त घृताची, विश्वाची, मिश्रकेशी, अलंबुसा, नागदन्ता, हेमा, और हिमालयवासिनी (सेमा) ॥ १७ ॥

शक्रं याश्चोपतिष्ठन्ति ब्रह्माणं याश्च योषितः ।

सर्वास्तुम्बुरुणा सार्धमाहये सपरिच्छदाः ॥ १८ ॥

और इन्द्र की सभा तथा ब्रह्मा की सभा में नाचने वाली सब अप्सराओं को, अच्छे वस्त्र धारण किये इए तुम्बुरु के साथ, मैं आवाहन करता हूँ ॥ १८ ॥

वनं कुरुषु यदिव्यं वासोभूषणपत्रवत् ।

दिव्यनारीफलं शशवत्तकोवेरमिहैतु च ॥ १९ ॥

कुवेर का चैत्ररथ नामक, उत्तरकुरु वाला दिव्य वन, जिसके बृक्षों के पत्ते, दिव्य वस्त्र और दिव्यनारी रूप हैं, यहाँ प्रकट हों ॥ १९ ॥

१ देवगन्धर्वान्—मनुष्यगन्धर्वभिक्षान् । (गो०) २ देवीः—देवजातीः ।

(गो०) ३ गन्धर्वाः—गन्धर्वजातीः ।

इह मे भगवान्सोमो विधत्तामन्नमुत्तमम् ।

भक्ष्यं भोज्यं च चोष्यं च लेह्यं च विविधं वहु ॥२०॥

इनके अतिरिक्त विविध भाँति के और वहुत से भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्यादि अन्न, भगवान् चन्द्रदेव यहाँ आ कर उत्पन्न करें ॥ २० ॥

विचित्राणि च माल्यानि पादप्रच्युतानिः च ।

सुरादीनि च पेयानि मांसानि विविधानि च ॥ २१ ॥

(वं) ताजे फूलों की चित्र विचित्र पुष्प मालाएँ, सुरा आदि पीने के पदार्थों को और तरह तरह के मांसों को शीघ्र ही प्रस्तुत करें ॥ २१ ॥

एवं समाधिनारै युक्तस्तेजसाऽप्रतिमेन च ।

शीक्षास्वरसमायुक्तं तपसा चाब्रवीन्मुनिः ॥ २२ ॥

इस प्रकार अनुपम शापानुग्रह समर्थ भरद्वाज मुनि ने योगवल से और ज्ञानवल से उपयुक्त स्वर और यथाविधि वर्णोद्घारणपूर्वक सब का आवाहन किया ॥ २२ ॥

३८ मनसा ध्यायतस्तस्य प्राङ्मुखस्य कृताञ्जलेः ॥ १ ।

आजग्मुस्तानि सर्वाणि दैवतानि पृथक्पृथक् ॥ २३ ॥

१ पादप्रच्युतानि — नवानीति भावः (गो०) २ समाधिना — योगेन ।
 (गो०) ३ तेजसा — अनागमेदण्डनसामर्थ्येच युक्तेन । (गो०) ४ तपसा —
 ज्ञानेन । (गो०) ५ मनसा — अनन्य परेणत्यर्थः । (गो०) ६ ध्यायतः —
 निरन्तरविन्तयतः । (गो०) ७ कृताञ्जले — आद्वानमुद्रोक्ताः । (गो०)

भरद्वाज जी के पूर्व की ओर मुख कर बैठ कर आवाहन मुद्रा से, पकाग्रमन हो और कुछ काल तक निरन्तर चिन्तवन करते ही, वे सब देवता पक एक कर भरद्वाज जी के सामने आ उपस्थित हुए ॥२३॥

मलयं दर्दुरं चैव ततः स्वेदनुदोषनिलः ।

उपस्पृश्य वर्वा युक्त्या सुप्रियात्मा सुखः शिवः ॥ २४॥

इस समय मलय और दर्दुर पवतों को स्पर्श करता हुआ सुखद पवन, शीतल मंद और सुगन्धयुक्त हो, गरमी को नाश करता हुआ छलने लगा ॥२४॥

ततोऽभ्यवर्तेन्त घना दिव्याः कुसुमवृष्टयः ।

दिव्यन्दुदुभिघोषश्च दिक्षु सर्वासु शुश्रवे ॥ २५ ॥

दिव्य मेघों ने पुष्पों की वर्षा की देवताओं के नगाङों का शब्द सब दिशाओं में सुनाई पड़ने लगा ॥ २५ ॥

प्रवर्वशोत्तमा वाता नन्तुश्राप्सरोगणाः ।

प्रजगुदवगन्धवर्वा वीणाः प्रमुमुचुः स्वरान् ॥ २६ ॥

सुखद समीर के झोके आज्ञे लगे। अप्सराएँ नाचने लगी देव गन्धवां का गाना और वीणाओं की झटकार सुनाई पड़ने लगा ॥ २६ ॥

स शब्देष यां च भूमि च प्राणिनां श्रवणानि च ।

विवेशोच्चारितः श्लक्षणः समा लयगुणान्वितः ॥ २७ ॥

इस प्रकार से मधुर, सम, और लय युक्त शब्द से आकाश, भूमि और प्राणियों के कान पूर्ण हो गये ॥ २७ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे दिव्ये श्रोत्रसुखे नृणाम् ।

ददर्श भारतं सैन्यं विधानं विश्वकर्मणः ॥ २८ ॥

सुनने में मधुर ये शब्द हो हो रहे थे कि, इतने में भरत की सेना विश्वकर्मा को कारीगरी देखने लगी ॥ २८ ॥

बभूव हि समा भूमिः समन्तात्पञ्चयोजना ।

शाद्वलैर्बहुभिश्छन्ना नीलवैदूर्यसन्निभैः ॥ २९ ॥

उन्होंने देखा कि, वहाँ की भूमि चारों ओर पाँच योजन तक वरावर एकसी और नील वैदूर्य मणि को तरह चमकीली हरी हरी दूध से ढकी हुई है ॥ २९ ॥

तस्मिन्विल्वाः कपित्थाश्च पनसा वीजपूरकाः ।

आमलक्यो वभूश्च चूताश्च फलभूषणाः ॥ ३० ॥

और जगह जगह बेल, कैथा, कटहर, विजौरा, आमला और आम के बृक्ष फलों से लदे हुए सुशोभित हैं ॥ ३० ॥

उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्च वनं दिव्योपभोगवत् ।

आजगाम नदी दिव्या तीरजैर्बहुभिर्वृता ॥ ३१ ॥

स्वर्गस्थ लोगों के उपभोग के योग्य, उत्तर कुरुदेश से, वहाँ एक वन भी उपस्थित हो गया। एक दिव्य नदी भी वहाँ बहने लगी। इस नदी के उभय तटों पर बहुत से बृक्ष लगे हुए थे ॥ ३१ ॥

चतुःशालानि शुभ्राणि शालाश्च गजवाजिनाम् ।

हर्म्यप्रासादसम्बाधास्तोरणानि शुभानि च ॥ ३२ ॥

वहाँ पर अनेक सुन्दर श्वेतवर्ण घर, हस्तशालाएँ और अश्व शालाएँ बनी हुई देख पड़ने लगीं। महल और अटारियों से युक्त मङ्गल रूपी मनोहर तोरण देख पड़ने लगे ॥ ३२ ॥

सितमेघनिर्भं चापि राजवेशम् सुतोरणम् ।

दिव्यमाल्यकुताकारं दिव्यगन्धसमुक्षितम् ॥ ३३ ॥

सफेद बादल जैसी सफेद वंदनवारों से भूषित, सफेद पुष्पों की माला से सुशोभित, सुवासित जल से छिड़िके हुए अनेक राजभवन वहाँ देख पड़ने लगे ॥ ३३ ॥

३चतुरश्रमसम्बाधं॑ शयनासनयानवत् ।

दिव्यैः सर्वरसैर्युक्तं॒ दिव्यभोजनवस्त्रवत्॑ ॥ ३४ ॥

इन भवनों में चौकोन और सोने, बैठने तथा पालकी आदि रखने के लिये (अलग अलग) विशाल कमरे बने हुए थे। कितने ही कमरों में शर्करा आदि रस, उत्तम मिहीन चाँबल आदि अम्ब और मिहीन कपड़े भरे हुए थे ॥ ३४ ॥

४उपकल्पितसर्वान्नं॑ धौतनिर्मलभाजनम् ।

क्लृप्तसर्वासनं॑ श्रीमत्स्वास्तीर्णशयनोत्तमम् ॥ ३५ ॥

उन कमरों में पूड़ी, पुआ, कचौड़ी आदि नाना प्रकार के व्यञ्जन तथा मंजे खुले साफ बरतन रखे हुए थे। यथात्यान पूजन एवं

१ समुक्षितं—सिक्क । (गो०) २ चतुरश्र—चतुष्कोणं । (गो०)

३ असम्बाधं—विशालं । (गो०) ४ दिव्यभोजनानि—सूक्ष्मशाल्यन्वादीनि । (गो०) ५ दिव्य वस्त्राणि—सूक्ष्मवस्त्राणि । (गो०) ६ उपकल्पितानि—

सर्वान्नानि नानाविधा पूपादीनियस्त्रिमिस्त्रत् । (गो०)

करने के लिये आसन बिछे हुए थे । सुन्दर सेजों पर साफ सुथरे एवं कोमल विस्तरे बिछे हुए थे ॥ ३५ ॥

प्रविवेश महावाहुरनुज्ञातो महर्षिणा ।

वेश्म तद्रवसम्पूर्णं भरतः केकयीसुतः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार के बने हुए और उत्तम सामग्री से भरे पूरे घर में, कैकेयीनन्दन महावाहु भरत जी ने, महर्षि भरद्वाज की आज्ञा पा कर प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

अनुजग्मुश्च तं सर्वे मन्त्रिणः सपुरोहिताः ।

वभूवुश्च मुदा युक्ता दृष्टा तं वेश्मसंविधिम् ॥३७॥

भरत जी के पीछे मंत्री तथा पुरोहित उस भवन में जा और उसकी बनावट और सजावट देख, आनन्द में मग्न हो गये ॥ ३७ ॥

तत्र राजासनं दिव्यं व्यजनं छत्रमेव च ।

भरतो मन्त्रिभिः सार्धमभ्यवर्तते राजवत् ॥ ३८ ॥

उस घर में राजाओं के बैठने योग्य एक राजसिंहासन था, जिसके समीप दास लोग छत्र और चमर लिये खड़े थे । मंत्रियों सहित भरत जी ने उस सिंहासन को प्रदक्षिणा की ॥ ३८ ॥

आसनं पूजयामास रामायाभिप्रणम्य च ।

वालव्यजनमादाय न्यषीदत्सचिवासने ॥ ३९ ॥

(उस राजसिंहासन पर मानों श्रीरामचन्द्र जी विराजमान हैं, इस कारण से) भरत जी ने उस राजसिंहासन को प्रणाम कर उसका पूजन किया । तदनन्तर एक छोटा पद्म हाथ में ले भरत जी

१ अभ्यवर्तते—प्रदक्षिणं कृतवान् । (गो०)

राजसिंहासन के नीचे मंत्री के बैठने योग्य एक आसन पर बैठ गये ॥ ३६ ॥

आनुपूर्व्यान्निषेदुश्च सर्वे मन्त्रिपुरोहिताः ।

ततः सेनापतिः^१ पश्चात्पश्चास्ता^२ च निषेदतुः ॥ ४० ॥

उनके बैठते ही मंत्री, पुरोहित, सेनापति और शिविर-नियन्ता (द्रावनी का शासक अर्थात् कैटोर्मेट मेजिस्ट्रेट) ये सब भी यथाक्रम अपने अपने स्थानों पर बैठ गये ॥ ४० ॥

ततस्तत्र मुहूर्तेन नद्यः पायसकर्दमाः ।

उपातिष्ठन्त भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४१ ॥

सब लोगों के बैठ चुकने के थोड़ी ही देर बाद भरद्वाज मुनि की आङ्गा से गाढ़ी गाढ़ी खीर की नदियाँ वहाँ बहने लगीं ॥ ४१ ॥

तासामुभयतःकूलं पाण्डुमृत्तिकलेपनाः ।

रम्याश्वावसथा दिव्या ब्रह्मणस्तु प्रसादजाः ॥ ४२ ॥

भरद्वाज के अनुग्रह से, उन नदियों के दोनों तटों पर, अनेक रमणीय एवं अच्छे सफेद चूने से पुते घर देख पड़ने लगे ॥ ४२ ॥

तैनेव च मुहूर्तेन दिव्याभरणभूषिताः ।

आगुर्विंशतिसाहस्राः कुवेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४३ ॥

उसी समय चतुर्मुख ब्रह्मा की भेजी हुई बद्धिया बद्धिया कपड़े और गहनों से सजी हुई बोस हज़ार स्त्रियाँ वहाँ आयीं ॥ ४३ ॥

^१ सेनापतिः—दण्ड-नायकः । (गो०) ^२ प्रशास्ता—शिविरनियन्ता ।

(गो०) ^३ मुहूर्तेन—अल्पकालेन । (गो०)

सुवण्मणि मुक्तेन प्रवालेन च शोभिताः ।

आगुर्विंशतिसाहस्राः कुबेरप्रहिताः स्त्रियः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर बोस ही हज़ार स्त्रियाँ, जो सुवर्ण, मणि, मुक्ता और
मूर्गों से अपने शरीर को सजाये हुए थीं, और जिन्हें कुबेर ने मेजा
था, वहाँ आयीं ॥ ४४ ॥

याभिर्घीतः^१ पुरुषः सोन्माद इव लक्ष्यते ।

आगुर्विंशतिसाहस्रा नन्दनादप्सरोगणाः ॥ ४५ ॥

नन्दनवन से आयी हुईं बीस हज़ार अप्सराएँ ऐसी सुन्दरी
थीं कि, जिस पुरुष को वे आलिङ्गन करतीं, वह पुरुष पागल सा
देख पड़ने लगता था ॥ ४५ ॥

नारदस्तु म्बुरुर्गोपप्रवराः सूर्यवर्चसः ।

एते गन्धर्वराजानो भरतस्याग्रतो जगुः ॥ ४६ ॥

नारद, तु म्बुरु और गोप ये सब जो सूर्य के तुल्य तेजस्वी हैं
और गन्धर्वराज कहताते हैं, भरत के सामने जा गाने लगे ॥ ४६ ॥

अलम्बुसा मिश्रकेशी पुण्डरीकाथ वामना ।

उपानृत्यंस्तु भरतं भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥

भरद्वाज जी की आङ्गा से अलम्बुसा, मिश्रकेशी, पुण्डरीका और
वामना नाम की अप्सराएँ, भरत के आगे जा कर नाचने
लगीं ॥ ४७ ॥

यानि मल्यानि देवेषु यानि चैत्ररथे वने ।

प्रयागे तान्यदृश्यन्त भरद्वाजस्य तेजसाऽै ॥ ४८ ॥

१ गृहीतः—आलिङ्गतः । (गो०) २ तेजसा—प्रभावेन । (गो०)

जो फूल देवताओं के बगीचों में और चैत्ररथ नामक वन में
फूलते हैं, वे सब महर्षि भरद्वाज के प्रभाव से प्रयाग में देख पड़ते
थे ॥ ४८ ॥

विल्वा मार्दङ्गिका आसन्कांस्यग्राहाः* विभीतकाः ।

अश्वत्था नर्तकाश्चासन्भरद्वाजस्य शासनात् ॥ ४९ ॥

महर्षि भरद्वाज के तपेवल से बेल के पेड़ों ने पखावज्जियों का,
बहेड़े के पेड़ों ने मजीरा बजाने वालों का और पीपल के बृक्षों ने
नाचने वालों का रूप धरा ॥ ४९ ॥

ततः १सरलतालाश्च तिलका नक्तमालकाः^२ ।

प्रहृष्टास्तत्र सम्पेतुः कुञ्जा भूत्वाऽथ वामनाः ॥ ५० ॥

इनके अतिरिक्त देवदारु, ताल, त्तुरक, करंज के पेड़ हर्षित हो,
कुबड़े और बौने का रूप धर वहाँ उपस्थित हुए ॥ ५० ॥

शिंशुपामलकीजम्बवो याश्चान्याः काननेषु ताः ।

मालती मल्लिका जातिर्याश्चान्याः कानने लताः ॥ ५१ ॥

शीशम, श्रीवला, जामुन के पेड़ तथा वन की मालती, मल्लिका
आदि लताएँ, ॥ ५१ ॥

प्रमदाविग्रहं कृत्वा भरद्वाजाश्रमेऽवसन्तं ।

सुराः सुरापाः पिवत पायसं च बुमुक्षिताः ॥ ५२ ॥

खियों का रूप धर भरद्वाज के आश्रम में जा बसों और पुकार
पुकार कर लोगों से कहने लगों, हे मद्य पीने वालो ! तुम मदिरा
पिंछो ! हे भूख के सताये लोगो ! तुम खीर खाओ ॥ ५२ ॥

१ सरलाः—देवदारविशेषाः । (गो०) * पाठान्तरे—“आसन्क-
स्यग्राहां । ” † पाठान्तरे—“इवदन्” ।

मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यावदिच्छथ ।

उच्छाद्य स्नापयन्ति स्म नदीतीरेषु वलगुषु ॥ ५३ ॥

अप्येकमेकं पुरुषं प्रमदाः सप्त चाष्ट च ।

संवाहन्त्यः समापेतुर्नार्यो रुचिरलोचनाः ॥ ५४ ॥

सुन्दर और खाने योग्य मांस जितनी जिसकी इच्छा हो उतना
खाओ । एक एक पुरुष को सात सात आठ आठ स्त्रियाँ मिल कर
तेल की मालिश कर मनोहर नदियों के तट पर स्नान करातीं
और अनेक बड़े बड़े नेत्र वाली स्त्रियाँ पुरुषों के शरीरों को मलती
थीं ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

परिमृज्य तथान्योन्यं पाययन्ति वराङ्गनाः ।

हयान्गजान्खरानुष्ट्रांस्तथैव सुरभेः¹ सुतान् ॥ ५५ ॥

जब वे स्नान कर चुकते, तब कितनी ही सुन्दर स्त्रियाँ मिल
कर उनके गीले शरीर को पोंछती थीं और उनको अमृत तुल्य
शरबत पिलाती थीं । घोड़ों, हाथियों, खिचरों, ऊँटों और बैलों
को ॥ ५५ ॥

अभोजयन्वाहनपास्तेषां भोज्यं यथाविधि ।

इक्षूश्च मधुलाजांश्च भोजयन्ति स्म बाहनान् ॥ ५६ ॥

इक्ष्वाकुवरयोधानां चोदयन्तो महाबलाः ।

नाश्ववन्धोऽश्वमाजानान् गजं कुञ्जरग्रहः ॥ ५७ ॥

उनके रखवाले दाना चारा यथाविधि खिला रहे थे । इनमें
इक्ष्वाकुवंशीय प्रधान योद्धाओं की सवारी के जो पशु थे, उनके

¹ सुरभेः सुतान् — वृषभान् । (गो०)

महावली मालिकों ने ऊँख की गड़ेरियाँ और मीठी खीलें उनके खाने के लिये भेजी थीं, जो उनको खिलायी जा रही थीं। सईस व चरकट अपने अपने घोड़ों और हाथियों को पहचान तक न सके ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

मत्तप्रमत्तमुदिता चमूः सा तत्र संम्बभौ ।

तर्पिताः सर्वकामैस्ते रक्तचन्दनरूपिताः ॥ ५८ ॥

क्योंकि उस समय वह सेना नशा पी कर मतवाली हो आनन्द में मग्न हो रही थी। सब लोग इच्छानुसार तृप्ति लाभ कर लाल चन्दन शरीर में लगाये ॥ ५८ ॥

अप्सरोगणसंयुक्ताः सैन्या वाचमुदैरयन् ।

नैवायोध्यां गमिष्यामो न गमिष्याम दण्डकान् ॥ ५९ ॥

और अप्सराओं से रमण कर मतवालों जैसी बातें कहने लगे। वे कहते अब हम न तो यहाँ से अयोध्या हो जायगे और न दण्डक-वन ही जायगे ॥ ५९ ॥

कुशलं भरतस्यास्तु रामस्यास्तु तथा सुखम् ।

इति पादातयोधाश्य हस्त्यश्वारोहवन्धकाः ॥ ६० ॥

भरत जी भी मौज करें और श्रीरामचन्द्र जी भी सुखपूर्वक वन में रहें। पैदल सैनिक, चरकट और सईस ॥ ६० ॥

अनाथास्तं^१ विधिं^२ लब्ध्वा वाचमेतामुदैरयन् ।

संम्प्रहृष्टा विनेदुस्ते^३ नरास्तत्र सहस्रशः ॥ ६१ ॥

१ अनाथाः—स्वतंत्रा इति । (गो०) २ तंविधिं—सत्कारं । (गो०)

३ विनेदुः—जगर्जुः । (गो०)

भरतस्यानुयातारः स्वर्गोऽयमिति चाब्रुवन् ।

नृत्यन्ति स्म हसन्ति स्म गायन्ति स्म च सैनिकाः ॥६२॥

इस प्रकार की पहुँच है से, स्वतंत्र हो, ऊँटपटांग बकने लगे । भरत जी की सेना के हज़ारों आदमी अतिशय हर्षित हो यह कह कर गर्ज रहे थे कि, बस—यही स्वर्ग है । सैनिकों में कोई कोई तो नाच रहे थे, कोई गा रहे थे और कोई हँस ही रहे थे ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

समन्तात्परिधावन्ति माल्योपेताः सहस्रशः ।

ततो भुक्तवतां तेषां तदन्नममृतोपमम् ॥ ६३ ॥

हज़ारों सैनिक गले में मालाएँ पहिने हुए, इधर उधर दौड़ रहे थे । यद्यपि अमृत समान स्वादिष्ट भोजन कर वे लोग तृप्त हो गये थे ॥ ६३ ॥

दिव्यानुद्वीक्ष्य भक्ष्यस्तानभवद्भक्षणे मतिः ।

प्रेष्याश्चैव्यश्च वद्वश्च वलस्थाश्च सहस्रशः ॥६४॥

तथापि उन दिव्य भोज्य पदार्थों को देख उनकी इच्छा पुनः भोजन करने की होती थी । उस सेना में जो सहस्रों दास दासी और सिपाहियों की दियाँ थीं ॥ ६४ ॥

वभूवुस्ते भृत्यं द्वासाः सर्वे चाहतवाससः ।

कुञ्जराश्च खरोष्ट्राश्च गोश्वाश्च मृगपक्षिणः ॥ ६५ ॥

वे सबको सब नये नये वस्त्र धारण कर अत्यन्त गर्वीली हो गयी थीं । हाथी, खच्चर, ऊँट, बैल, धोड़, मृग और पक्षी (सैनिक लोग अपने पालतू मृग पक्षी अपने साथ ले गये थे) ॥ ६५ ॥

१ प्रेष्याः—परिचारकाः । (गो०) २ चैव्योदात्यः । (गो०) ३ वधवा-योधाङ्गनाः । (गो०) ४ अहतवाससः—नूतनवच्चाः । (गो०)

बभूवुः १सुभृतास्तत्र नान्यो हन्यमकल्पयत् ।

नाशुक्लवासास्तत्रासीत्क्षुधितो मलिनोऽपि वा ॥६६॥

सब के सब मुनि के दिये हुए पदार्थों से अघाए हुए थे । किसी को अपनो आवश्यकता की कोई वस्तु स्वयं जुटानो न पड़ी । उस समय भरत की सेना में मैले कपड़े पहने अथवा भूखा अथवा मैला कुचैला ॥ ६६ ॥

रजसा ध्वस्तकेशो वा नरः कश्चिददृश्यत ।

आजैश्चापि च वाराहैर्निष्ठानवरसंचयैः ॥ ६७ ॥

अथवा धूलधूसरित केशों वाला एक भी आदमी नहीं देख पड़ता था । वहाँ बकरों और शूकरों के माँसों के तथा अन्य अच्छे अच्छे व्यञ्जनों के ढेरों से ॥ ६७ ॥

फलनिव्यूहसंसिद्धैः सूर्यैर्गन्धरसान्वितैः ।

पुष्पध्वजवतीः पूर्णाः शुक्लस्यान्नस्य चाभितः ॥६८॥

ददशुर्विस्मितास्तत्र नरा लौहीः सहस्रशः ।

बभूवुर्वनपाश्वेषु कूपाः पायसकर्दमाः ॥ ६९ ॥

जो फलों के रसों में बनाये गये थे ; हींग, लोंग, जीरा आदि सुगंधित मसालों से छोंकी हुई दालों से और अत्युत्तम प्रकार के भातों से भरी, सहस्रों ऐसी कढाइयों को, जिनमें शोभा के लिये फूलों की झंडियाँ लगायी गयी थीं—देख देख कर लोग चकित हो रहे थे । उस पांच योजन घेरे में जितने कुपँ थे, वे सब गाढ़ी गाढ़ी खीर से भरे हुए थे ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

१ सुभृताः—सुतृष्टाः । (गो०) २ निष्ठानवरसंचयैः—व्यञ्जनश्रेष्ठसमूहैः ।

ताश्च कामदुधा गावो द्रुपाश्चासन्मधुसुतः ।

वाप्यो मैरेयपूर्णश्च मृष्टमांसचयैर्वृत्ताः ॥ ७० ॥

प्रतसपिठरैश्चापि मार्गमायूरकौकुटैः ।

१ पात्रीणां च सहस्राणि स्थालीनां२ नियुतानि३ च ॥ ७१ ॥

जितनी गौवें थीं, वे कामधेनु के समान जो माँगो सो देती थीं । जितने वृक्ष थे, वे सब शहद चुश्चा रहे थे । कुण्ड या बावली मैरेय नाम की शराब से भरी हुई थीं । हिरन, मोर और मुर्गे के अच्छी तरह पकाये और साफ किये हुए मांस के ढेर लगे हुए थे । अब भरने के लिये हज़ारों बरतन थे और भोज्य पदार्थ रखने के लिये लाखों थाल थे ॥ ७० ॥ ७१ ॥

न्यर्बुदानि च पत्राणिॄ शातकुम्भमयानि च ।

स्थालयः कुम्भयः करम्भयश्च दधिपूर्णाः सुसंस्कृता ॥ ७२ ॥

दस करोड़ साने के थाल और कलसे थे तथा थाली, लुटिया दही रखने के कलई किये बरतन जिनमें दही भरा हुआ था, वहाँ मौजूद थे ॥ ७२ ॥

५ यौवनस्थस्य गौरस्य६ कपित्थस्यॉ सुगन्धिनः ।

हृदाः पूर्णाॄ रसालस्य दधनः श्वेतस्य चापरे ॥ ७३ ॥

बभूवुः पायसस्यान्ये शर्करायाश्च सञ्चयाः ।

कलकांश्चूर्णकषायाश्च स्नानानि विविधानि च ॥ ७४ ॥

१ पात्रीणां—अब धानकुम्भीनां । (गो०) २ स्थालीनां—व्यञ्जनपात्राणां ।

(गो०) ३ नियुतानि—लक्षाणि । ४ पात्राणि—भोजनपात्राणि । ५ यौवन-स्थस्य—नातिनूतनस्य नातिपुराणस्येत्यर्थः । (गो०) ६ गौरस्य—शुभ्रस्य । (गो०) ७ कपित्थस्य—तक्रस्य । (रा०)

बहुत से वरतनों में कुछ देर का तैयार किया हुआ सफेद (सादा) मट्टा भरा हुआ था, बहुतों में ज़ीरा लोंग सोंठ आदि सुगन्धित मसालों से युक्त मट्टा भरा हुआ था। वहाँ के अनेक कुण्डों में शिखरन, दही और दूध भरा हुआ था। चीनी की ढेरियाँ देख पड़ती थीं। स्नानोपयोगी विविध प्रकार के सूखे मसाले तथा मसालों के काथ, ॥ ७३ ॥ ७४ ॥

ददशुर्भाजनस्थानि तीर्थेषु सरितां नराः ।

'शुक्लानंशुमतैश्चापि दन्तधावनसञ्चयान् ॥ ७५ ॥

नदियों के घाटों पर वरतनों में भरे हुए लोगों ने देखे। (घाटों पर) साफ और कूचों बनी हुई दतोनों के ढेर लगे थे ॥ ७५ ॥

शुक्लांश्चन्दनकल्कांश्च १ समुद्रोष्ववतिष्ठतः ।

दर्पणान्परिमृष्टांश्च वाससां चापि सञ्चयान् ॥ ७६ ॥

घिसा हुआ सफेद चन्दन कटोरों में भरा हुआ रखा था। साफ दर्पणों और कपड़ों के ढेर लगे थे ॥ ७६ ॥

पादुकोपानहां चैव युग्मानि च सहस्रशः ।

२ आङ्गनीः ३ कङ्कतान्कूर्चाञ्जशस्त्राणि च धनूषि च ॥ ७७ ॥

खड़ाऊओं और ज़र्ता की हज़ारों जोड़ियाँ रखी थीं। सुरमादानियाँ, कंधे, ब्रुश, कंधे, धनुष ॥ ७७ ॥

१ शुक्लान—निमलान् । (गो०) २ अंशुमतः—कूर्चवतः । (गो०)

३ चन्दनकल्कान—चन्दनपङ्कान् । (गो०) ४ समुद्रेषु—संपुटकेषु ।

५ आङ्गनीः—अङ्गनयुक्ताःकरण्डकाः । (गो०) ६ कङ्कतान्—कङ्कमार्जनान् । (गो०)

१ मर्मत्राणानि चित्राणि शयनान्यासनानि च ।

प्रतिपानहृदान्पूर्णन्स्वरोष्टगजवाजिनाम् ॥ ७८ ॥

कवच तथा तरह तरह की बैंचे और स्टूल कुसियाँ यथास्थान सजा कर रखे हुए थे । खाये हुए धन्त्र को पचाने के लिये ओपधि रूपी जल से भरे हुए कुण्ड भी थे । गधे, ऊँट हाथी और घोड़े ॥ ७८ ॥

अवगाह्य सुतीर्थाश्च हृदान्सेत्पुष्करान् ।

आकाशवर्णप्रतिमान्स्वच्छतोयान्सुखपूवान् ॥ ७९ ॥

जहाँ सुख से उतर कर स्नान कर सकें अथवा जल पी सकें ऐसे घाटों वाले तथा फूले हुए कमल के फूलों से भरे आकाश की तरह निर्मल जल से पूर्ण अनेक तालाब भी थे ॥ ७९ ॥

नीलवैद्यर्यवर्णाश्च मृदून्यवससञ्चयान् ।

निर्वापार्थान्पशुनां ते दद्वशुस्तत्र सर्वशः ॥ ८० ॥

नील और वैद्यर्य मणियों के रंग जैसे रंग की कोमल घास की ढेरियाँ लगी थीं और जगह जगह पशुओं के विश्राम के लिये स्थान देख पड़ते थे ॥ ८० ॥

व्यस्मयन्त मनुष्यास्ते स्वप्नकल्पं तदद्भुतम् ।

दृष्टातिथ्यं कृतं ताह्गभरतस्य महर्षिणा ॥ ८१ ॥

महर्षि भरद्वाज जी ने भरत जी को पहुनाई के लिये जो ये सब स्वप्न सदृश चमत्कार पूर्ण तैयारियाँ की थीं, इनको देख देख, भरत के साथ वाले लोग विस्मित हो रहे थे ॥ ८१ ॥

१ मर्मत्राणानि—कवचादीनि । (गो०)

इत्येवं रमणानां देवानामिव नन्दने ।

भरद्वाजाश्रमे रम्ये सा रात्रिव्यत्यवर्तते ॥ ८२ ॥

नन्दनवन में विहार करते हुए देवताओं की तरह, रमणीय भरद्वाज के आश्रम में विहार करती हुई भरत की सेना ने वह रात बिताई ॥ ८२ ॥

प्रतिजग्मुश्च ता नद्यो गन्धर्वाश्च यथागतम् ।

भरद्वाजमनुज्ञाप्य ताश्च सर्वा वराङ्गनाः ॥ ८३ ॥

प्रातःकाल होते ही वे सब नदियाँ गन्धर्व और अप्सराएँ मुनि से विदा हो, अपने अपने स्थान को छली गयीं ॥ ८३ ॥

तथैव मत्ता मदिरोत्कटा नराः

तथैव दिव्यागुरुचन्दनोक्षिताः ।

तथैव दिव्या विविधाः स्त्रगुच्छमाः

पृथक्प्रकीर्णा मनुजैः प्रमर्दिताः ॥ ८४ ॥

इति एकनवतितमः सर्गः ॥

परन्तु भरत जी के अनुगामी वे सब मतवाले लोग वैसे ही गर्वीले और मदमत्त थे और उसी प्रकार शरीर में चन्दन लगाये हुए थे। तरह तरह की श्रेष्ठ और दिव्य पुष्पमालाएँ और पुष्प, जो इधर उधर बिखरे पड़े थे, लोगों के पैरों से कुचले जाने पर भी, पूर्ववत् ज्यों के त्यों देख पड़ते थे ॥ ८४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक्षानवेत्री सर्ग समाप्त हुआ ।

द्विनवतितमः सर्गः

—०—

ततस्तां रजनीं व्युष्य भरतः सपरिच्छदः ।

कृतातिथ्यो भरद्वाजं कामादभिजगाम^१ ह ॥ १ ॥

सपरिवार भरत जी, भरद्वाज जी की पहुनाई में वह रात बिता, सबेरा होते ही, श्रीरामदर्शन की कामना से, भरद्वाज जी के पास गये ॥ १ ॥

तमृषिः पुरुषव्याघ्रं प्राञ्जलिं प्रेक्ष्य चागतम् ।

हुताग्निहोत्रो भरतं भरद्वाजोऽभ्यभाषत ॥ २ ॥

पुरुषसिंह भरत का हाथ जोड़े अपने समीप खड़ा देख, अग्नि-होत्र पूरा कर, भरद्वाज जी ने भरत जी से कहा ॥ २ ॥

कच्चिदत्र सुखा रात्रिस्तवास्मद्विषये गता ।

समग्रस्ते जनः कच्चिदातिथ्ये शंस मेऽनघ ॥ ३ ॥

हे अनघ ! मेरे आश्रम में यह रात तुम्हारी सुख से तो कटी ? तुम्हारे साथ के सब लोग मेरे आनिध्य से भली भाँति सन्तुष्ट तो हुए ? ॥ ३ ॥

तमुवाचाञ्जलिं कृत्वा भरतोऽभिप्रणम्य च ।

आश्रमादभिनिष्क्रान्तमृषिमुत्तमतेजसम् ॥ ४ ॥

यह कहते हुए तेजस्वी महर्षि भरद्वाज जब आश्रम से बाहर आये, तब भरत जी ने हाथ जोड़ कर उनको प्रणाम किया और बोले ॥ ४ ॥

सुखोषितोऽस्मि भगवन्समग्रबलवाहनः ।

तर्पितः सर्वकामैश्च सामात्यो 'बलवत्त्वया ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! मैं सेना सहित इस आश्रम में सुख से रहा और हर प्रकार से आपने हम सब को अतिशय तृप्ति किया ॥ ५ ॥

अपेतक्लमसन्तापाः सुभिक्षाः सुप्रतिश्रयाः ।

अपि प्रेष्यानुपादाय सर्वे स्म सुसुखोषिताः ॥ ६ ॥

हम सब लोगों ने सुखपूर्वक रात बिताई । अच्छे अच्छे घरों में वास किया, बढ़िया बढ़िया स्वादिष्ट भोजन किये । रास्ते में जो कष्ट थकावट हुई थी, वह सब हमारी दूर हो गयी ॥ ६ ॥

आमन्त्रयेऽहं भगवन्कामं त्वामृषिसत्तम ।

समीपं प्रस्थितं भ्रातुर्मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा ॥ ७ ॥

हे ऋषिश्रेष्ठ ! अब मैं आपसे विदा हो कर, भाई के पास जाना चाहता हूँ । आप मुझे कृपादृष्टि से देखिये ॥ ७ ॥

आश्रमं तस्य धर्मज्ञ धार्मिकस्य महात्मनः ।

आचक्ष्व कतमो मार्गः कियानिति च शंस मे ॥ ८ ॥

हे धर्मज्ञ ! यह बतलाइये कि, उन महात्मा धार्मिक श्रीरामचन्द्र जी का आश्रम यहाँ से कितनी दूर है और वहाँ जाने के लिये कौनसा मार्ग है ॥ ८ ॥

इति पृष्ठस्तु भरतं भ्रातृदर्शनलालसम् ।

प्रत्युवाच महातेजा भरद्वाजो महातपाः ॥ ९ ॥

भरत जो का ऐसा वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की लालसा रखने वाले भरत से महातेजस्वी एवं परम तपस्वी भरद्वाज जी बाले ॥ ६ ॥

भरतार्धतृतीयेषु योजनेष्वजने वने ।

चित्रकूटो गिरिस्त्र रम्यनिर्दरकाननः ॥ १० ॥

हे भरत ! यहाँ से अद्वाई योजन के अन्तर पर दूड़ेफूड़े पत्थरों वाले निर्जन वन में चित्रकूट नामक एक रमणीय पहाड़ है ॥ १० ॥

उत्तरं पाश्वमासाद्य तस्य मन्दाकिनी नदी ।

पुष्पितद्रुमसंछन्ना रम्यपुष्पितकानना ॥ ११ ॥

इस पर्वत की उत्तर तरफ मन्दाकिनी नदी बहती है । इस नदी के उभय तटों पर पुष्पित वृक्ष लगे हुए हैं और वह नदी रमणीय पुष्पित वन में हो कर बहती है ॥ ११ ॥

अनन्तरं तत्सरितश्चित्रकूटश्च पर्वतः ।

तयो पर्णकुटो तात तत्र तो वसतो ध्रुवम् ॥ १२ ॥

हे तात ! उसीसे मिला हुआ चित्रकूट पर्वत है । उसी पर्वत पर एक पर्णकुटो में तुम दोनों भाइयों को निश्चय ही वास करते हुए पाओगे ॥ १२ ॥

दक्षिणैव मार्गेण सव्यदक्षिणमेव वा ।

गजवाजिरथाकीर्णा वाहिनीं वाहिनीपते ॥ १३ ॥

वाहयस्व महाभाग ततो द्रक्ष्यसि राघवम् ।

प्रयाणमिति तच्छ्रुत्वाराजराजस्य योषितः ॥ १४ ॥

हे महाभाग ! हे वाहिनीपते ! यमुना के दक्षिण वाले मार्ग से
कुछ दूर जाने वाले दो मार्ग मिलेंगे । आप दहिनी ओर वाले
मार्ग से हाथी घोड़ों से युक्त अपनी सेना को यदि ले जाएंगे तो
तुम्हें श्रीरामचन्द्र जी का दर्शन हो जायगा । प्रस्थान करने का विचार
सुन महाराज दशरथ की रानियों ने ॥ १३ ॥ १४ ॥

हित्वा यानानि यानार्हा ब्राह्मणं पर्यवारयन् ।

वेषमाना कुशा दीना सह देव्या सुमित्रया ॥ १५ ॥

कौसल्या तत्र जग्राह कराभ्यां चरणौ मुनेः ।

असमृद्धेन कामेन सर्वलोकस्य गर्हिता ॥ १६ ॥

अपनी अपनी सवारियाँ छोड़ दीं और जो रानियाँ सदा सवारी
पर ही चला करती थीं, वे पैदल चल कर आयीं और भरद्वाज को
घेर कर खड़ी हो गयीं । उनमें से थरथर कौपती हुई दीन और
दुर्वल महारानी कौशल्या ने सुमित्रा सहित भरद्वाज जी के पैर
छुप । तदनन्तर असफल भनोरथ और लोकनिन्दित ॥ १५ ॥ १६ ॥

कैकेयी तस्य जग्राह चरणौ सब्यपत्रपा ।

तं प्रदक्षिणमागम्य भगवन्तं महामुनिम् ॥ १७ ॥

कैकेयी ने लज्जित हो महर्षि के चरण छुप और उन ऐश्वर्यवान
महर्षि की परिक्रमा कर ॥ १७ ॥

अदूरादभरतस्यैव तस्थौ दीनमनास्तदा ।

ततः प्रच्छ भरतं भरद्वाजो दृढव्रतः ॥ १८ ॥

दुःखित चित्त हो भरत जो के निकट जा खड़ी हुई। तब दृढ़-
व्रतधारी भरद्वाज ने भरत से पूँछा ॥ १८ ॥

विशेषं ज्ञातुमिच्छामि मातृणां तव राघव ।

एवमुक्तस्तु भरतो भरद्वाजेन धार्मिकः ॥ १९ ॥

हे भरत ! मैं तुम्हारी माताश्रों का परिचय जानना चाहता हूँ ।
जब धार्मिक भरद्वाज ने यह पूँछा ॥ १९ ॥

उवाच प्राञ्जलिभूत्वा वाक्यं वचनकोविदः ।

यामिमां भगवन्दीनां शोकानशनकर्शिताम् ॥ २० ॥

तब वचन कहने में चतुर भरत जो ने हाथ जोड़ कर कहा—
हे भगवन् ! जो यह दीन, शोक और उपवास के कारण
दुर्बल ॥ २० ॥

पितुर्हि महिषीं देवीं देवतामिव पश्यसि ।

एषा तं पुरुषव्याघ्रं सिंहविक्रान्तगामिनम् ॥ २१ ॥

मेरे पिता की पटरानो तथा देवता के समान देख पड़ती हैं, सो
यही उन पुरुषसिंह एवं विक्रमयुक्त सिंह की तरह चलने वाले ॥ २१ ॥

कौसल्या सुषुवे रामं धातारमदिर्यथा ।

अस्या वामभुजं शिलष्टा यैषा तिष्ठति दुर्मनाः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र को प्रसव करने वाली कौशल्या हैं। जैसे अदिति
ने प्रजापति को उत्पन्न किया था वैसे ही इन्होंने नरश्रेष्ठ श्रीराम
को उत्पन्न किया है और इनकी बाई भुजा से लपटी हुई (अर्थात्
सहारा लिये हुए) जो उदास खड़ी हैं ॥ २२ ॥

कर्णिकारस्य शाखेव शीर्णपुष्पा वनान्तरे ।

एतस्यास्तु सुता देव्याः कुमारौ देववर्णिनौ ॥ २३ ॥

उभौ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ वीरौ सत्यपराक्रमौ ।

यस्याः कृते नरव्याघ्रौ जीवनाशमितो गतौ ॥ २४ ॥

और जो कनेर वृक्ष की पुष्पहीन शाखा की तरह देख पड़ती हैं, देवताओं के समान दोनों वीर एवं सत्यपराक्रमी राजकुमार लक्ष्मण और शत्रुघ्न की जननी (सुमित्रा) हैं । हे मुनि ! जिसकी करतूत से उन दोनों पुरुषसिंहों का जीवन सङ्कट में पड़ा हुआ है ॥ २३ ॥ २४ ॥

राजापुत्रविहीनश्च स्वर्गं दशरथो गतः ।

क्रोधनामकृतप्रज्ञां दृपां 'सुभगमानिनीम् ॥ २५ ॥

तथा महाराज दशरथ पुत्रवियोग जनित शोक के कारण स्वर्ग-वासी हुए हैं । वह यही क्रोधयुक्त स्वभाव वाली, बुद्धिहीन, गर्वली, अपने को सुभगा मानने वाली ॥ २५ ॥

ऐश्वर्यकामां कैकेयीमनार्यमार्यरूपिणीम्^२ ।

ममैतां मातरं विद्धि नृशंसां पापनिश्चयाम् ॥ २६ ॥

ऐश्वर्य ग्रासि की चाह रखने वाली और असती हो कर भी अपने को सती समझने वाली इस निष्ठुरा और पापिन कैकेयी को आप मेरी माता समझिये ॥ २६ ॥

^१ सुभगमानिनीम्—सुभगांसुन्दरोमात्मानंमन्यत इति । २ आर्यरूपिणी—सतीमिव प्रतिभावमानां । (रा०)

यतोमूलं हि पश्यामि व्यसनं महदात्मनः ।
 इत्युक्त्वा नरशार्दूलो वाष्पगद्गदया गिरा ॥ २७ ॥
 स निशश्वास ताम्राक्षो नागः क्रुद्ध इव श्वसन् ।
 भरद्वाजो महर्षिस्तं ब्रुवन्तं भरतं तथा ॥ २८ ॥
 प्रत्युवाच 'महाबुद्धिरिदं वचनमर्थवत् ॥
 न दोषेणावगन्तव्या कैकेयी भरत त्वया ॥ २९ ॥

इसीके कारण मुझको इस महादुःख में पड़ना पड़ा है। यह कह पुरुषसिंह भरत जी गद्गद वाणी हो और लाल नेत्र कर, क्रुद्ध हुए नाग की तरह ज़ोर से सासे लेने लगे। तब महर्षि और भावी को जानने वाले भरद्वाज ने भरत जी को इस प्रकार कहते देख भरत जी से यह अर्धयुक वचन बोले—हे भरत ! तुम कैकेयी को दोषी मत ठहराओ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

रामप्रवाजनं ह्येतत्सुखोदर्कै२ भविष्यति ।

देवानां दानवानां च क्रुषीणां भावितात्मनाम् ॥३०॥

क्योंकि श्रीरामचन्द्र जी का यह वनवास आगे चल कर सुख-कारी होगा। देखो, देव, दानव और वडे वडे महर्षियों की ॥ ३० ॥

हितमेव भविष्यद्धि रामप्रवाजनादिह ।

अभिवाद्य तु संसिद्धः३ कृत्वा चैनं प्रदक्षिणम् ॥३१॥

श्रीरामचन्द्र के वनगमन से भलाई ही होगी। यह सुन, भरत जी ने भरद्वाज जी को प्रणाम किया तथा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर, उनकी परिक्रमा की ॥ ३१ ॥

१ महाबुद्धिः—भावितः । (गो०) २ सुखोदर्कै—सुखोत्तरं । (गो०)

३ संसिद्धः—लब्धाशीर्वादः । (गो०)

आमन्त्र्य^१ भरतः सैन्यं युज्यतामित्यचोदयत् ।
 ततो वाजिरथान्युक्त्वा दिव्यान्हेमपरिष्कृतान् ॥ ३२ ॥
 अध्यारोहत्प्रयाणार्थी बहून्वहुविधो जनः ।
 २गजकन्या गजाश्चैव हेमकक्ष्याः३ पताकिनः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर भरत जी ने महर्षि से विदा माँग प्रस्थान के लिये तैयारी करने की सेना को आज्ञा दी । भरत जी आज्ञा पा कर सब सैनिक धोड़ों पर तथा सुनहले रथों पर सवार हो, यात्रा करने लगे । सोने की जंजीरों से कसी हुई अंवारियों से तथा पताकाओं युक्त हथिनियों और हाथियों पर, वे लोग सवार हो कर जा रहे थे ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

जीमूता इव घर्मान्ते सधोषाः४ सम्प्रतस्थिरे ।
 विविधान्यपि यानानि महान्ति च लघूनि च ॥ ३४ ॥
 प्रययुः सुमहार्हणि पादैरेव पदातयः ।
 अथ ५यानप्रवेकैस्तु कौसल्याप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार वर्षा के अन्त में बादलों की गड़गड़ाहट होती है, उसी प्रकार हाथी हथिनियों के चलते समय, उनकी पीठ पर लटकते हुए घंटों का शब्द होता हुआ चला जाता था । इनके अतिरिक्त बड़ी छोटी तथा बहुमूल्य की और भी बहुत सी अनेक प्रकार की सवारियाँ थीं, जिन पर सवार हो लोग चले जाते थे ।

१ आमन्त्र्य—आप्रच्छय । (गो०) २ गजकन्या:—करेणवः । (गो०)
 ३ हेमकक्ष्याः—हेममयवन्धनरज्जवः । (गो०) ४ सधोषाः—घण्टाधोष
 युक्ताः । (गो०) ५ यानप्रवेकैः—यानोत्तमैः । (गो०)

जो पैदल चला करते थे, वे पैदल ही रवाना हो गये थे । तदनन्तर कौशल्यादि रानियाँ उत्तम उत्तम सवारियों में बैठ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

रामदर्शनकाङ्क्षिण्यः प्रययुर्मुदितास्तदा ।

चन्द्रार्कतरुणाभासां नियुक्तां शिविकां शुभाम् ॥३६॥

आस्थाय प्रययौ श्रीमान्भरतः सपरिच्छदः ।

सा प्रयाता महासेना गजवाजिरथाकुला ।

दक्षिणां दिशमावृत्य महामेघ इवात्थितः ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को देखने की इच्छा से प्रसन्न होतो हुई चली जाती थीं । सूर्य अथवा चन्द्रमा के समान प्रभायुक्त पालकी में बैठ सपरिवार भरत जी चले जाते थे । हाथी घोड़ों से युक्त वह महासेना वहीं से इक्षिण दिशा को मेघ की घटा की तरह ढकती हुई, आगे चली ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वनानि तु व्यतिक्रम्य जुष्टानि मृगपक्षिभिः ।

गङ्गायाः परवेलायां गिरिष्वपि नदीषु च ॥ ३८ ॥

उस समय वह सेना हिरनों और पक्षियों से भरे हुए वनों को तथा भागीरथी गङ्गा के पश्चिम तटवर्ती पहाड़ों और नदियों को मफ्फाती हुई, चली जाती थी ॥ ३८ ॥

सा सम्प्रहृष्टद्विपवाजियोधा

वित्रासयन्ती मृगपक्षिसङ्घान् ।

महद्वनं तत्प्रतिगाहमाना

रराज सेना भरतस्य तत्र ॥ ३९ ॥

इति द्विनवतितमः सर्गः ॥

उस सेना के हाथी और घोड़े बहुत प्रसन्न जान पड़ते थे, किन्तु वनवासी मृग पक्षी इस सेना को देख कर, भयभीत हो गये थे। उस समय भरत जी की वह सेना वन में प्रवेश कर, बड़ी शोभित हुई ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का वानवेष्ठी सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

त्रिनवतितमः सर्गः

—:०:—

तथा महत्या यायिन्या ध्वजिन्या वनवासिनः ।

अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथाः सम्पदुद्गुः ॥ १ ॥

जब उस महासेना ने वन में हो कर, प्रस्थान किया; तब वनवासी मतवाले यूथपति हाथी पीड़ित हो, अपने अपने यूथों (झुंडों) को साथ ले, चारों ओर भागने लगे ॥ १ ॥

ऋक्षाः पृष्ठतसङ्काश रुरवश्च समन्ततः ।

दृश्यन्ते वनराजीषु गिरिष्वपि नदीषु च ॥ २ ॥

नदियों के तटों पर, पर्वतों के शिखरों पर तथा वनों में, रोक्क, चित्तल, आदि वनवासी जन्तु विकल हो कर, इधर उधर भागते हुए देख पड़े ॥ २ ॥

स सम्प्रतस्थे धर्मात्मा प्रीतो दशरथात्मजः ।

वृतो महत्या नादिन्या सेनया चतुरङ्ग्या ॥ ३ ॥

दशरथनन्दन महात्मा भरत जी गर्जन करती हुई विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ प्रसन्न मन हो चलने लगे ॥ ३ ॥

सागरोघनिभा सेना भरतस्य महात्मनः ।

महीं संच्छादयामास प्रावृषि आमिवाम्बुदः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार वर्षांश्चुतु में मेघमण्डल आकाश को ढक लेता है,
उसी प्रकार महात्मा भरत जी की सागरोपम सेना, लहरों की
तरह उमड़ती हुई पृथिवी को आच्छादन करती हुई चली जाती
थी ॥ ४ ॥

तुरङ्गौघैरवतता वारणैश्च महाजवैः ।

अनालक्ष्या चिरं कालं तस्मिन्काले वभूव भूः ॥ ५ ॥

वहीं की भूमि उन घोड़ों और बड़े बड़े हाथियों से ऐसी ढक
गयी थी कि, बहुत देर तक दिखलाई नहीं पड़ती थी ॥ ५ ॥

स यात्वा दूरमध्यानं सुपरिश्रान्तवाहनः ।

उवाच भरतः श्रीमन्वसिष्ठं मन्त्रिणां वरम् ॥ ६ ॥

भरत जी जब बहुत दूर निकल गये, तब वाहनों को थके हुए
देख, वे मंत्रिश्रेष्ठ वशिष्ठ जी से कहने लगे ॥ ६ ॥

यादशं लक्ष्यते रूपं तथा चैव श्रुतं मया ।

व्यक्तं प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ॥ ७ ॥

इस स्थान का जैसा रूप देख पड़ता है और जैसा कि, इसके
विषय में, मैंने सुन रखा है, इससे तो यही जान पड़ता है कि, हम
जोग उस स्थान पर पहुँच गये, जो भरद्वाज जी ने बतलाया
था ॥ ७ ॥

अयं गिरिश्चत्रकूट इयं मन्दाकिनी नदी ।

एतत्पकाशते दूरान्नीलमेघनिभं वनम् ॥ ८ ॥

देखिये वह तो चित्रकूट पर्वत है और यह मन्दाकिनी नदी है
और यही बन है जो दूर से नोल मेघ की तरह देख पड़ता है ॥ ८ ॥

गिरेः सानूनि रम्याणि चित्रकूटस्य सम्प्रति ।

वारणैरवमृद्यन्ते^१ मामकैः पर्वतोपमैः ॥ ९ ॥

यही चित्रकूट पर्वत के रमणीय शिखर हैं, जो मेरे पर्वत सदृश
जँचे हाथियों द्वारा मर्दित हो रहे हैं । (अर्थात् साथ के हाथी उस
रमणीयता को नष्ट कर रहे हैं) ॥ ९ ॥

मुञ्चन्ति कुसुमान्येते नगाः पर्वतसानुषु ।

नीला इवातपापाये^२ तोयं तोयधरा घनाः ॥ १० ॥

यह देखिये, जिस प्रकार वर्षाकाल में सजल श्यामल मेघ-
मण्डल जल बरसाता है, वैसे ही चित्रकूट के बृक्ष, हाथियों की
सूँडों के आघात से हिल कर, पर्वत के शिखरों पर फूलों की वर्षा
कर रहे हैं ॥ १० ॥

किञ्चनाचरितं देशं^३ पश्य शत्रुग्न पर्वतम् ।

मृगैः समन्तादाकीर्णं मकरैरिव सागरम् ॥ ११ ॥

हे शत्रुग्न ! किञ्चरों से सेवित स्थान की तरह इस चित्रकूट
पर्वत को देखो । जिस प्रकार समुद्र में मगर धूमा करते हैं, वैसे ही
इस पर्वत पर जिधर देखो उधर मृग समूह शोभायमान हो रहा
है ॥ ११ ॥

एते मृगगणा भान्ति शीघ्रवेगाः प्रचोदिताः ।

वायुप्रविद्धा शरदि मेघराजिरिवाम्बरे ॥ १२ ॥

^१ अवमृद्यन्ते—भज्यन्ते । (गो०) ^२ आतपापाये—वर्षाकाले । (गो०)

^३ किञ्चराचरितंदेशं—किञ्चराचरितदेशरूपं पर्वतं । (गो०) * पाठान्तरे—
“किञ्चराचरितोदेशं” ।

शरत्काल में जिस प्रकार वायु के वेग से प्रेरित मेघसमूह आकाश में सुशोभित होता है, उसी प्रकार हमारी सेना से प्रेरित हो, ये मृगसमूह शोभायमान हो रहा है ॥ १२ ॥

कुर्वन्ति १ कुसुमपीडाञ्जिशरः सु सुरमीनमी२ ।

मेघप्रकाशैः ३ फलकैर्दाक्षिणात्या यथा नराः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार दक्षिणी लोग अपने मस्तकों को फूल की मालाओं से सजाया करते हैं—उसी प्रकार हमारे सैनिकों ने कुसुम के गुच्छों से अपने मस्तक सजा लिये हैं ॥ १३ ॥

निष्कूजमिव भूत्वेदं वनं धोरप्रदर्शनम् ।

अयोध्येव जनाकीर्णा सम्प्रति प्रतिभाति मा ॥ १४ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो यह भयानक वन पहले कैसा साँय साँय करता था, किन्तु इस समय मेरी सेना की भीड़भाड़ से यह अयोध्या जैसा देख पड़ता है ॥ १४ ॥

खुरैरुदीरितो रेणुर्दिवं प्रच्छाद्य तिष्ठति ।

तं वहत्यनिलः शीघ्रं कुर्वन्निव मम प्रियम् ॥ १५ ॥

बैलों के सुमों और बैलों के खुरों से उड़ाई हुई धूल आकाश में ढा जाती है। किन्तु पवन उसे शीघ्र ही हटा देता है, मानों मेरी आंखों के सामने की रुकावट दूर कर, (श्रीरामचन्द्र की पर्णशाला दिखा कर) मुझे प्रसन्न करना चाहता है ॥ १५ ॥

१ कुसुमपीडान्—कुसुमशेखरान् कुर्वन्ति । (गो०) ५ अभी—भटाः ।

(गो०) ३ मेघप्रकाशैः—फलकैः केशवन्धविशेषैः । (गो०)

स्यन्दनांस्तुरगोपेतान्सूतमुख्यैरधिष्ठितान् ।

एतान्सम्पत्तः^१ शीघ्रं पश्य शत्रुघ्न कानने ॥ १६ ॥

हे शत्रुघ्न ! देखो, ये घोड़े सारथी सहित रथों को लिये हुए इस वन में कैसी तेज़ी से दौड़े चले जा रहे हैं ॥ १६ ॥

एतान्वित्रासितान्पश्य वर्हिणः प्रियदर्शनान् ।

एतमाविशतः शीघ्रमधिवासं पतत्रिणः^२ ॥ १७ ॥

यह देखो, सुन्दर और बड़े पर वाले मोर डर के मारे दौड़ कर इस पर्वत पर अपने निज स्थानों में कैसे जा रहे हैं ॥ १७ ॥

अतिमात्रमयं देशो मनोज्ञः प्रतिभाति मा ।

तापसानां निवासोऽयं व्यक्तं स्वर्गपथो^३ यथा ॥ १८ ॥

हे अनघ ! तपस्त्रियों के रहने का यह स्वर्ग जैसा स्थान, मुझे बड़ा मनोहर जान पड़ता है ॥ १८ ॥

मृगा मृगीभिः सहिता बहवः पृष्ठताऽवने ।

मनोज्ञरूपा लक्ष्यन्ते कुसुमैरिव चित्रिताः ॥ १९ ॥

बहुत से चित्तोदार नरहिरन अपनी मादाश्रों के साथ धूमते हुए कैसे सुन्दर मालूम पड़ते हैं, मानों फूलों से इनकी चित्र विचित्र रचना की गयी है ॥ १९ ॥

१ सम्पत्तः—सम्यगच्छतः । (गो०) २ पतत्रिणः प्रशस्तपक्षानितिवर्हिणि शेषणं । (गो०) ३ स्वर्गपथोयथा—स्वर्गप्रदेश इव । (गो०) ४ पृष्ठताः—विन्दुष्टगाः । (गो०)

'साधुसैन्याः प्रतिष्ठन्तां२ विचिन्वन्तु च कानने ।

यथा तौ पुरुषव्याघ्रौ दृश्येते रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

योन्य सैनिक बन में जा कर पता लगावें जिससे वे दोनों पुरुषसिंह श्रीराम लक्ष्मण जिस जगह रहते हों वह स्थान मिल जाय ॥ २० ॥

भरतस्य वचः श्रुत्वा पुरुषाः शस्त्रपाणयः ।

विविशुस्तद्वनं शूरा धूमाग्रं३ ददृशुस्ततः ॥ २१ ॥

भरत जी का ऐसा वचन सुन, अपने अपने शश्वों को हाथ में लिए हुए वीरों ने बन में प्रवेश किया और कुछ ही दूर जा कर एक स्थान पर उन्होंने धुध्रां निकलता हुआ देखा ॥ २१ ॥

ते समालोक्य धूमाग्रमूच्छुर्भरतमागताः ।

नामनुष्ये भवत्यग्निव्यक्तमत्रैव राघवौ ॥ २२ ॥

उस धुर्य को देख उन लोगों ने लौट कर भरत जी से कहा, इस स्थान में मनुष्य को क्वाड़ अग्नि कौन जला सकता है। अतः जान पड़ता है, वे दोनों भाई यहाँ रहते हैं ॥ २२ ॥

अथ नात्र नरव्याघ्रौ राजपुत्रौ परन्तपौ ।

अन्ये४ रामोपमाः सन्ति व्यक्तमत्र तपस्विनः ॥ २३ ॥

यदि शब्दुदमनकारी पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र तथा बलवान् लक्ष्मण न भी हों, तो श्रीराम के समान कोई अन्य तपस्वी यहाँ रहते हैं (अर्थात् यदि श्रीराम न भी हों तो वहाँ चलने से श्रीराम के रहने के स्थान का पता तो अवश्य ही चल जायगा) ॥ २३ ॥

१ साधुसैन्याः—उचिताः सैनिकाः । (गो०) २ प्रतिष्ठन्तां—गच्छत्वत्यर्थः ॥

.. ० ३ धूमाग्रं—धूमाग्निखाँ । (गो०) * पाठान्तरे—“मन्ये”

तच्छ्रुत्वा भरतस्तेषां वचनं साधुसम्मतम् ।

सैन्यानुवाच सर्वास्तानमित्रबलमर्दनः ॥ २४ ॥

शत्रुघ्नों के बल को मरने करने वाले भरत जी, उन सैनिकों का यह शिष्टसम्मत वचन सुन, उन सब से कहने लगे ॥ २४ ॥

यत्ता' भवन्तस्तिष्ठन्तु नेतो गन्तव्यमग्रतः ।

अहमेव गमिष्यामि सुमन्त्रो गुरुरेव च ॥ २५ ॥

अच्छा अब आप लोग चुपचाप यहाँ ठहरे रहिये । यहाँ से आगे न जाइये । सुमन्त्र और गुरु वशिष्ठ जी को साथ ले, मैं ही आगे जाऊँगा ॥ २५ ॥

एवमुक्तास्ततः सर्वे तत्र तस्थुः समन्ततः ।

भरतो यत्र धूमाग्रं तत्र हृष्टं समादधे* ॥ २६ ॥

जब भरत जी ने उनसे इस प्रकार कहा, तब वे सब उसी स्थान पर इधर उधर उठर गये । भरत जी ने उस ओर देखा जिस ओर धुआं उठता दिखलाई पड़ता था ॥ २६ ॥

व्यवस्थिता या भरतेन सा चमूः

निरीक्षमाणाऽपि च धूमग्रतः ।

बभूव हृष्टा नचिरेण जानती ।

प्रियस्य रामस्य समागमं तदा ॥ २७ ॥

इति त्रिनवतितमः सर्गः ॥

इस समय भरत जी के कहने से वे सब सैनिक वहाँ टिक रहे और उस धुएँ को उठते देख, वे जान गये कि, अब परम प्रीति

* यत्ताः—निःशब्दाः । (गो०) # पाठान्तरे—“समादधै” ; “समादधात्” ।

भाजन श्रीरामचन्द्र जी के साथ समागम होने में बहुत विलम्ब नहीं है। यह विचार कर, वे हर्षित हो गये ॥ २७ ॥

अथोध्याकाशड का तिरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

चतुर्नवतितमः सर्गः

—:०:—

दीर्घकालोषितस्तस्मिन्गरौ गिरिवनप्रियः ।

वैदेह्याः प्रियमाकाङ्क्षन्स्वं च चित्तं विलोभयन् ॥१॥

अथ दाशरथिश्चित्रं चित्रकूटमदर्शयत् ।

भार्यामरसङ्काशः शचीमिव पुरन्दरः ॥ २ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी को उस पर्वत पर रहते बहुत दिन हो चुके थे। वे सीता का तथा अपना मन बहलाने के लिये, सीता को चित्रकूट की शोभा दिखला रहे थे। उस समय उन दोनों की वैसी ही शोभा हो रही थी, जैसी इन्द्र और इन्द्राणी की होती है ॥ १ ॥ २ ॥

न राज्याद्भ्रंशनं भद्रे न सुहृद्विर्विनाभवः ।

मनो मे बाधते दृष्ट्वा रमणीयमिमं गिरिम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बोल—हे भद्रे! इस रमणीय पर्वत की शोभा देखने से, राज्यनाश एवं सुहृदवियोग जन्य दुःख मुझे अब नहीं सताता ॥ ३ ॥

पश्येमयचलं भद्रे नानाद्विजगणायुतम् ।

शिखरैः खमिवोद्विद्वैर्धातुमद्विर्भूषितम् ॥ ४ ॥

हे भद्रे ! नाना प्रकार के पक्षियों से परिपूर्ण, और गगनस्पर्शीं
एवं तरह तरह की धातुओं से युक्त शिखरों से विभूषित इस पर्वत
की शोभा को देखो ॥ ४ ॥

केचिद्रजतसङ्काशाः १ केचित्क्षतजसन्निभाः ।

पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः ॥ ५ ॥

इस पर्वत के कोई कोई शृङ्खला तो चाँदी जैसे सफेद और चम-
कीले हैं और कोई कोई रक्त की तरह लाल वर्ण हैं, कोई कोई
पीले और मजीठ के रंग जैसे देख पड़ते हैं और कोई उत्तम मणियों
की प्रभा जैसे प्रभायुक्त देख पड़ते हैं ॥ ५ ॥

पुष्पार्क॑ केतकाभाश्च॒ केचिज्ज्योतीरसप्रभाः ।

विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः ॥ ६ ॥

इस पर्वत के धातुओं से विभूषित शृङ्खला पुष्पराग, स्फटिक,
केतकी और पारे के समान रंगवाले और नक्षत्रों की तरह चमकीले
देख पड़ते हैं ॥ ६ ॥

नानामृगगण॑ द्वीपितरक्ष्य॑ क्षगणैर्वृतः ।

६ अदुष्टैर्भात्ययं शैलो बहुपक्षिसपायुतः ॥ ७ ॥

यद्यपि यह पर्वत अनेक प्रकार के छोटे बड़े व्याघ्रों और रीछों
से परिपूर्ण है, तथापि तपास्वियों के तपःप्रभाव से इन भयङ्कर
जन्तुओं ने अपना दुष्ट हिंसालु-व्यभाव त्याग दिया है। इस पर्वत
पर तरह तरह के पक्षी अपने अपने घोंसले बना कर निवास कर
रहे हैं ॥ ७ ॥

१ क्षतज्ज—हृषिर । (गो०) २ अक्षः—स्फटिकः । (गो०) ३ केत-
काभाः—हृषत्पाण्डुराः । (गो०) ४ द्वीपी—महाव्याघः । (गो०) ५ तरक्षुः—
क्षुद्रव्याघः । ६ अदुष्टैः—हिंसादिदोषरहितैः । (गो०)

आम्रजम्बवसनैर्लोध्रैः प्रियालैः पनसैर्धवैः ।

अङ्गोलैर्भव्यतिनिशैर्विल्वतिन्दुकवेणुभिः ॥ ८ ॥

काश्मर्यरिष्टवरुणैर्घृकैस्तिलकैस्तथा ।

बदर्यामलकैर्नापैर्वेत्रधन्वनबीजकैः ॥ ९ ॥

पुष्पवद्धिः फलोपेतैश्छायावद्धिर्मनोरमैः ।

एवमादिभिराकीर्णः श्रियं पुष्पत्ययं गिरिः ॥ १० ॥

आम, जामुन, असना, लोध, चिरौंजी, कटहर, ढाक, अंकोल, भन्य, तिमिश, विल्व, तिन्दुक (तेंदुआ) बांस, काश्मीरी नीम, सखुआ, महुआ, तिलक, बैर, आंवला, कदम्ब, वेत, बिजौरा, नीबू आदि ले कर और अनेक प्रकार के फूल फलों वाले और द्वायायुक्त मनोहर वृक्षों के समूहों से भरा पूरा यह पर्वत शोभाय-मान है ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

शैलप्रस्थेषु रम्येषु पश्येमान्नोरमहर्षणान् ।

किञ्चरान्द्वन्द्वशो भद्रे रममाणान्मनस्विनः ॥ ११ ॥

हे भद्रे ! इस पर्वत के रमणीय शिखरों पर शरीर पुलकित करने वाले स्थानों को देखो । यहाँ मनस्वी किञ्चर लोग अपनी अपनी किञ्चरियों के साथ विहार कर रहे हैं ॥ ११ ॥

शाखावसक्तान्वद्वांश्च प्रवराण्यम्बराणि च ।

पश्य विद्याधरस्त्रीणां क्रीडोद्देशान्मनोरमान् ॥ १२ ॥

देखो उन्हींकी ये तलवारें और सुन्दर रंग विरंगे पहिनने के कपड़े वृक्षों की डालियों में लटक रहे हैं । इन विद्याधरों की स्त्रियों के मनोहर क्रीडास्थलों को देखो ॥ १२ ॥

जलप्रपातैरुद्देहैर्निष्यन्दैश्च कचित्कचित् ।

स्वद्विर्भात्ययं शैलः स्वन्मद् इव द्विपः ॥ १३ ॥

स्थान स्थान पर जल के भरने और ज़मीन से निकले हुए जल के साते वह रहे हैं। इनसे यह पर्वत मद छुआने वाले गजेन्द्र की तरह शोभायमान हो रहा है ॥ १३ ॥

गुहासमीरणो गन्धानानापुष्पभवान्वहन् ।

ग्राणतर्पणमभ्येत्य कं नरं न प्रहर्षयेत् ॥ १४ ॥

पर्वत को कन्द्राओं से निकला हुआ नाना पुष्पों की सुगन्धि से युक्त पत्तन जो नासिका को तृप्त कर रहा है, वह किस के मन को हर्षित नहीं करेगा ॥ १४ ॥

यदीह शरदोऽनेकास्त्वया सार्धमनिन्दिते ।

लक्ष्मणेन च वत्स्यामि न मां शोकः प्रधक्ष्यति ॥ १५ ॥

हे अनिन्दिते ! यदि तु म्हारि और लक्ष्मण के साथ बहुत वर्षों तक भी मुझे यहां रहना पड़े तो भी मुझे ज़रा सा भी शोक सन्ताप नहीं सतावेगा ॥ १५ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाद्विजगणायुते ।

विचित्रशिखरे ह्यस्मिन्रतवानस्मि भामिनि ॥ १६ ॥

हे भद्रे ! अनेक प्रकार के पुष्पों और फलों से सम्पन्न, अनेक जाति के पत्तियों से परिपूर्ण और विचित्र शिखरों से युक्त यह रमणीय चित्रकूट मुझे बड़ा पसंद है (अर्थात् चित्रकूट में रहने से कभी मेरा जी नहीं ऊवेगा) ॥ १६ ॥

अनेन वनवासेन मया प्राप्तं फलद्वयम् ।

पितुश्चानुणता धर्मे भरतस्य प्रियं तथा ॥ १७ ॥

इस वनवास से मुझे दो फल मिले । एक तो धर्म सम्बन्धी फल पिता के ऋण से उऋण होना और दूसरा फल भरत जी को प्रसन्न करना ॥ १७ ॥

वैदेहि रमसे कच्चित्रकूटे मया सह ।

पश्यन्ती विविधान्भावान्मनोवाकायसंयतान् ॥ १८ ॥

हे वैदेही ! मेरे साथ इस चित्रकूट पर्वत पर मन, वचन और देह को वश में कर लेने वाले इन विविध साधनों को देख, तेरा मन प्रसन्न होता है कि, नहीं ? ॥ १९ ॥

इदमेवामृतं^१ प्राहू राज्ञि राजर्षयः परे ।

वनवासं भवार्थाय^२ प्रेत्य मे प्रपितामहाः ॥ १९ ॥

हे राज्ञि ! इस प्रकार नियमपूर्वक वनवास राजाओं के लिये मोक्ष का साधन कहा जाता है । यही नहीं वलिक हमारे मन्वादि पूर्वपुरुषों ने देवादि की देह प्राप्ति के लिये भी, वनवास ही को उत्कृष्ट साधन माना है ॥ २० ॥

शिलाः शैलस्य शोभन्ते विशालाः शतशोऽभितः ।

बहुला बहुलैर्वर्णेन्निलपीतसितारुणैः ॥ २० ॥

देखो, इस पर्वत की सैकड़ों विशाल शिलाएँ जो नीली, पीली, सफेद आदि विविध रंगों की हैं; चारों ओर कैसी शोभा दे रही हैं ॥ २० ॥

निशि भान्त्यचलेन्द्रस्य हुताशनशिखा इव ।

ओषध्यः स्वप्रभालक्ष्या भ्राजमानाः सहस्रशः ॥ २१ ॥

^१ अमृतशाहुः—मेक्षपाधनं प्राहुः । (रा०) ^२ प्रेत्यभवार्थाय—देवादि-देहान्तरपरिग्रहरूपप्रयोजनाय च प्राहुः । (गो०)

रात के समय इस पर्वत पर उत्पन्न हज़ारों जड़ी बूटियाँ, अपनी प्रभा से दीप हो, अग्निशिखर की तरह प्रकाश कर शोभायमान होती हैं ॥ २१ ॥

केचित्क्षयनिभा देशाः केचिदुद्यानसन्निभाः ।

केचिदेकशिला भान्ति पर्वतस्यास्य भामिनि ॥ २२ ॥

हे भामिनी ! देखो इस पर्वत पर कोई स्थान तो घर जैमा, कोई फुलबाढ़ी जैमा और कोई स्थान एक ही शिला का दिखलाई पड़ता है । ये सभी इस पर्वत की शोभा बढ़ाने वाले हैं ॥ २२ ॥

भित्त्वेव वसुधां भाति चित्रकूटः सुमुत्थितः ।

चित्रकूटस्य कूटोऽसौ दृश्यते सर्वतः शुभः ॥ २३ ॥

ऐसा जान पड़ता है मानों यह चित्रकूट पर्वत पृथिवी को फोड़ कर निकला हो । इस पर्वत का अग्रभाग चारों ओर से कैसा सुहावना देख पड़ता है ॥ २३ ॥

कुष्ठपुन्नागस्थगरभूर्जपत्रोत्तरच्छदान् ।

कामिनां^१ स्वास्तरान्पश्य कुशेशयदलायुतान् ॥ २४ ॥

हे भद्रे ! कामी लोगों के इन विक्रीनों को तो देखो । इनके नीचे तो कमलों के पत्ते बिक्रे हैं और पत्तों के ऊपर कूट, पुत्रजीवक और भोजपत्र की छालें बिक्री हुई हैं ॥ २४ ॥

मृदिताश्चापविद्धाश्च दृश्यन्ते कमलस्त्रजः ।

कामिभिर्वनिते पश्य फलानि विविधानि च ॥ २५ ॥

^१ स्वास्तरान् — शयानानीत्यर्थः । (गो०)

यह देखो कामी जनों की पहनो हुई कुम्हलाई और त्यागी हुई कमल के फूलों की मालाएँ इधर उधर पड़ी हैं और उन लोगों के खाये हुए अनेक प्रकार के फल पड़े हैं ॥ २५ ॥

वस्वौकसारां नलिनीम॑त्येतीवोत्तरान्कुरुन् ।

पर्वतश्चत्रकूटोऽसौ बहुमूलफलोदकः ॥ २६ ॥

विविध प्रकार के मूल, फज और स्वच्छ जल सम्पन्न चित्रकूट पर्वत ने, कुवेर की अलकापुरी, इन्द्र की अमरावती और उत्तर कुरुदेश को रमणीयता में मात कर दिया है ॥ २६ ॥

इमं तु कालं वनिते विजहिवां-३

स्तवया च सीते सह लक्ष्मणेन च ।

रति प्रपत्स्ये ४कुलधर्मवर्धनीं

सतां पथि स्वैर्नियमैः परैः स्थितः ॥ २७ ॥

इति चतुर्वतितमः सर्गः ॥

हे सीते ! यदि मैं सज्जनों के मार्ग पर स्थित हो अपने श्रेष्ठ नियमों का पालन करता हुआ तुम्हारे और लक्ष्मण जी के साथ, चौदह वर्ष तक यहाँ रह पाया तो पीछे प्रजापालन रूपी धर्म को बढ़ाने वाला राज्यसुख मुझे अवश्य प्राप्त होगा ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का चौरानबेवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥

—:*:—

१ अत्येतीव —रमणीयतया अतिक्रामतीव । (गो०) २ विजहिवान् —विहृत-
वान् । (गो०) ३ रति—राज्यसुख । ४ कुलधर्मः—प्रजापालन । (गो०)

पञ्चनवतितमः सर्गः

—०—

अथ शैलाद्विनिष्क्रम्य मैथिलीं कोसलेश्वरः ।

अदर्शयच्छुभजलां रम्यां मन्दाकिनीं नदीम् ॥ १ ॥

तदनन्तर कोशलपति श्रीरामचन्द्र जो पर्वत की शोभा दिखाने से निवृत्त हो और पर्वत से निकल निर्मल जल वाली रमणीय मन्दाकिनी नदी दिखाने लगे ॥ १ ॥

अब्रवीच वरारोहां चारुचन्द्रनिभाननाम् ।

विदेहराजस्य सुतां रामो राजीवलोचनः ॥ २ ॥

कमलनयन श्रीरामचन्द्र चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाली, स्त्रियों में श्रेष्ठ जनकतनया से बोले ॥ २ ॥

विचित्रपुलिनां रम्यां हंससारससेविताम् ।

कमलैरुपसम्पन्नां पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ३ ॥

हे वैदेही ! इस विचित्र तट वाली, रमणीय हंस सारसादि पक्षियों से सेवित मन्दाकिनी नदी को देखो ॥ ३ ॥

नानाविधैस्तीररुहैर्वृतां पुष्पफलद्रुमैः ।

राजन्तीं 'राजराजस्य ३नलिनीमिव सर्वतः ॥ ४ ॥

इस नदी के उभय तट फल फूल वाले अनेक जाति के वृक्षों से परिपूर्ण हैं । उनसे इस नदी की शोभा वैसी ही हो रही है जैसी कि कुवेर की सौगन्धिका नाम्नी नदी की ॥ ४ ॥

मृगयूथनिपीतानि कलुषाम्भांसि साम्प्रतम् ।

तीर्थानि रमणीयानि रतिः^१ संजनयन्ति मे ॥ ५ ॥

इस नदी के सब घाट बड़े रमणीय हैं । अतः वहाँ जा कर स्नान करने की मेरी इच्छा हो रही है । अभी मृगों के सुखड़ इन घाटों पर जल पी कर गये हैं । अतः वहाँ का जल गँदला हो रहा है ॥५॥

जटाजिनधराः काले^२ वल्कलोत्तरवाससः ।

ऋषयस्त्ववगाहन्ते^३ नदीं मन्दाकिनीं प्रिये ॥ ६ ॥

हे प्रिये ! देखो, जटा और मृगचर्म धारण किये और वृक्षों की छाल पहिने हुए ऋषि लोग इस नदी में यथासमय स्नान करते हैं ॥ ६ ॥

आदित्यमुपतिष्ठन्ते नियमादृधर्वाहवः ।

एते परे विशालाक्षि मुनयः संशितव्रताः^४ ॥ ७ ॥

हे विशालाक्षि ! इस ओर ये सब तीक्ष्ण नियमों का पालन करने वाले मुनिगण नियमानुसार ऊपर की बाँह कर, सूर्य भगवान का उपस्थान कर रहे हैं ॥ ७ ॥

‘मारुतोद्भूतशिखरैः प्रनृत्त इव पर्वतः ।

पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजदभिरभितो नदीम् ॥ ८ ॥

देखो पवन से कम्पित इन वृक्षों के हिलने से यह पर्वत नाचता हुआ सा मालूम पड़ता है और वृक्षों के हिलने से उनके जो पुष्प गिरते हैं सा चित्रकूट पर्वत मानों नदी को पुष्पाञ्जलि दे रहा है ॥८॥

१ रतिः—अवगाहनविषयां प्रीतिं । (गो०) २ काल—स्वनियमोचित काले । (गो०) ३ अवगाहन्ते—मज्जन्ति । (गो०) ४ संशितव्रताः—तीक्ष्णनियमाः । (गो०) ५ मारुतोद्भूत शिखरैः—वायुकम्पितशाखैः । (गो०)

कचिन्मणिनिकाशोदां कचित्पुलिनशालिनीम् ।

कचित्सिद्धजनाकीर्णं पश्य मन्दाकिनीं नदीम् ॥ ९ ॥

हे भद्रे ! देखो, कहीं तो मंदाकिनी का जल मणि की तरह उज्ज्वल है, कहीं कहीं रेत शुभा दे रहा है, और कहीं कहीं सिद्ध लोगों की भीड़ लगी है ॥ ६ ॥

निर्धूतान्वायुना पश्य विततान्पुष्पसञ्चयान् ।

पोप्लूयमानानपरान्पश्य त्वं जलमध्यगान् ॥ १० ॥

हे भद्रे ! वायु के झोकों में नदी के तट पर विखरे हुए पुष्पों के ढेर को देखो और जो दूसरे फूल जल में उड़ कर जा गिरे हैं, वे पानी पर कैसे उतरा रहे हैं, उन्हें भी तुम देखो ॥ १० ॥

‘तांश्चातिवल्गवचसोऽ रथाङ्गाहृयना द्विजाः ।

अधिरोहन्ति कल्याणं विकूजन्तः शुभा गिरः ॥ ११ ॥

हे कल्याणो ! फूलों के ढेरों पर चढ़े हुए चक्रवाक रति के लिये अपनी माशाओं को बुलाने के लिये कैसी मधुर, बाली बोल रहे हैं ॥ ११ ॥

दर्शनं चित्रकूटस्य मन्दाकिन्याश्च शोभने ।

अधिकं पुरवासाद्य मन्ये तव च दर्शनात् ॥ १२ ॥

हे शोभने ! इस चित्रकूट पर्वत और मंदाकिनी नदी के देखने से और तुम्हारे साथ रहने से मुझे अयोध्यापुरी में रहने से भी बढ़ कर, यहाँ सुख जान पड़ता है ॥ १२ ॥

१ तान्—पुष्पसञ्चयान् । (गो०) २ वल्गुवचसः—रत्यर्थाद्वानकालिक-
रम्यवचसः । (गो०)

विधूतकलुषैः सिद्धैस्तपेदमशमान्वितैः ।

१ नित्यविक्षोभितजलां विगाहस्व मया सह ॥ १३ ॥

हे सीते ! अब तुम इस मन्दाकिनी नदी में, जिसमें शम, दम और तप से युक्त पव॑ पापरहित सिद्धलोग नित्य स्नान किया करते हैं, चल कर मेरे साथ स्नान करो ॥ १३ ॥

२ सखीवच्च विगाहस्व सीते मन्दाकिनीं नदीम् ।

३ कमलान्यवमज्जन्ती पुष्कराणि४ च भामिनि ॥ १४ ॥

हे सीते ! तुम जैसे अपनी सखियों के साथ निःशङ्क जलक्रीड़ा करती थीं, वैसे ही मेरे साथ भी इस मन्दाकिनी में लाल सफेद कमल के फूलों को डुबोती हुई जलक्रीड़ा करो ॥ १४ ॥

[नोट —लाल सफेद कमल के फूलों से भूषणटीकाकार ने यह अभिप्राय बतलाया है—

स्तनजघनाघातजनित तरङ्गैरितिभावः

किन्तु शिरामणिटोकाघार का कथन है कि, क्रोड़ि के लिये छाल सफेद रंग के कमलों से मन्दाकिनी के जल को ढक दो ।]

त्वं पौरजनवद् द्वयालानयोध्यामिव पर्वतम् ।

मन्यस्व वनिते नित्यं सरयूवदिमां नदीम् ॥ १५ ॥

१ नित्यविक्षोभितजलां—सदाततस्नानेनतत्पादरेणुधन्यमन्दाकिनीं । (गो०)

२ सखीवच्च—सख्यायथासलिङ्गवगाहसे नथा मया सह विगाहस्व । (गो०)

३ कमलानि—रक्ताढ्जानि । (गो०) ४ पुष्कराणि—सिताम्भोजानि । (गो०)

५ द्वयालान्—वनचरान् । (शि०)

हे प्रिये ! तुम यहाँ के वनवासियों को अयोध्यावासियों की तरह, इस पर्वत को अयोध्या की तरह और मंदाकिनी को सरयू की तरह समझो ॥ १५ ॥

लक्ष्मणश्चापि धर्मात्मा मन्दिदेशे व्यवस्थितः ।

त्वं चानुकूला वैदेहि प्रीतिं जनयतो मम ॥ १६ ॥

वे वैदेही ! यह धर्मात्मा लक्ष्मण मेरे आङ्गाकारी हैं और तुम भी सदा मेरी आङ्गा के अनुसार काम किया करती हो । इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है ॥ १६ ॥

'उपस्पृशंत्विष्वरणं^१ मधुमूलफलाशनः ।

नायोध्यायै न राज्याय स्पृहयेऽद्य त्वया सह ॥१७॥

त्रिकाल स्नान, और तुम्हारे साथ मधु मूल और फल का भोजन करता हुआ, मैं, अयोध्या के बास की और राज्य की आकौशा नहीं करता ॥ १७ ॥

इमां हि रम्यां मृगयूथशालिनीं

निपीततोयां गजसिंहवानरैः ।

सुपुष्पितैः पुष्पधरैरलंकृतां

न सेऽस्ति यः स्यादगतक्षमः सुखी ॥१८॥

जो गजों के यूथों से युक्त है और जिसका जल हाथी, सिंह और बन्दर पिया करते हैं, उस रमणीय एवं उन्दर पुष्पों से युक्त वृक्षों द्वारा शोभित मंदाकिनी नदी का सेवन कर, वह कौन पुरुष है जो दुःखों से छूट, सुखी न हो ॥ १८ ॥

१ उपस्पृशन—ल्नानं कुर्वन् । (गो०) २ त्रिष्वरण—त्रिसम्धयं ।

‘इतीव रामो वहुसंगतं वचः
प्रियासहायः सरितं प्रति ब्रुवन् ।
चचार रम्यं नयनाञ्जनप्रभं
स चित्रकूटं रघुवंशवर्धनः ॥ १९ ॥

इति पञ्चनवतितमः सर्गः ॥

रघुवंशवर्धन श्रीरामचन्द्र ने सीता जी से मंदाकिनी नदी के सम्बन्ध में इस प्रकार की वहुत सो उत्तम वातें कहीं । तदनन्तर उस रमणीय और नील वर्ण चित्रकूट पर्वत पर सीता को साथ लिये हुए विचरने लगे ॥ २० ॥

अयोध्याकाशड का पञ्चानवेष्टी सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

षणगणवतितमः सर्गः

— : * : —

तां तथा दर्शयित्वा तु मैथिलीं गिरिनिम्नगाम् ।
निषसाद गिरिप्रस्थेऽ सीतां मांसेन च्छन्दयन् ॥१॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जो सीता को मंदाकिनी नदी की शोभा दिखा कर, पर्वत की एक शिला पर बैठ गये और मांस का स्वाद बतला सीता को प्रसन्न करने लगे ॥ १ ॥

१ इतीव—एतादशं । (शि०) २ संगतं—समीचीनं । (शि०) ३ नयनाञ्जनप्रभं—नीलवर्णविशिष्टं । (शि०) ४ गिरिप्रस्थे—पर्वतैकशिलाया । (शि०) ५ छन्दयन्—तत्प्रीतिमुत्पादयन् । (शि०)

इदं मेध्यमिदं स्वादु निष्टप्तमिदमग्निना ।
एवमास्ते स धर्मत्मा सीतया सह राघवः ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने सीता से कहा—इखा, यह माँस पवित्र है,
और अग्नि में भूजने से यह स्वादिष्ट हो गया है। इस प्रकार श्रीराम-
चन्द्र जी सीता लहित वहाँ बैठे हुए थे कि ॥ २ ॥

तथा तत्रासतस्तस्य भरतस्योपयायिनः ।
सैन्यरेणुश्च शब्दश्च प्रादुरास्तां नभःस्पृश्यौ ॥ ३ ॥

इतने में उनके पास आती हुई भरत जी की सेना के चलने से
उड़ी हुई धूल और सैनिकों का कोलाहल आकाश को छूते हुए
प्रकट हुए ॥ ३ ॥

एतस्मिन्नन्तरे त्रस्ताः शब्देन महता ततः ।
अर्दिता यूथपा मत्ताः सयूथा दुदुवुर्दिशः ॥ ४ ॥

उस महाकोलाहल से त्रस्त हो बड़े बड़े यूथपति गजेन्द्र विकल
हो अपने अपने यूथों को ले इधर उधर भागने लगे ॥ ४ ॥

स तं सैन्यसमुद्भूतं शब्दं शुश्राव राघवः ।
तांश्च विप्रदुतान्सर्वान्यूथपानन्वैक्षत ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उस सेना के कोलाहल को सुना और
हाथियों को भागते हुए देखा ॥ ५ ॥

तांश्च विद्रवतो दृष्ट्वा तं च श्रुत्वा च निःस्वनम् ।
उवाच रामः सौमित्रिं लक्ष्मणं दीपतेजसम् ॥ ६ ॥

उन हाथियों को भागते देख और सेना का कोलाहल छुन,
श्रीरामचन्द्र जी ने तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहा ॥ ६ ॥

हन्त लक्ष्मण पश्येह सुमित्रा सुप्रजास्त्वया ।

भीमस्तनितगम्भीरस्तुमुलः श्रूयते स्वनः ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमसे पुत्र को पा कर सुमित्रा देवी सुपुत्रवती है । देखो तो यह भयझुर बादल की गडगडाहट जैसा गंभीर तुमुल शब्द कहाँ सुन पड़ता है ॥ ७ ॥

गजयुथानि वाऽरण्ये महिषा वा महावने ।

वित्रासिता मृगाः सिंहैः सहसा प्रदृता दिशः ॥ ८ ॥

जिसको सुन, सघन वनवासी हाथियों के सुराण, जंगली भैंसे और मृगों के सुराण सिंहों सहित भयभीत हो वडी तेज़ी से इधर उधर भाग रहे हैं ॥ ८ ॥

राजा वा राजमात्रोऽवा मृगयामटते वने ।

अन्यद्वा श्वापदं किञ्चित्सौमित्रे ज्ञातुमर्हसि ॥ ९ ॥

क्या कोई राजा या राजा के समान कोई पुरुष वन में शिकार खेलने आया है ? अथवा कोई महाभयझुर और घातक जन्तु इस वन में आ गया है ? हे लक्ष्मण ! ज़रा इस बात का पता तो लगाओ ॥ ९ ॥

सुदुश्चरो गिरिश्चायं पक्षिणामपि लक्ष्मण ।

सर्वमेतद्यथात्त्वमचिराज्ज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! इस पर्वत पर अब पक्षी भी तो भली भाँति नहीं धूम सकते । अतएव तुम शीघ्र इस बात का ठीक ठीक पता लगाओ ॥ १० ॥

१ राजमात्रः—राज्यतुल्य । (गो०)

स लक्ष्मणः सन्त्वरितः सालमारुह्यं पुष्पितम् ।
प्रेक्षमाणो दिशः सर्वाः पूर्वां दिशमुदैक्षत ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी तुरन्त एक फूले हुए साल वृक्ष पर चढ़ गये और चारों ओर देखते हुए उन्होंने पूर्व दिशा की ओर देखा ॥ ११ ॥

तदङ्गमुखः प्रेक्षमाणो ददर्श महतीं चमूम् ।
रथाश्वगजसम्बाधां यत्तैर्युक्तां पदातिभिः ॥ १२ ॥

फिर उत्तर दिशा की ओर देखने पर उन्हें उस ओर एक बड़ी सेना, जिसमें हाथी घोड़ों, रथों और सज्जे सज्जाये पैदल सिपाहियों की भीड़ देख पड़ी ॥ १२ ॥

तामश्वगजसम्पूर्णा रथध्वजविभूषिताम् ।
शशंस सेनां रामाय वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

हाथी घोड़ों से युक्त, रथ की पताकाओं से भूषित, उस सेना का वृत्तान्त निवेदन करते हुए लक्ष्मण जो ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १३ ॥

अग्निं संशमयत्वार्यः सीता च भजतां गुहाम् ।
सज्यं कुरुष्व चापं च शरांश्च कवचं तथा ॥ १४ ॥

आप अग्नि बुझा दीजिये, सीता जी से कहिये कि वे गुफा के भीतर जा बैठें । आप कवच पहिन लीजिये और धनुष तथा बाणों को सम्भालिये ॥ १४ ॥

तं रामः प्रुषव्याघो लक्ष्मणं प्रत्युवाच ह ।

अङ्गवेक्षस्व सौमित्रे कस्येमां मन्यसे चमूम् ॥ १५ ॥

यह सुन पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा है वत्स सौमित्र ! ध्वज चिन्हों को देख यह तो निश्चय करो कि, यह सेना है किसकी ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ।

दिधक्षन्निव तां सेनां रुषितः पावको यथा ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी क्रोध के मारे अग्नि के समान हो, उस सेना को मानों भस्म कर डालने के लिये यह बोले ॥ १६ ॥

सम्पन्नं राज्यमिच्छंस्तु व्यक्तं प्राप्याभिषेचनम् ।

आवां हन्तुं समभ्येति कैकेया भरतः सुतः ॥ १७ ॥

साफ देख पड़ता है कि, कैकेयी का पुत्र भरत, राज्याभिषेक पा कर भी अकण्टक राज्य करने की कामना से, हम दोनों का वध करने के लिये आता है ॥ १७ ॥

एष वै सुमहाऽश्रीमान्विटपी सम्प्रकाशते ।

विराजत्युद्गतस्कन्धः कोविदारध्वजो रथे ॥ १८ ॥

देखिये, वह जो बड़ा और शोभायमान वृक्ष देख पड़ता है, उसके पास जो रथ है, उस पर उजली शाखायुक्त कचनार वृक्ष के आकार की ध्वजा फहरा रही है ॥ १८ ॥

^१ भजन्त्येते यथाकाममश्वानारुह्ण शीघ्रगान् ।

एते भ्राजन्ति संहृष्टा गजानारुह्ण सादिनः^२ ॥ १९ ॥

^१ भजन्ति—इमं देशं प्राप्नुवन्ती । (गो०) ^२ सादिनः—गजारोहाः । (गो०)

बड़े तेज़ चलने वाले घोड़ों पर चढ़े हुए सवार इधर ही आ रहे हैं और हाथियों के सवार भी हाथियों पर हरित हो बैठे हुए हैं ॥ १६ ॥

गृहीतधनुषौ चावां गिरि वीर श्रयावहै ।

अथ वेहैव तिष्ठावः सन्नद्धावुद्यतायुधौ ॥ २० ॥

अब हे वीर ! हम दोनों धनुष बाण ले इस पर्वत पर चढ़ चलें अथवा दोनों जन, कवच पहिन और हथियार ले यहाँ खड़े रहें ॥ २० ॥

‘अपि नौ वशमागच्छेत्कोविदारध्वजो रणे ।

अपि द्रक्ष्यामि भरतं यत्कृते व्यसनं महत् ॥ २१ ॥

कोविदार ध्वजा वाले उन भरत को निश्चय ही हम लोग युद्ध में अपने वश में कर लेंगे जिसके कारण यह निर्पात्त पड़ी है, आज हम उसे समझ लेंगे ॥ २१ ॥

त्वया राघव सम्प्राप्तं सीतया च मया तथा ।

यन्निमित्तं भवान्राज्याच्चयुतो राघव शाश्वतात् ॥ २२ ॥

हे रघुनन्दन ! जिसके लिये तुम्हें, मुझे और सीता को इस दुर्दशा में पड़ना पड़ा है और जिसके कारण तुम सनातन राज्य से चयुत किये गये थे ॥ २२ ॥

सम्प्राप्तोऽयमर्दिवीर भरतो वध्य एव मे ।

भरतस्य वधे दोषं न हि पश्यामि राघव ॥ २३ ॥

वही भरत शशुभाव से आया है । अतः वह मार डालने योग्य है । हे राघव ! भरत के मार डालने में मुझे कुछ भी पाप नहीं जान पड़ता ॥ २३ ॥

पूर्वापकारिणां त्यागे न ह्यधर्मो विधीयते ।

पूर्वापकारी भरतस्त्यक्तधर्मश्च राघव ॥ २४ ॥

क्योंकि पूर्व अपकारी को मार डालने में कुछ भी पाप नहीं लगता । हे राघव ! यह भरत पूर्व में अपकार कर चुका है अतः इसको मार डालने ही में पुण्य है ॥ २४ ॥

एतस्मिन्निहते कृत्स्नामनुशाधि वसुन्धराम ।

अद्य पुत्रं हतं संख्ये^२ कैकेयी राज्यकामुका ॥ २५ ॥

इसको मार कर आप सम्पूर्ण पृथिवी का राज्य भोग कीजिये । आज वह कैकेयी जो राज्य पाने की कामना किये हुए है, अपने पुत्र को युद्ध में मरा हुआ देखेगी ॥ २५ ॥

मया पश्येत्युदुःखार्ता हस्तिभग्नमिव द्रुमम् ।

कैकेयीं च वधिष्यामि सानुबन्धां^३ सबान्धवाम् ॥ २६ ॥

हाथी के सेइ हुए वृक्ष की तरह, मेरे हाथ से भरत को मरा हुआ देख, कैकेयी अत्यन्त दुःखित होगी । मैं उस कैकेयी को भी उसके भाईबन्दों और मंथरादि सहित मार डालूँगा ॥ २६ ॥

कलुषेणाद्य महता मेदिनी परिमुच्यताम् ।

अद्येमं संयतं^४ क्रोधमसत्कारं^५ च मानद ॥ २७ ॥

जिससे कि यह पृथिवी उस कैकेयी रूपी महापाप से छुटकारा पा जाय । हे मान के देने वाले ! आज बहुत दिनों के रोके हुए क्रोध को और कैकेयी के किये हुए तिरस्कार को ॥ २७ ॥

^१ त्यागे—वधे । (गो०) ^२ संख्ये—युद्धे । (गो०) ^३ सानुबन्धां—मंथराद्यनुवंधसहितां । (गो०) ^४ संयतं—स्तम्भितं । (गो०) ^५ असत्कारं—तिरस्कारं । (गो०)

मोक्ष्यामि शत्रुसैन्येषु । कक्षेष्विव हुताशनम् ।
अद्यैतचित्रकूटस्य काननं निशितैः शरैः ॥ २८ ॥

शत्रु की सेना के ऊपर वैसे ही क्लोड्हँगा जैसे सूखे तृणों के ढेर पर आग ढोड़ी जाती है । आज ही मैं चित्रकूट के वन को अपने तीखे बाणों से ॥ २८ ॥

भिन्दञ्चशत्रुशरीराणि करिष्ये शोणितोक्षितम् ।
शरैर्निर्भिन्नहृदयान्कुञ्जरांस्तुरगांस्तथा ।
श्वापदाः परिकर्षन्तु नरांश्च निहतान्मया ॥ २९ ॥

शत्रुओं के शरीरों को काट काट कर उनके शरीर से निकले हुए रक से सोचूँगा । बाणों से चीरे हुए हृदय बाले हाथी धोड़ों को तथा मेरे मारे हुए मनुष्यों को जंगली जानवर घसीटेंगे ॥ २९ ॥

शराणां धनुषश्चाहमनृणोऽस्मि महामृधे ।
ससैन्यं भरतं हत्वा भविष्यामि न संशयः ॥ ३० ॥

इति षण्णवतितमः सर्गः ॥

आज मैं इस महासंग्राम में सेना सहित भरत का वध कर अपने धनुष और बाणों के ऋण से उऋण हो जाऊँगा—इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३० ॥

अयोध्याकाण्ड का द्वियानबेवा सर्ग पूरा हुआ ।

— : * : —

सप्तनवतितमः सर्गः

—:०:—

सुसंरब्धं तु सौमित्रिं लक्ष्मणं क्रोधमूर्छितम् ।

रामस्तु परिसान्त्वयाथ वचनं चेदपब्रवीत् ॥ १ ॥

इस प्रकार कुपित और लड़ने के लिये उद्यत लक्ष्मण को देख, उन्हें शान्त करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी कहने लगे ॥ १ ॥

किमत्र धनुषा कार्यमसिना वा सचर्मणा ।

महेष्वासे महाप्राङ्मे भरते स्वयमागते ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! बड़ा धनुष धारण करने वाले और बड़े पश्चिडत भरत जी जब स्वयं आये हैं, तब उनके सामने तुम्हारे धनुष और ढाल तलवार की ज़रूरत ही क्या है (अर्थात् उनसे तुम जीत नहीं सकते) ॥ २ ॥

पितुः सत्यं प्रतिश्रुत्य हत्वा भरतमागतम् ।

किं करिष्यामि राज्येन सापवादेन लक्ष्मण ॥ ३ ॥

मैं पिता की उस सत्यवाणी को मान कर भी यदि भरत जी का वध कर मैं राज्य प्राप्त करूँ भी तो ऐसे अपवाद युक्त राज्य को ले मैं करूँगा ही क्या ? ॥ ३ ॥

यदद्रव्यं वान्धवानां वा मित्राणां वा क्षये भवेत् ।

नाहं तत्प्रतिगृहीयां भक्षान्विषकृतानिव ॥ ४ ॥

जो धन, वन्धु वान्धवों और इष्ट मित्रों का वध करने से प्राप्त हो, उसे मैं तो ग्रहण नहीं कर सकता । क्योंकि मैं तो उसे विष मिले हुए भोजन की तरह त्याज्य समझता हूँ ॥ ४ ॥

धर्मपर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थं एतत्प्रतिशृणोमि ते ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुमसे यह बात दावे के साथ कहता हूँ कि, मैं तो केवल अपने भाइयों ही के लिये धर्म, अर्थ, काम अथवा पृथिवी का राज्य चाहता हूँ ॥ ५ ॥

भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य अथवा अपने हशियारों को छू कर तुमसे कहता हूँ कि, मैं जो राज्य की कापना करता से अपने भाइयों के पालन और सुख के लिये ही करता हूँ ॥ ६ ॥

नेयं मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा ।
न हीच्छेयमधर्मेण शक्रत्वमपि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! सागरा पृथिवी का राज्य हस्तगत करना मेरे लिये दुर्लभ नहीं, किन्तु पृथिवी नो है ही क्या, मैं अधर्मपूर्वक इन्द्रपद को भी लेना नहीं चाहता ॥ ७ ॥

यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं चापि मानद ।
भवेन्मप सुखं किञ्चिद्दस्म तत्कुरुतां शिखी ॥ ८ ॥

हे मान देने वाले ! तुम्हारे विना, भरत के विना और शत्रुघ्न के विना मुझे जिस किसी वस्तु से सुख मिलता है, उसे अग्निदेव भस्म कर डालें ॥ ८ ॥

मन्येऽहमागतोऽयोध्यां भरतो भ्रातृवत्सलः ।
मम प्राणात्प्रियतरः कुलधर्ममनुस्मरन् ॥ ९ ॥

श्रुत्वा प्रवाजितं मां हि जटावल्कलधारिणम् ।
जानक्या सहितं वीर त्वया च पुरुषर्षभ ॥ १० ॥
स्नेहेनाक्रान्तहृदयः शोकेनाकुलितेन्द्रियः ।
द्रष्टुमभ्यागतो श्वेष भरतो नान्यथाऽगतः ॥ ११ ॥

मुझे तो यह जान पड़ता है कि, मेरा प्राणप्रिय और आत्‌मा, वत्सल भाई जब ननिहाल से अयोध्या में आया और हम तीनों का जटा वल्कल धारण कर बन में आना सुना, तब स्नेह से पूर्ण हृदय और शोक से विकल हो तथा इस कुलधर्म को (कि बड़े का राज्याभिषेक इस कुल में सदा से होता आया है) स्मरण कर, हम लोगों से मिलने आया है। उसके यहाँ आने का अन्य कोई अभिप्राय तो नहीं जान पड़ता ॥ ६ ॥ १० ॥ ११ ॥

अम्बां च केकर्यां रुच्य परुषं चाप्रियं वदन् ।
प्रसाद्य पितरं श्रीमान्राज्यं मे दातुमागतः ॥ १२ ॥

(बहुत सम्भव है कि) अम्मा कैकेयी के ऊपर कुछ हो और छोटे को कुछ कठोर वचन कह तथा पिता को मना कर, मुझे मनाने का आया हो ॥ १२ ॥

^१प्राप्तकालं यदेषोऽस्मान्भरतो द्रष्टुमिच्छति ।
अस्मासु मनसाऽप्येष नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ १३ ॥

यह उचित ही है कि, भरत आ कर हमसे मिलें, परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता कि, भरत हमारे अनिष्ट को मन में कभी कल्पना भी करें ॥ १३ ॥

विप्रियं कुतपूर्वं ते भरतेन कदा नु किम् ।

ईदृशं वा भयं तेऽद्य भरतं योऽन्नं शङ्खसे ॥ १४ ॥

क्या भरत ने इससे पूर्व कभी तुम्हारा कुछ अहित किया था जो तुम उसकी ओर से भय की शङ्खा फर रहे हो ॥ १४ ॥

न हि ते निष्ठुरं वाच्यो भरतो नाप्रियं वचः ।

अहं ह्यप्रियमुक्तः स्यां भरतस्याप्रिये कृते ॥ १५ ॥

भरत के विषय में ऐसे कठोर और अप्रिय वचन तुम्हें न कहने चाहिये । क्योंकि भरत के बारे में जो कुछ तुम खरी खोटी बातें कहांगे या उसका कुछ अहित करोंगे तो मानों वह तुमने सुखीसे कठोर वचन कहे और मेरा हो अहित किया ॥ १५ ॥

कथं नु पुत्राः पितरं हन्युः कस्यांचिदापदि ।

भ्राता वा भ्रातरं हन्यात्सौमित्रे प्राणमात्मनः ॥ १६ ॥

हे लक्ष्मण ! ज़रा सोचो तो । चाहे कैसो भारी विपत्ति क्यों न आन पड़े, पिता किसी भी दशा में अपने पुत्र का या भाई प्राण के समान अपने भाई का वध नहीं कर सकता ॥ १६ ॥

यदि राज्यस्य हेतोस्त्वमिमां वाचं प्रभाषसे ।

वक्ष्यामि भरतं दृष्ट्वा राज्यमस्मै प्रदीयताम् ॥ १७ ॥

और यदि तुमने ये सब बातें राज्यपासि के लिये ही कहीं हों तो मैं भरत से कह कर राज्य तुमको दिज़वा दूँगा ॥ १७ ॥

उच्यमानोऽपि भरतो मया लक्ष्मण तत्त्वतः ।

राज्यमस्मै प्रयच्छेति बादमित्येव वक्ष्यति ॥ १८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं सत्य कहता हूँ कि, मेरे यह कहते ही कि “राज्य इसे दे दो” भरत सिवाय “बहुत अच्छा” कहने के ना तो कभी कहेगा ही नहीं ॥ १८ ॥

तथेत्को धर्मशीलेन भ्राता तस्य हिते रतः ।

लक्ष्मणः प्रविवेशेव स्वानि गात्राणि लज्जया ॥ १९ ॥

जब धर्मत्मा श्रीरामचन्द्र ने ऐसा कहा, तब उनके हितैषी लक्ष्मण जी बहुत लज्जित हुए और सकुड़ कर ऐसे हो गये, मानों शरीर के अंगों में घुसे जाते हो ॥ १९ ॥

तद्वाक्यं लक्ष्मणः श्रुत्वा व्रीडितः प्रत्युवाच ह ।

त्वां मन्ये द्रष्टुमायातः पिता दशरथः स्वयम् ॥ २० ॥

अनन्तर लक्ष्मण जी ने लज्जित हो यह उत्तर दिया कि, मुझे तो यह जान पड़ता है कि, महाराज दशरथ स्वयं ही तुमको देखने आये हैं ॥ २० ॥

व्रीडितं लक्ष्मणं हृष्टा राघवः प्रत्युवाच ह ।

एष मन्ये महावाहुरिहास्मान्द्रष्टुमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण को लज्जित देख (उनकी बात को पुष्ट करते हुए) श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—मैं भी यही समझता हूँ कि, मेरे पिता ही मुझे देखने को यहाँ आये हैं ॥ २१ ॥

अथवा नौ ध्रुवं मन्ये मन्यमानः सुखोचितौ ।

वनवासपनुध्याय गृहाय प्रतिनेष्यति ॥ २२ ॥

अथवा हम दीनों को सुख में रहने ग्राम्य मान, और वनवास के दुःखों को स्मरण कर, निश्चय ही हमें घर लौटा ले जायगे ॥ २२ ॥

इमां वाऽप्येष वैदेहीमत्यन्तसुखसेविनीम् ।

पिता मे राघवः श्रीमान्वनादादाय यास्यति ॥ २३ ॥

अथवा यह भी हो सकता है कि, इन सीता को, जो अत्यन्त सुख पाने के योग्य है, मेरे पिता महाराज दशरथ वन से लौटा कर इन्हें अपने साथ ले जाय ॥ २३ ॥

एतौ तौ सम्प्रकाशेते गोत्रवन्तौ^१ मनोरमौ ।

वायुवेगसमौ वीर जवनौ तुरगोत्तमौ ॥ २४ ॥

यह देखो श्रेष्ठकुल में उत्पन्न हुए सुन्दर वायु के समान शीघ्र-गामी, उनके द्वानों और उत्तम धोड़े अब साफ साफ देख पड़ते हैं ॥ २४ ॥

स एष सुमहाकायः कम्पते बाहिनीमुखे ।

नागः शत्रुञ्जयो नाम वृद्धस्तातस्य धीमतः ॥ २५ ॥

देखो, बुद्धिमान पिता जी के चढ़ने का वह बड़े ढीलडौल बाला और ऊँचा शत्रुञ्जय नामक हाथी भी, सेना के आगे आगे झूमता हुआ चला आता है ॥ २५ ॥

न तु पश्यामि तच्छत्रं पाण्डुरं लोकसत्कृतम् ।

पितुर्दिव्यं महाबाहो संशयो भवतीह मे ॥ २६ ॥

किन्तु हे महाबाहो ! पिता जी का लोकोत्तर, दिव्य एवं श्वेत छत्र न देखने से मेरे मन में सन्देह होता है ॥ २६ ॥

^१ गोत्रवन्तौ—प्रशस्तनामानौ । यद्वाप्रशस्तकुलप्रसूतौ । (गो०) २ वृद्धः—उत्तमतः । (गो०) ३ लोकसत्कृतं—लोकोत्तरं । (गो०)

वृक्षाग्रादवरोह त्वं कुरु लक्ष्मण मद्वचः ।

इतीव रामो धर्मात्मा सौमित्रिं तमुवाच ह ॥ २७ ॥

हे लक्ष्मण ! अब तुम मेरा कहा मान वृक्ष से उत्तर आओ ।
जब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से इस प्रकार कहा ॥ २७ ॥

अवतीर्य तु सालाग्रात्तस्मात्स समितिज्ञयः ।

लक्ष्मणः प्राञ्जलिर्भूत्वा तस्थै रामस्य पाश्वंतः ॥ २८ ॥

तब युद्ध में जीतने वाले लक्ष्मण जी उस शाल के पेड़ से
उत्तर हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी के पास आ लड़े हुए ॥ २८ ॥

भरतेनापि संदिष्टा संमर्दो न भवेदिति ।

समन्तात्तस्य शैलस्य सेना वासमकल्पयत् ॥ २९ ॥

उधर भरत जी ने सेना वालों को यह आज्ञा दी कि यहाँ
श्रीरामाश्रम में किसी प्रकार की गड़बड़ या भीड़माड़ न होने पावे ।
यह कह उन्होंने उस पर्वत के चारों ओर सेना टिका दी ॥ २९ ॥

अध्यर्धमिक्ष्वाकुचमूर्येजिनं पर्वतस्य सा ।

पाश्वेऽन्यविशदावृत्य गजवाजिरथाकुला ॥ ३० ॥

हाथी घोड़ों से पूर्ण वह सेना पहाड़ के चारों ओर छः कोस के
घेरे में टिक रही ॥ ३० ॥

सा चित्रकूटे^१ भरतेन सेना

धर्म पुरस्कृत्य विधूय दर्पम् ।

^१ चित्रकूटे—चित्रकूट समीपे । (गो०)

प्रसादनार्थं रघुनन्दनस्य

विराजते नीतिमता प्रणीता^१ ॥ ३१ ॥

इति सप्तनवतितमः सर्गः ॥

नीतिमान् भरत ने धर्मसार्ग से श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करने के लिये अपना अहङ्कार त्यागा और चित्रकूट पर्वत के पास सेना ला कर ठहरा दी ॥ ३१ ॥

अयोध्याकाशड का सत्तानबेवा सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

अष्टनवतितमः सर्गः

—:०:—

निवेश्य सेनां तु विभुः पद्मयां पादवतां^२ वरः ।

अभिगन्तुं स काकुत्स्थमियेष गुरुवर्तिनम्^३ ॥ १ ॥

प्राणधारियों में श्रेष्ठ और गुरु की शुश्रूषा करने वाले भरत जी सेना को इस भाँति से टिका कर श्रीरामचन्द्र जी से मिलने के लिये स्वयं पैदल ही चले ॥ १ ॥

निविष्टमात्रे सैन्ये तु यथोदेशं विनीतवत् ।

भरतो भ्रातरं वाक्यं शत्रुघ्नमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

भरत जी की आज्ञानुसार जब सेना ठहर गयी, तब भरत जी ने शत्रुघ्न से कहा ॥ २ ॥

१ प्रणीता—प्रानीता । (गो०) २ पादवतांवरः—चरप्राणिनश्रेष्ठः । (रा०)

३ गुरुवर्तिनं—गुरुशुश्रूषापरम् । (रा०) * पाठान्तरे—‘गुरुवर्तकम् ।’

छिप्रं वनमिदं सौम्य नरसङ्कृः समन्ततः ।
लुब्धैश्च । सहितैरेभिस्त्वमन्वेषितुपर्हसि ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! तुम शीघ्र इन सब लोगों को और इन बहेलियों को साथ ले इस वन में चारों ओर घूम फिर कर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम का पता लगाओ ॥ ३ ॥

गुहो ज्ञातिसहस्रेण शरचापासिधारिणा ।

समन्वेषतु काकुतस्थावस्मिन्परिवृतः स्वयम् ॥ ४ ॥

गुह भी अपने सहस्रों जाति वाले को साथ ले और तीर कमान पवं तलवार धारण कर (वन के जानवरों से आत्मरक्षार्थ) स्वयं उन दोनों को खोजे ॥ ४ ॥

अमात्यैः सह पैरैश्च गुरुभिश्च द्विजातिभिः ।

वनं सर्वं चरिष्यामि पदभ्यां परिवृतः स्वयम् ॥ ५ ॥

मैं स्वयं भी इन मंत्रियों, पुरवासियों गुरुओं और ब्राह्मणों को साथ ले पैदल हो इस सारे वन को मझाऊँगा ॥ ५ ॥

यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महावलम् ।

वैदेहीं वा महाभागां न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ६ ॥

जब तक मैं श्रीरामचन्द्र जी को, महावली लक्ष्मण को और महाभाष्यकती सीता को न देख लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ६ ॥

यावन्न चन्द्रसङ्काशं द्रक्ष्यामि शुभमाननम्* ।

भ्रातुः पद्मपलाशाक्षं न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ७ ॥

* लुब्धैश्च—व्यावै । (गा०) * पाठान्तरे—“यावन्न रामं द्रक्ष्यामि लक्ष्मणं वा महावलम् ।”

जब तक मैं चन्द्रमा के समान और कमलनयन बड़े भाई श्रीरामचन्द्र के प्रसन्नमुख के दर्शन न कर लूँगा, तब तक मुझे चैन न पड़ेगा ॥ ७ ॥

यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ ।

शिरसा धारयिष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ८ ॥

जब तक मैं श्रीरामचन्द्र जी के राजचिन्हों से युक्त चरणयुगल अपने मस्तक पर धारण न कर लूँगा तब तक मेरा मन शान्त न होगा ॥ ८ ॥

यावन्न राज्ये राज्यार्हः पितृपैतामहे स्थितः ।

अभिषेकजलक्ष्मिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यति ॥ ९ ॥

जब तक राज्य करने योग्य श्रीरामचन्द्र जी उस पितृपितामह के राज्य पर अभिषेक द्वारा अभिषेक के जल से आर्द्ध (भर्गे) न होंगे, तब तक मेरा जी ठिकाने न होगा ॥ ९ ॥

सिद्धार्थः खलु सौमित्रियश्चन्द्रविमलोपमम् ।

मुखं पश्यति रामस्य राजीवाक्षे महावृति ॥ १० ॥

धन्य है लक्ष्मण, जो श्रीरामचन्द्र के उस निर्मल चन्द्रोपम महावृति युक्त एवं कमल सदग नेत्र वाले मुख को देखा करते हैं ॥ १० ॥

कृतकृत्या महाभागा वैदेही जनकात्मजा ।

भर्तारं सागरान्तायाः पृथिव्या याऽनुगच्छति ॥ ११ ॥

वे महाभाग्यवती जानकी जी धन्य हैं, जो ससागरा पृथिवी के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी की अनुगामिनी हैं ॥ ११ ॥

सुभगश्चित्रकूटोऽसौ गिरिराजोपमो गिरिः ।

यस्मिन्वसति काकुतस्थः कुवेर इव नन्दने ॥ १२ ॥

हिमालय पर्वत के समाना यह चित्रकूट पर्वत भी धन्य है ।
क्योंकि इस पर श्रीरामचन्द्र जो उसी प्रकार वास करते हैं, जिस
प्रकार कुवेर चैत्ररथ वन में रहते हैं ॥ १२ ॥

कृतकार्यमिदं दुर्गं वनं व्यालनिषेवितम् ।

यदध्यास्ते महातेजा रामः शस्त्रभृतांवरः ॥ १३ ॥

यह वन जो सर्पों से संवित होने के कारण दुर्गम है, कृतार्थ
हुआ, जिसमें शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र रहते
हैं ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा भरतः पुरुषर्षभः ।

पदभ्यामेव महावाहुः प्रविवेश महद्वनम् ॥ १४ ॥

इस प्रकार कहते कहते, महातेजस्वी पुरुषश्रेष्ठ भरत ने उस
वन में पैदल ही प्रवेश किया ॥ १४ ॥

स तानि द्रुमजालानि जातानि गिरिसानुषु ।

पुष्पिताग्राणि मध्येन जगाम वदतांवरः ॥ १५ ॥

बोलने वालों में श्रेष्ठ महात्मा भरत जो पर्वत के शिखरों पर
लगे हुए फूले फले वृक्षों के समूहों के बीच में जा पहुँचे ॥ १५ ॥

स गिरेश्चित्रकूटस्य सालमासाद्य पुष्पितम् ।

रामाश्रमगतस्याम्रेदर्दर्श ध्वजमुच्छृतम् ॥ १६ ॥

वहाँ एक साथू के वृक्ष के ऊपर चढ़ कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जलती हुई अग्नि का बहुत ऊँचा उठा हुआ भुआ देखा ॥ २६ ॥

तं दृष्टा भरतः श्रीमान्मुमोदः सहवान्धवः ।

अत्र राम इति ज्ञात्वा गतः पारमिवाम्भसः ॥ २७ ॥

तब तो भरत जो अपने वान्धवों सहित हर्षित हुए और यहाँ श्रीरामचन्द्र जो रहते हैं—यह निश्चय कर, मानों समुद्र के पार हुए ॥ २७ ॥

स चित्रकूटे तु गिरौ निशम्य

रामाश्रमं पुण्यजनोपपन्नम् ।

गुहेन सार्धं त्वरितो जगाम

पुनर्निवेश्यैव चर्मं महात्मा ॥ २८ ॥

इति अष्टनवातितमः सर्गः ॥

इस प्रकार उस गिरिराज चित्रकूट पर तपस्वियों से सेवित, श्रीरामाश्रम को पा कर, महात्मा भरत जो, गुह के साथ ले और सेना की यथास्थान फिर उहरा शीघ्रता से आश्रम को और गये ॥ २८ ॥

अर्याध्याकाशड का अट्ठानवें सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

एकोनशततमः सर्गः

—:०:—

निविष्टायां तु सेनायामुत्सुको भरतस्तदा ।

जगाम भ्रात द्रष्टुं शत्रुघ्नमनुदर्शयन् ॥ १ ॥

सेना के टिक जाने पर, भरत जी उत्सुक हो, शत्रुघ्न जी को श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम के चिन्हादि दिखाते हुए, भाई के दर्शन की कामना से, चले ॥ १ ॥

ऋषिं वसिष्ठं सन्दिश्य मातृमें शीघ्रमानय ।

इति त्वरितमग्रे स जगाम गुरुवत्सलः ॥ २ ॥

भरत ने वशिष्ठ जी से कहा कि, आप मेरी माताओं को शीघ्र ले आइये, (मैं आगे चलता हूँ) यह कह गुरुवत्सल भरत शीघ्रता से आगे चले ॥ २ ॥

सुमन्त्रस्त्वपि शत्रुघ्नमदूरादन्वपद्यत ।

रामदर्शनजस्तर्षी भरतस्येव तस्य च ॥ ३ ॥

इतने में सुमन्त्र भी शत्रुघ्न को भरत के पीछे जाते देख, स्वयं शत्रुघ्न के पीछे हो लिये । क्योंकि भरत की तरह सुमन्त्र को भी श्रीरामचन्द्र जी के दर्शन की उक्तिंठा हो रही थी ॥ ३ ॥

गच्छन्नेवाथ भरतस्तापसालयसंस्थिताम् ।

भ्रातुः पर्णकुटीं श्रीमानुटजं च दर्दश ह ॥ ४ ॥

भरत जी ने जाते जाते देखा कि, तपस्त्रियों के आश्रम के बीच में भाई की पर्णकुटी बनी हुई है ॥ ४ ॥

शालायास्त्वग्रतस्तस्या दर्दश भरतस्तदा ।

१काष्टानि चावभग्नानि २पुष्पाण्यपचितानि च ॥ ५ ॥

१ काष्टानि—रात्रीप्रकाशायज्वलनीयानि । (गो०) २ पुष्पाणि पूजार्थानि ।

भरत जी ने यह भी देखा कि, उस पर्णशाला के सामने ही (रात में प्रकाश करने के लिये) दूटों लकड़ियाँ और प्रजन के लिये फूल चुन चुन कर रखे हुए हैं ॥ ५ ॥

सलक्ष्मणस्य रामस्य ददर्शश्रमपीयुषः ।

कृतं वृक्षेष्वभिज्ञानं कुशचीरैः कचित्कचित् ॥ ६ ॥

और आश्रम की पहचान के लिये आश्रमवासी श्रीराम लक्ष्मण ने कहीं कहीं वृक्षों में कुश और चीर बांध कर चिन्ह कर दिये हैं ॥ ६ ॥

ददर्श च वने तस्मिन्महतः सञ्चयान्कृतान् ।

मृगाणां मद्विषाणां चं करीषैः शीतकारणात् ॥ ७ ॥

भरत जी ने देखा कि, शीत से बचने के लिये अथवा तापने के लिये, मृगों और भैंसों के गोबर के सूखे कंडों के ढेर लगे हैं ॥ ७ ॥

गच्छन्वेव महावाहुर्धृतिमान्भरतस्तदा ।

शत्रुघ्नं चाब्रवीद्वृष्टस्तानमात्यांश सर्वशः ॥ ८ ॥

मन्ये प्राप्ताः स्म तं देशं भरद्वाजो यमब्रवीत् ।

नातिदूरे हि मन्येऽहं नदीं मन्दाकिनीमितः ॥ ९ ॥

महावाहु धृतिवान् भरत जी ने चलते चलते प्रसन्न हो अपने सब मंत्रियों और शत्रुघ्न से कहा—जान पड़ता है, हम लोग उस स्थान पर पहुँच गये जिसे भरद्वाज जी ने बतलाया था । मैं समझता हूँ कि, यहाँ से मन्दाकिनी नदी कहीं समीप ही है ॥ ८ ॥ ९ ॥

उच्चर्वद्वानि चीराणि लक्ष्मणेन भवेदयम् ।

अभिज्ञानकृतः पन्था १ विकाले गन्तुमिच्छता ॥ १० ॥

यहीं इतनी ऊँचाई पर लक्ष्मण ने चीरों को बांधा है । यह इस लिये कि, रातविरात में जब लक्ष्मण को पानी लाने के लिये जाना पड़ता होगा, तब इन चीरचिन्हों को देख, वे आश्रम में आ जाते होंगे ॥ १० ॥

इदं चोदात्तदन्तानां कुञ्जराणां तरस्विनाम् ३ ।

शैलपाशर्वे परिक्रान्तमन्यमभिगर्जताम् ॥ ११ ॥

वेगवान् एवं बड़े बड़े दाँतों वाले हाथी जो बड़ा नाद किया करते हैं, पर्वत के पास यह उन्होंके आने जाने का रास्ता जान पड़ता है ॥ ११ ॥

यमेवाधातुमिच्छन्ति तापसाः सततं बने ।

तस्यासौ दृश्यते धूमः सङ्कुलः कृष्णवर्त्मनः ॥ १२ ॥

तपस्वी लोग सायंप्रातः होम करने के लिये सदा जिस अग्नि को स्थापित रखा करते हैं, उसीका यह काला काला धुआँ देख पड़ता है ॥ १२ ॥

अत्राहं पुरुषव्याघ्रं गुरुसंस्कारकारिणम् ।

आर्यं द्रक्ष्यामि संहष्टो महर्षिमिव राघवम् ॥ १३ ॥

अतः इसी स्थान पर उस पुरुषसिंह एवं श्रेष्ठ संस्कार करने वाले श्रीराम को, हर्ष युक्त महर्षि के समान बैठा हुआ मैं देखूँगा ॥ १३ ॥

१ विकाल—अकाले सायंकालादौ । (गो०) २ तरस्विना—वेगवतां ।

(गो०) ३ गुरुसंस्कारकारिणम्—गुरुसंस्कारः श्रेष्ठसंस्कारः मन्त्रोपदेशादिः तत्कारिणं । (गो०)

अथ गत्वा मुहूर्तं तु चित्रकूटं स राघवः ।

मन्दाकिनीमनुपासस्तं जनं^१ चेदमब्रवीत् ॥ १४ ॥

तदनन्तर भरत जो कुछ समय तक आगे चल, मन्दाकिनी नदी के समीप चित्रकूट पर्वत पर जा पहुँचे और शत्रुघ्नादि अपने साथियों से कहने लगे ॥ १४ ॥

जगत्यां पुरुषव्याघ्र आस्ते वीरासनं रतः ।

जनेन्द्रो निर्जनं प्राप्य धिङ्मे जन्म सजीवितम् ॥ १५ ॥

देखो वह पुरुषसिंह और नरेन्द्र हो कर पृथिवी पर वीरासन से बैठे हैं और इस निर्जनस्थान में रहते हैं। हा ! मेरे जीवन और जन्म का धिक्कार है ॥ १५ ॥

मत्कुते व्यसनं प्राप्तो लोकनाथो महाद्युतिः ।

सर्वान्कामान्परित्यज्य वने वसति राघवः ॥ १६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, सब के स्वामी और महाद्युतिमान श्रीरामचन्द्र जी, दारुण दुरवस्था में पड़े हैं और सब प्रकार के सुखभेगों से बच्चित हो, वन में वास करते हैं ॥ १६ ॥

इति लोकसमाक्रुष्टः पादेष्वद्य प्रसादयन् ।

रामस्य निपतिष्यामि सीतायाश्च पुनः पुनः* ॥ १७ ॥

इससे मेरी सब में बड़ी बदनामी हुई है (अतः उस बदनामी को दूर करने के लिए) मैं बार बार श्रीरामचन्द्र और सीता के चरणों पर गिर, उनको प्रसन्न करूँगा ॥ १७ ॥

१ तंजनं—सहागतं शत्रुघ्नादिकम् । (गो०) २ जगत्यां—भूमौ । (गो०)

* पाठान्तरे—“सीताया लक्ष्मणस्य । ”

एवं स विलपस्तस्मिन्वने दशरथात्मजः ।

ददर्श महतीं पुण्यां पर्णशालां मनोरमाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार उन में विलाप करते हुए भरत जो ने उस विशाल पवित्र एवं मनोहर (उम) पर्णकुटी को देखा, ॥ १८ ॥

सालतालाश्वकर्णानां पर्णैर्वहुभिराहृताम् ।

विशालां मृदुभिस्तीर्णां कुर्शैर्वेदिमिवाध्वरे ॥ १९ ॥

जो साखू, ताल और अश्वकणे नाम के बृक्षों के बहुत से पत्तों से हाथी गयी थी और खूब लंबी चौड़ी और कोमल थी, देखने पर वह ऐसी जान पड़ती, मानो यज्ञवेदी कुशों से ढकी हुई है ॥ १९ ॥

शक्रायुधनिकाशैश्च कार्मुकैर्भारसाधनैः ।

रुक्मपृष्ठैर्महासारैः शोभितां शत्रुवाधकैः ॥ २० ॥

उसमें जहाँ तहीं, इन्द्र के वज्र के समान, युद्ध में बड़े बड़े काम करने वाले और सुवर्णरचित पीठ वाले, बड़े भारी भारी तथा शत्रु को वाधा देने वाले धनुष, टंगे हुए शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

अर्करशिपश्रतीकाशैर्धैरस्तूर्णीगतैः शरैः ।

शोभितां दीप्तवदनैः सपैर्भैर्गवतीमिव ॥ २१ ॥

उनके पास ही नरकसों में भरे सूर्य की किरणों के समान चमकीले एवं भयझूर वाण शोभा दे रहे थे । मानों प्रदीप मुख सर्पों से भोगवती नाम्नो नगरी सुशोभित हो ॥ २१ ॥

? नारसाधनैः—गुरुतरणकार्य साधनमतैः । (गो०)

‘महारजतवासेभ्यामसिभ्यां च विराजिताम् ।

रुक्मिन्दुविचित्राभ्यां चर्मभ्यां चापि शोभिताम् ॥२२॥

वहाँ पर दो तलचारे भी रखी थीं, जिनको साने की म्याने थीं और उनके पास ही दो ढालें भी रखी थीं, जिन पर साने के फूल बने हुए थे ॥ २२ ॥

गोधाङ्गुलित्रैरासकैश्चित्रैः काञ्छनभूषितैः ।

अरिसङ्घैरनाधृष्यां मृगैः ३सिंहगुहामिव ॥ २३ ॥

वहाँ कितने ही गोधा के बाम के और काञ्छनभूषित तरह तरह के अंगुलित्राण (दस्ताने) भी शोभित हो रहे थे । जिस पर्णशाला में इस प्रकार के शब्द रखे थे, वह शत्रुओं द्वारा उसी प्रकार अभेद्य थी, जिस प्रकार सिंह की गुफा, हिरनों के झुणडों के लिये अभेद्य होती है ॥ २३ ॥

प्रागुदक्षप्रवणां वेदिं विशालां दीपपावकाम् ।

ददर्श भरतस्तत्र पुण्यां रामनिवेशने ॥ २४ ॥

तदनन्तर भरत जो ने श्रीरामचन्द्र जी के वासस्थान में प्रउच्चलित अग्नियुक्त इगानकोण में अनि विशाल एवं पवित्र वेदों देखी ॥ २४ ॥

निरीक्ष्य स मुहूर्तं तु ददर्श भरतो गुरुम् ।

उठजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम् ॥ २५ ॥

भरत जो एक मुहूर्त तक तो पर्णशाला की बनावट और सजावट देखते रहे, तदनन्तर उन्होंने पर्णशाला में बैठे हुए और जटा जूट धारण किये हुए बड़े भाई श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ २५ ॥

१ महारजतवासेभ्यां — स्वर्णमयकेशाभ्यां । (गो०) २ सिंहगुहामिवपर्ण-
शालाददर्शेत्यन्वयः । (रा०)

तं तु कृष्णाजिनधरं चीरवल्कलवाससम् ।

ददर्श राममासीनमभितः^१ पावकोपमम् ॥ २६ ॥

भरत जी ने अग्नि की तरह (दुर्दर्श) श्रीरामचन्द्र को ऊपर से काले हिरन का चाम ओढ़े और कमर पर चीर बल्कल पहिने हुए, कुटी के पास ही बैठा देखा ॥ २६ ॥

सिंहस्कन्धं महावाहुं पुण्डरीकनिभेषणम् ।

पृथिव्याः सागरान्ताया भर्तारं धर्मचारिणम् ॥ २७ ॥

उनको भुजाएँ घुटनों तक लंबी, उनके कंधे सिंह के कंधों के समान ऊँचे और नेत्र कमल के समान थे । वे ससागरा पृथिवी के स्वामी और धर्मचारी थे ॥ २७ ॥

उपविष्टं महावाहुं ब्रह्माणमिव शाश्वतम् ।

स्थणिदले दर्भसंस्तीर्णे सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २८ ॥

उनको भरत ने सीता और लक्ष्मण के साथ एक चबूतरे पर, कुश के आसन के ऊपर, शाश्वत ब्रह्म की तरह बैठा हुआ देखा ॥ २८ ॥

तं हृष्टा भरतः श्रीमान्दुःखशोकपरिप्लुतः ।

अभ्यधावत धर्मात्मा भरतः कैक्यीसुतः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी को (इस प्रकार) बैठा हुआ देख, कैक्यीनन्दन धर्मात्मा भरत, दुःख और मोह से विकल हो, उनकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

दृष्टैव विललापार्तो वाष्पसन्दिग्धया गिरा ।
अशक्नुवन्धारयितुं धैर्याद्वचनमब्रवीत् ॥ ३० ॥

श्रीरामचन्द्र को देखते ही भरत जी का कण्ठ अति दुःखित होने के कारण गटगढ़ हो गया और वे विज्ञाप करने लगे । उस दुःख के बेग को रोकना यथापि उनके लिये कठिन था, तथापि किसी प्रकार धैर्य धारणा कर, वे यह बोले ॥ ३० ॥

यः 'संसदि प्रकृतिभिर्भवेत्युक्ते उपासितुम् ।
वन्यैर्मृगैरूपासीनः सोऽयमास्ते ममाग्रजः ॥ ३१ ॥

हाय ! जो राजसभा में बैठ मंत्रियों द्वारा उपासना किये जाने योग्य हैं, वे मेरे बड़े भाई आज वन्यमृगों द्वारा उपासित हो, बैठे हैं । अर्थात् जो श्रीरामचन्द्र राजसभा में मंत्रियों के बीच बैठने योग्य हैं, वे वनजन्तुओं के बीच बैठे हैं ॥ ३१ ॥

वासोभिर्बहुसाहस्रैर्योः महात्मा पुरोचितः ।
मृगाजिने सोऽयमिह प्रवस्ते धर्ममाचरन् ॥ ३२ ॥

जो कितने ही हज़ारों के मूल्य वाले वस्त्र धारण करने योग्य हैं, वे महात्मा पेरे उत्था भ्राता धर्मचिरण के लिये हिरन का चाम ओढ़े हुए (यहाँ) बसे हुए हैं ॥ ३२ ॥

अधारयद्यो विविधाश्चित्राः सुमनसस्तदा ।
सोऽयं जटाभारमिमं सहते राघवः कथम् ॥ ३३ ॥

१ संसदि—सभायाँ । (गो०) २ युक्तः—अहः । (गो०) ३ बहु-
साहस्रैः—बहुसहस्रमूल्यैः । (गो०)

जो सदा तरह तरह के चित्र विचित्र पुर्णों की माला धारण करते थे, वही श्रीरामचन्द्र आज इस जटाभार को किस प्रकार सहन कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

यस्य यज्ञेर्यथोदिष्ट्युक्तो धर्मस्य सञ्चयः ।

शरीरकंशसंभूतं स धर्मं परिमार्गते ॥ ३४ ॥

जिनको ऋषि के द्वारा यथाविधि किये गये यज्ञों से पुण्य-सञ्चय करना उचित था, वे श्रीरामचन्द्र अपने ही शरीर को कष्ट देकर पुण्यसञ्चय कर रहे हैं ॥ ३४ ॥

चन्दनेन महाहेण यस्याङ्गमुपसेवितम् ।

मलेन तस्याङ्गमिदं कथमार्यस्य सेव्यते ॥ ३५ ॥

जिनके शरीर में मूल्यवान चन्दन का लेप किया जाता था, उन मेरे ज्येष्ठ भ्राता का शरीर देखो तो कैसा मैला हो रहा है ॥ ३५ ॥

मन्त्रिमित्तमिदं दुःखं प्राप्तो रामः सुखोचितः ।

धिग्जीवितं नृशंसस्य मम लोकविगर्हितम् ॥ ३६ ॥

हा ! मेरे ही पीछे, इन सुखों का उपभोग करने वाले श्रीराम-चन्द्र यह कष्ट भोग रहे हैं । हा ! मुझ नृशंस और लोकनिन्दित के इस जीवन को धिक्कार है ॥ ३६ ॥

इत्येवं विलपन्दीनः प्रस्तिन्नमुखपङ्कजः ।

पादावप्राप्य रामस्य पपात भरतो रुदन् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार विलाप करते हुए भरत, दुःखी थे । उनका मुख-कमल पसीने से तर था । उन्होंने चाहा कि, दौड़ कर श्रीरामचन्द्र

के चरणों में गिरे, किन्तु वहाँ तक न पहुँच, वे रो कर बीच ही में
मूर्छित हो गिर पड़े ॥ ३७ ॥

दुःखाभितसो भरतो राजपुत्रो महाबलः ।

उक्त्वायेऽति सकृदीनं पुनर्नोवाच किञ्चन ॥ ३८ ॥

उस समय दुःख सत्त्व और कातर होने के कारण महाबली
राजकुमार भरत केवल एक बार “आर्य” शब्द का उच्चारण कर,
फिर और कुद्र न बोल सके ॥ ३८ ॥

बाष्पापिहितकण्ठश्च प्रेक्ष्य रामं यशस्विनम् ।

आर्येत्येवाथ संक्रुश्य व्याहर्तुं नाशकत्ततःः ॥ ३९ ॥

क्योंकि यशस्वी श्रीरामचन्द्र को देख कर, भरत जी का कण्ठ
रुद्ध हो गया था । देख केवल “आर्य” कह कर बाकूशकि-रहित
से हो गये ॥ ३९ ॥

शत्रुघ्नश्चापि रामस्य ववन्दे चरणो रुदन् ।

तावृभौ स समालिङ्ग्य रामश्चाश्रृण्यवर्तयत् ॥ ४० ॥

रीते हुए शत्रुघ्न ने श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को प्रणाम किया ।
तब श्रीरामचन्द्र जी इन दोनों भाइयों को ढाती से लगा स्वयं रोने
लगे ॥ ४० ॥

ततः सुपन्त्रेण गुहेन चैव

समीयतू राजसुतावरण्ये ।

दिवाकरश्चैव निशाकरश्च

यथाऽम्बरे शुक्रबृहस्पतिभ्याम् ॥ ४१ ॥

* पाठान्तरे—“तदा” ।

तदनन्तर सुमंत्र और गुह भी श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जो से मिले। मानों आकाश में सूर्य और चन्द्र, शुक्र और वृहस्पति में मिल रहे हैं ॥ ४१ ॥

तान्पार्थिवान्वारणयुथपाभान्

समागतांस्तत्र महत्यरण्ये ।

वनोक्सस्तेऽपि समीक्ष्य सर्वे-

उप्यश्रृण्यमुञ्चन्प्रविहाय हर्षम् ॥ ४२ ॥

इति एकोनशततमः सर्गः ॥

इस समय हाथियों पर सबारी करने योग्य इन राजकुमारों (श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न) को उस महावन में पैदल आये हुए देख, वहाँ के वनवासी भी दुःखी हो, रोने लगे ॥ ४२ ॥

अयोध्याकाण्डे का नियानवेच्छा सर्ग समाप्त हुआ ।



शततमः सर्गः

—:०:—

जटिलं चीरवसनं प्राञ्जलिं पतितं भुवि ।

दर्दशं रामो दुर्दर्शं युगान्ते भास्करं यथा ॥ १ ॥

जटाजूट धारण किये और चीर पहिने श्रीरामचन्द्र ने भरत जी को हाथ जोड़, पृथिवी पर पड़ा हुआ देखा। मानों प्रलय कालीन दुर्दर्श सूर्य तेजहीन हो पृथिवी पर पड़ा हो ॥ १ ॥

कथश्चिदभिविज्ञाय विवर्णवदनं कृशम् ।

भ्रातरं भरतं रामः परिजग्राह बाहुना ॥ २ ॥

बड़ी कठिनाई से विवर्ण मुख और अस्थन्त दुबले पतले भाई भरत को पहिचान, श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें दोनों हाथों से पकड़ कर उठाया ॥ २ ॥

आग्राय रामस्तं मूर्धिन परिष्वज्य च राघवः ।

अङ्के भरतमारोप्य पर्यपृच्छत्समाहितः ॥ ३ ॥

अनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने उनके मस्तक को सुँघ, उनको छाती से लगा और उनको अपनी गोदी में बिठा, सावधानतापूर्वक उनसे यह बात पूँछी ॥ ३ ॥

क नु तेऽभूतिपता तात यदरण्यं त्वमागतः ।

न हि त्वं जीवतस्तस्य वनमागन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

हे तात ! तुम्हारे पिता कहाँ हैं, जो तुम इस वन में आये हो ? (कोकि) उनके जीवित रहते तुम वन में नहीं आ सकते थे ॥ ४ ॥

चिरस्य बत पश्यामि दूराद्वरतमागतम् ।

‘दुष्प्रतीकमरण्येऽस्मिन्कि तात वनमागतः ॥ ५ ॥

बड़े खेद की बात है कि, बहुत दिनों बाद और बहुत दूर से चल कर आने के कारण विवर्ण मुख एवं कृश भरत को मैं कठिनाई से पहिचान पाया । हे भाई ! तुम इस वन में किस लिये आये हो ? ॥ ५ ॥

कच्चिद्वारयते तात राजा यत्त्वमिहागतः ।

कच्चिन्न दीनः सहसा राजा लोकान्तरं गतः ॥ ६ ॥

^१ दुष्प्रतीक—तैवर्ण्यादिनादुर्ज्ञेयावयवं । (गो०)

हे भाई ! तुम जो यहाँ आये हो सो यह तो कहा कि, पिता जी तो मज़े में हैं ? कहों शोक से विकल हो महाराज अचानक लोकान्तरित तो नहीं हुए ॥ ६ ॥

कच्चित्सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम् ।

कच्चिच्छुश्रूषे तात पितरं सत्यविक्रमम् ॥ ७ ॥

हे सौम्य ! तुम अभी बालक हो, सो कहों उस सनातन राज्य में तो कुछ गड़वड़ी नहीं हुई ? हे सत्यविक्रम ! तुम पिता की सेवा तो भली भाँति करते हो ? ॥ ७ ॥

कच्चिद्विषये राजा कुशली^१ सत्यसङ्गरः ।

राजसूयाश्वमेयानामाहर्ता धर्मनिश्चयः ॥ ८ ॥

राजसूय और अश्वमेध यज्ञों के करने वाले, धर्म में निश्चित वृद्धि रखने वाले, एवं सत्यप्रतिज्ञ महाराज तो स्वस्थ्य हैं ? ॥ ८ ॥

स कच्चिद्व्राहणो विद्वान्धर्मनित्यो महाद्युतिः ।

इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत्तात पूज्यते ॥ ९ ॥

क्या उस विद्वान एवं महातेजस्वी ब्राह्मण का, जो नित्य धर्मकार्यों में तत्पर रहता है और इक्ष्वाकुकुल का उपाध्याय है, यथावत् सत्कार किया जाता है ? ॥ ९ ॥

सा तात कच्चित्कौसल्या सुमित्रा च प्रजावती ।

सुखिनी कच्चिदार्या च देवी नन्दिति कैकर्यी ॥ १० ॥

हे तात ! माता कौशल्या और सुपुत्रवती माता सुमित्रा तो प्रसन्न हैं ? और परमश्रेष्ठा देवी कैकर्यों तो आनन्द से हैं ? ॥ १० ॥

^१ कुशली—अनामयः । (गो०)

कच्चिद्विनयसम्पन्नः कुलपुत्रोऽ बहुश्रुतः ।

अनसूयुरनुद्रष्टा^१ सत्कृतस्तेऽ पुरोहितः^२ ॥ ११ ॥

हे तात ! विनम्र, अनुभवी, सत्कुलोत्पन्न एवं असूयारहित और समस्त सत्कर्मनुष्ठानों में निपुण, हमजाती और पुरोहित वसिष्ठ जी के पुत्र का सत्कार तो तुम करते हो न ? ॥ ११ ॥

कच्चिदपि षु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।

हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते^३ सदा ॥ १२ ॥

अग्निहोत्र के कार्य में नियुक्त, हवन की विधियों को साझोपाङ्ग जानने वाला, मतिमान और सरल स्वभाव पुरोहित, हवनकाल उपस्थित होने पर, तुमको सदा सूचना देता रहता है कि, नहीं ? ॥ १२ ॥

कच्चिदेवान्पितृन्मातृर्गुरुन्पितृसमानपि ।

दृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे ॥ १३ ॥

हे तात ! देवता, पिता, माता, गुरु और पिता के समान पूज्य, बड़े बूढ़ों, वैद्यों और ब्राह्मणों को सब तरह से तुम मानते हो न ? ॥ १३ ॥

इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम् ।

सुधन्वानमुपाध्यार्थं कच्चित्त्वं तात मन्यसे ॥ १४ ॥

१ कुलपुत्रः—सत्कुलप्रसूतः । (गो०) २ अनुद्रष्टा—सत्कुल सत्कर्म निपुणः । (शि०) ३ ते तव सवयस्कः । (शि०) ४ पुरोहितः—वसिष्ठपुत्रः । (शि०) ५ वेदयते—तुष्यंज्ञापयति कच्चित् । (गो०) ६ इष्ववः—अमंत्रकाबाणाः । (गो०) ७ अष्टाणिः—समंत्रकः । ८ अर्थशास्त्रं—नीति-शास्त्रं । (गो०) ९ उपाध्यायं—धनुर्वेदाचार्यं । (गो०)

हे तात ! अख्य (जो मंत्रवल से चलाये जाय) शख्य (जो विना मंत्र के चलाये जाय) से सम्पन्न, नीति-शास्त्र-विशारद, सुधन्वा नाम के धनुर्वेदाचार्य का तो यथोचित मान तुम करते हो ? ॥ १४ ॥

कच्चिदात्मसमाः॑ शूराः॒ श्रुतवन्ताः॒ जितेन्द्रियाः॒ ।

‘कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः ॥ १५ ॥

हे तात ! विश्वसनीय, धीर, नीतिशास्त्रज्ञ, लालच में न फँसने वाले और प्रामाणिक कुलात्पन्न लोगों को तुमने अपना मंत्री बनाया कि नहीं ? ॥ १५ ॥

मन्त्रो विजयमूलं हि राजां भवति राघव ।

६ सुसंबृतो मन्त्रधरैरमात्यैः॒ षश्चकोविदैः॒ ॥ १६ ॥

क्योंकि हे राघव ! नीतिशास्त्रनिपुण एकान्त भेद की सलाह करने योग्य मंत्रियों द्वारा रक्षित, गुप्त परामर्श ही, राजाओं के लिये विजय का मूल है । (अर्थात् जिन राजाओं के मंत्री परामर्शों को गुप्त रखने वाले होते हैं या जिन राजाओं के परामर्श गुप्त रहते हैं उन्हीं राजाओं की जीत होती है) ॥ १६ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषीः॒ कच्चित्काले प्रबुध्यसे ।

कच्चिच्छापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थनैपुणम्॒ ॥ १७ ॥

१ आत्मसमाः — विश्वसनीया इति । (गो०) २ शूराः — धीराः ।
 (गो०) ३ श्रुतवन्तः — नीतिशास्त्रज्ञाः । ४ जितेन्द्रियाः — परैरलोभनीया इति । (गो०) ५ कुलीनाः — प्रामाणिककुलात्पन्नाः । (गो०) ६ सुसंबृतः — सुतरांगुप्तः । (गो०) ७ षश्चकोविदैः — नीतिशास्त्रनिपुणैः । (गो०) ८ अर्थनैपुणम् — अर्थसम्पादन रीतिम् । (शि०)

तुम निद्रा के वश में तो नहीं रहते ? यथा समय जाग तो जाते हो ? तुम पिछली रात में अर्थ की प्राप्ति के उपाय तो विचार करते हो ? ॥ १७ ॥

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन् बहुभिः सह ।

कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति ॥ १८ ॥

अकेले तो किसी विषय पर विचार नहीं करते अथवा बहुत से लोगों के बीच बैठ कर तो सलाह नहीं करते ? तुम्हारा विचार कार्य रूप में परिणत होने के पूर्व दूसरे राजाओं को विदित तो नहीं हो जाता ॥ १८ ॥

[नोट—राजा को अकेले अथवा बहुत से लोगों में बैठ कोई सलाह न करनी चाहिये और न उसके विचार उपयुक्त समय के पूर्व प्रकट ही होने चाहिये ।]

कच्चिदर्थ॑ विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्॒ ।

क्षिप्रमारभसे कर्तुं न दीर्घयसि राघव ॥ १९ ॥

अल्प प्रयास से सिद्ध होने वाले और वड़ा फल देने वाले कार्य को करने का निश्चय कर, उसका करना तुम तुरन्त आरम्भ कर देते हो कि नहीं ? उसे पूरा करने में देर तो नहीं लगाते ? ॥ १९ ॥

कच्चित्ते सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः ।

विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः३ ॥ २० ॥

१ अर्थ—कार्य । (गो०) २ महोदयं—महाफलं । (गो०)

३ पार्थिवाः—सामंतनृपाः । (गो०)

तुम्हारे निश्चित किये हुए सब कार्य भली भाँति पूरे हो जाने यर अथवा पूरे होने ही पर छोटे राजा जान पाते हैं न ? कार्य पूरे होने के पूर्व तो उनको वे कहीं नहीं जान लेते ? ॥ २० ॥

कच्चिन्न तर्केऽयुक्त्या^१ वा ये चाप्यपरिकीर्तिताः^२ ।

त्वया वा तव वाऽप्यात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम् ॥ २१ ॥

मंत्रियों के साथ की हुई तुम्हारी अप्रकाशित सलाह को, दूसरे लोग, तर्क से अथवा अनुमान से तो कहीं नहीं ताड़ लेते ॥ २१ ॥

कच्चित्सहस्रान्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम् ।

पण्डितोऽहर्थकुच्छेषु कुर्यान्विःश्रेयसं^४ महत् ॥ २२ ॥

तुम हज़ार मूर्खों को त्याग कर एक पण्डित (सलाहकार) का आश्रय ग्रहण करते हो न ? क्योंनि यदि सड़ुट के समय एक भी पण्डित पास हो, तो वडे ऐश्वर्य को प्राप्ति होती है । अर्थात् बड़ा लाभ होता है ॥ २२ ॥

सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः ।

अथवाऽप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता ॥ २३ ॥

राजा भले ही हज़ार या दस हज़ार मूर्खों को अपने पास रखे, परन्तु उन मूर्खों से उस राजा को कुछ भी साहाय्य नहीं मिल सकता ॥ २३ ॥

१ युक्त्यावा—अनुमानेनवा । (गो०) २ अपरिकीर्तिताः—अनुक्ताः
इङ्गतादयः । (गो०) ३ अर्थकुच्छेषु—कार्यसहृदेषु । (गो०) ४ महत्—
निःश्रेयसं महदैश्वर्यं । (गो०)

एकोऽप्यमात्यो मेधावी 'शुरो दक्षो' विचक्षणः ।

राजानं राजपुत्रं* वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ २४ ॥

किन्तु यदि एक भी बुद्धिमान, स्थिरबुद्धि, विचारकुशल और नीतिशास्त्र में अभ्यस्त मंत्री हो, तो राजा को वा राजकुमार को बड़ी लक्ष्मी प्राप्त करा देता है ॥ २४ ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।

जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ २५ ॥

हे तात ! तुम, उत्तम जाति के नौकरों को उत्तम कार्य में, मध्यम जाति के नौकरों को मध्यम कार्य में और छोटी जाति के नौकरों को छोटे कामों में लगाते हो न ? ॥ २५ ॥

अमात्यानुपधातीतान्पितृपैतामहा अशुचीन् ।

श्रेष्ठाऽश्रेष्ठेषु कच्चित्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ २६ ॥

तुम उन मंत्रियों को, जो ईमानदार हैं, जो कुलपरंपरा से मंत्री होते आते हैं, जो शुद्ध हृदय और श्रेष्ठ स्वभाव के हैं, श्रेष्ठ कार्यों में नियुक्त करते हो न ? ॥ २६ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्रेजितप्रजम् ।

राष्ट्रं तवानुजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुत ॥ २७ ॥

हे कैकीयीनन्दन ! तुम्हारे राज्य में उप्रदण्ड से उत्तेजित प्रजा कहीं तुम्हारा या तुम्हारे मंत्रियों का अपमान तो नहीं करती ॥ २७ ॥

१ शूरः—स्थिरबुद्धिः । (गो०) २ दक्षः—विचारसमर्थः । (गो०)

३ विचक्षणः—अभ्यस्तनीतिशास्त्रः । ४ पितृपैतामहान्—कुलक्रमागतान् । (गो०) * पाठान्तरे—“राजपुत्रं ” ।

कच्चित्त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं^१ यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार स्त्रियां परस्परोगमन करने वाले पुरुष को पतित समझ उसका अनादर करती हैं, या जिस प्रकार यज्ञ करने वाले यज्ञ-कर्म से पतित का अनादर करते हैं, उस प्रकार कहीं अधिक कर लेने से प्रजा तुम्हारा अनादर तो नहीं करती ॥ २८ ॥

उपायकुशलं वैद्यं^२ भृत्यसंदूषणे रतम् ।
३ शूरमैश्वर्यकामं च यो न हन्ति स वध्यते^४ ॥ २९ ॥

जो राजा, विशेष धन के लालच में फँस, कुटिल नीति विशारद पुरुष को, सज्जनों में दोष लगाने वाले नौकर को और राजा तक को मार डालने में भय न करने वाले पुरुष को नहीं मारता, वह स्वयं मारा जाता है । सो है भाई ! तुम कहीं ऐसे लागों को तो अपने पास नहीं रखते ? ॥ २९ ॥

कच्चिद्दृष्टश्च शूरश्च मतिमान्धृतिमाङ्गुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः ॥ ३० ॥

हे भरत ! तुमने किसी ऐसे पुरुष को, जो व्यवहार में चतुर, शत्रु को जीतने वाला, सैनिक कार्यों में (व्यूहादि रचना में) चतुर, विपत्ति के समय धैर्य धारण करने वाला, स्वामी का विश्वासपात्र, सत्कुञ्जाद्वाव, स्त्रामिभक्त, और कार्यकुशल हो, अपना सेनापति बनाया है कि नहीं ? ॥ ३० ॥

१ पतितं — यष्टुकामं पतितं । (गो०) २ वैद्यं — कणिकोक्तकुटिल-नीतिविद्याविदं । (गो०) ३ शूरं — राजहिंसनेविनिर्भयं । (गो०)
४ वध्यते — राज्याद्भूतो भवति । (गो०)

बलवन्तश्च कच्चित्ते मुख्या युद्धविशारदाः ।

दृष्टापदाना^१ विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥३१॥

अत्यन्त बलवान्, प्रसिद्ध, युद्धविद्या में निपुण और जिसके बल की परीक्षा ली जा चुकी है और जो पराक्रमी है ऐसे पुरुषों को पुरस्कृत कर तुमने उत्साहित किया है कि नहीं ? ॥ ३१ ॥

कच्चिद्वलस्य भक्तं^२ च वेतनं च यथोचितम् ।

सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे ॥ ३२ ॥

तुम सेना वालों को कार्यानुरूप भोजन और वेतन यथासमय देने में विलम्ब तो नहीं करते ॥ ३२ ॥

कालातिक्रमणाच्चैव भक्तवेतनयोर्भूताः ।

भर्तुः कुप्यन्ति दुष्यन्ति सोऽन्^३ : सुमहान्स्मृतः ॥३३॥

क्योंकि भोजन और वेतन समय पर न मिलने से, नौकर लोग कृपित होते हैं और मालिक की निन्दा करते हैं। नौकरों का ऐसा करना, एक बड़े भारी अनर्थ की बात है ॥ ३३ ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः^४ प्रधानतः^५ ।

कच्चित्प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति समाहिताः ॥ ३४ ॥

भला सब राजपुत और सरदार तो तुम्हारे ऊपर अनुराग रखते हैं ? और क्या समय पर वे तुम्हारे लिये सावधानता पूर्वक अपने प्राण दे डालने को तैयार हो सकते हैं ? ॥ ३४ ॥

१ दृष्टापदाना—अनुभूतं पौरुषं । (रा०) २ भक्तं—अन्नं वेतनं । (रा०)

३ कुलपुत्राः—क्षत्रियकुलप्रसूताः । (गो०) ४ प्रधानतः—प्रधानाः । (गो०)

कच्चिज्जानपदो १ विद्वान्दक्षिणः^२ प्रतिभानवान् ।
यथोक्तवादी दूतस्ते कुतो भरत पण्डितः ॥ ३५ ॥

अपने ही राज्य के रहने वाले, दूसरे के अभिप्राय को जानने वाले, समर्थ, हाज़िरजवाब, (प्रत्युत्पन्नमति), यथोक्तवादी और दूसरे की कही बातों को तर्क से खण्डन करने वाले पुरुष को, तुमने अपना दृत बनाया है कि, नहीं ? ॥ ३५ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३६ ॥

अन्य राज्यों के अठारह पदाधिकारी और अपने राज्य के तीन (मंत्री, पुरोहित, युवराज) क्लोड शेष, पन्द्रह राजधिकारियों का, हाल जानने के लिये प्रत्येक के पास तीन तीन ऐसे भेदिया जो आपस में एक दूसरे को न जानते हों, नियुक्त कर, इन सब की कारवाइयों का हाल तुम जानते रहते हो न ? ॥ ३६ ॥

[नोट—अठारह पदाधिकारी ये हैं—

१ मंत्री, २ पुरोहित, ३ युवराज, ४ सेनापति, ५ द्वारपाल, ६ अन्तःपुराधिकारी ७ बंधनगृहाधिकारी (दरोगा जेल) ८ धनाध्यक्ष, ९ राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देने वाला, १० प्राढ़विवाक (वकील) ११ धर्माध्यक्ष, १२ सेना को वेतन बाटने वाला, १३ टेकेदार, १४ नगराध्यक्ष (कोतवाल), १५ राष्ट्रान्तपाल (सीमान्त का अफसर), १६ दुष्टों को दण्ड देने वाला (मजिस्ट्रेट) १७ जल, पर्वत, वन का रक्षक और १८ दुर्गों का रक्षक ।]

? विद्वान्—पराभिप्रायज्ञः । (गो०) २ दक्षिणः—समर्थः ।
(गो०)

कच्छिद्वयपास्तान हितान्प्रतियातांश्चै सर्वदा ।

दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन ॥ ३७ ॥

हे रिपुसूदन ! उन शत्रुओं को जिनको तुमने अपने राज्य से निकाल दिया था और फिर किसी तरह लौट कर आ गये हैं, उनको दुर्वल समझ, उनकी ओर से तुम कहीं असावधान तो नहीं रहते ? ॥ ३७ ॥

कच्छिन्न लौकायतिकान्ब्राह्मणस्तात् सेवसे ।

अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥ ३८ ॥

तुम कहीं नास्तिक ब्राह्मणों को तो अपने पास नहीं रखते ? क्योंकि ये लोग अपने को बड़ा पण्डित लगाते हैं, परन्तु वास्तव में मूर्ख होने के कारण वे यथावत् ज्ञानवन्त नहीं होते अथवा शास्त्र के तत्त्व को न जानने के कारण धर्मानुष्ठान से लोगों का चित्त हटा कर, लोगों को नरक भेजने में बड़े कुशल होते हैं ॥ ३८ ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः^४ ।

बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते ॥ ३९ ॥

मुख्य मुख्य प्रापाणिक धर्मशास्त्रों के विद्यमान रहते भी, उनकी बुद्धि सदा वेदविरुद्ध तर्कों ही की ओर दौड़ा करती हैं और शुष्क तर्क वितर्क करने की आदत पड़ जाने से वे सदा अनर्थकारी वचन ही बोला करते हैं ॥ ३९ ॥

[नोट—अतः ऐसे नास्तिक दुर्बुधियों से सदा दूर रहना ही उचित है ।]

१ व्यपास्तान्—निष्कासितान् । (गो०) २ प्रतियातान्—पुनरागतान् । (गो०) ३ अनर्थकुशला—यथांवज्ञानवन्तःतेनभवन्तीयनथकुशलाः । (गो०) ४ दुर्बुधाः—वेदमार्गविपरीतबुद्धयः । (गो०) ५ आन्विक्षिकींबुद्धि प्राप्य—शुद्धतर्कविषयांबुद्धिमाल्याय । (गो०)

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः ।
सत्यनामां दृढद्वारां हस्त्यश्वरथसङ्कुलाम् ॥ ४० ॥

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मानिरतैः सदा ।
जितेन्द्रियैर्महात्साहैर्वृत्तामार्यैः सहस्रशः ॥ ४१ ॥

प्रासादैर्विविधाकारैर्वृत्तां वैद्यजनाकुलाम् ।
कच्चित्समुदितां^१ स्फीतामयोध्यां परिरक्षसि ॥ ४२ ॥

हे तात ! तुम उस अयोध्या की तो भली भाँति रक्षा करते हो,
जो हमारे पिता पितामहादि वीर पुरुषों की भेगी हुई, अपने नाम को
चरितार्थ करने वाली, दृढ़ द्वारों वाली, हाथी घोड़े और रथों से
भरी हुई, वर्णानुसार धर्म कार्यों में सदा तत्पर रहने वाले ब्राह्मणों,
क्षत्रियों और वैश्यों से युक्त, जितेन्द्रिय और महाउत्साही हज़ारों आर्य
जनों से सुशोभित, विविध आकार प्रकार के भवनों से पूर्ण,
विद्वज्जनों से भरी हुई और जो दिन दिन उन्नतावस्था को प्राप्त हो
रही है ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

कच्चिच्छैत्यशतैर्जुष्टः ३ सुनिविष्टजनाकुलः ।
देवस्थानैः प्रपाभिश्च^४ तटाकैश्चोपशोभितः ॥ ४३ ॥
५ प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः ।
सुकृष्टसीमा पशुमान्हिसाभिरभिवर्जितः^५* ॥ ४४ ॥

१ वैद्य जनाकुलां—विद्वज्जनाः तैरावृतां । (गो०) २ समुदितां—सुसन्तु-
ष्टजनाः । (गो०) ३ सुनिविष्टजनाकुलः—सुप्रतिष्ठितजनव्याप्तः । (गो०)
४ प्रपाभिः—पानोयशालाभिः । (गो०) ५ सुकृष्टसीमा—अकृष्टार्षकृष्टाच
मूर्मिन्तव्रासीत् । (गो०) ६ हिंसाभिः ईतिभिः षड्भिः । (गो०)

* पाठान्तरे—“ परिवर्जितः ” ।

अदेवमातुको रम्यः शवापदैः परिवर्जितः ।

परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः ॥ ४५ ॥

विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः ।

कच्छिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव ॥ ४६ ॥

हे राघव ! जिस देश में अनेक यज्ञानुष्ठान हो चुके हैं, जहाँ सुप्रतिष्ठित लोग रहते हैं; जो अनेक देवालयों एंसलों और तड़ागों से शोभित है, जो हर्षित स्त्री पुरुषों से और सामाजिक उत्सवों से शोभायमान है, जहाँ पर तिल बरावर भी ज़मीन विना जुती नहीं है, जहाँ पर हाथी, घोड़े, गाय, बैल आदि पशु भरे पड़े हैं, जहाँ १ ईति का कभी भय नहीं होता, जहाँ के लोग मेघजल ही के ऊपर निर्भर नहीं है, (अर्थात् सरयू का तटवर्ती देश होने के कारण खेतों की सिंचाई के लिये वर्षाजल पर ही किसान निर्भर नहीं है), जो रमणीक है, जो हिंसक पशुओं से रहित है, जो चोरी आदि सब भयों से रहित हैं, जो नाना ज्वानों से शोभित है, जहाँ पापीजन एक भी नहीं है, जो उत्तरोत्तर उच्चति प्राप्त है तथा जो मेरे पूर्व-पुरुषों से सुरक्षित है, वह देश तो सुखी है ? ॥४३॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

[१ ईति—अतिवृष्टिरनावृष्टिमूर्खिकाः शलभाः खगाः ।

अत्यासन्नाश्चराजानः षडेताईतयः स्मृताः । (गो०)]

कच्छित्ते दयिताः^१ सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः^२ ।

वार्त्तायां संश्रितस्तात् लोको हि सुखमेधते ॥ ४७ ॥

हे तात ! जो लोग खेती कर और पशुओं को पाल, अपना गुज़ारा करते हैं, उन पर तुम प्रसन्न तो रहते हो ? क्योंकि ये लोग लैन दैन के कार्य में नियुक्त रह कर धनधान्य युक्त होने हैं ॥ ४७ ॥

^१ दयिताः—प्रियाः । (शि०) ^२ कृषिगोरक्षजीविनः—वैद्ययाः । (गो०)

तेषां १ गुसिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम् ।

रक्ष्या हि राजा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः ॥ ४८ ॥

तुम उन लोगों को उनकी इष्ट वस्तु दे तथा उनका अरिष्ट दूर कर उनका भरण पोषण तो करते हो ? क्योंकि राजा को उचित है कि, वह अपने राज्य में बसने वालों की धर्म से (ईमानदारी से) रक्षा करे ॥ ४८ ॥

कच्चित्तित्त्वियः सान्त्वयसि॒ ३ कच्चित्ताश्च सुरक्षिताः ।

कच्चिन्न श्रहधास्यासां कच्चिद्गुह्यं न भाषसे ॥ ४९ ॥

क्या तुम द्वियों को प्रभव रखते हो ? उनकी भली भाँति रक्षा करते हो कि नहीं ? उनका विश्वास तो नहीं कर लेते ? कभी द्वियों को अपना गुप्त भेद तो नहीं बतला देते ? ॥ ४९ ॥

कच्चिन्नागवनं गुर्सं कच्चित्ते सन्ति धेनुकाः॑ ।

कच्चिन्न गणिकाश्वानां॑ कुञ्जराणां॑ विभूषितम्॒ ॥५०॥

जिन वनों में हाथी हैं वे भली भाँति रखाये तो जाते हैं ? जो हथिनियां, हाथियों को पकड़ताती हैं, उनका पालन पोषण तो ठीक ठीक होता है ? तुम हाथी हथिनियों और घोड़ों के लाभ से तृप्त तो नहीं होते ? ॥ ५० ॥

कच्चिद्वर्षयसे नित्यं मनुष्याणां विभूषितम् ।

उत्थायोत्थाय पूर्वाल्ले राजपुत्र महापथे॑ ॥ ५१ ॥

१ गुसिपरीहारैः—इष्टप्रापणानिष्टनिवारणैः । (गो०) २ सान्त्वयसि—

अनुकूलतयावर्तसे । (गो०) ३ धेनुकाः—गजप्रहण साधनभूताः करिण्यः ।

(गो०) ४ गणिकाः—करिण्यः । (गो०) ५ महापथे—सभायां । (गो०)

* पाठान्तरे—“ चतुर्प्यसि ” ।

हे राजपुत्र ! तुम अपने को सर्व प्रकार से भूषित कर दोपहर से पहिले ही, सभा में जा, प्रजा जनों से मिलते हो कि नहीं ॥ ५१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षास्तेऽविशङ्क्या ।

सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात्र कारणम् ॥ ५२ ॥

तुम्हारे यहाँ जो काम करने वाले लाग हैं, वे निर्भय हो तुम्हारे निकट तो सदा नहीं चले आया करते या मारे डर के तुमसे अति दूर तो नहीं रहते । क्योंकि ये दोनों ही बातें लाभप्रद नहीं हैं । अतः काम करने वाले के साथ मध्यम व्यवहार करना उचित है । (अर्थात् इनका कभी कभी तो तुम्हारे पास आना और कभी कभी दूर रहना ही वाञ्छनीय है) ॥ ५२ ॥

कच्चित्सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यायुधोदकैः ।

यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिलिपधनुर्धरैः ॥ ५३ ॥

तुम्हारे सब किले तो धन, धान्य, हथियार, जल, कल, क्रियाकुशल तीर चलाने वाले योद्धाओं से परिपूर्ण हैं कि नहीं ? ॥ ५३ ॥

आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः ।

अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव ॥ ५४ ॥

हे राघव ! तुम्हारे कोश में आमदनी अधिक और आमदनी से कम व्यय है कि नहीं, तुम्हारे कोश का धन कहीं नाचने गाने वालों को तो नहीं लुटाया जाता ? ॥ ५४ ॥

देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च ।

योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिदगच्छति ते व्ययः ॥ ५५ ॥

? शिलिपधनुर्धरैः—क्रियाकुशलधनुर्दारिभिः । (शि०) २ अपात्रेषु—नद्यविद्यायकेषु । (गो०)

देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत, योद्धा और मित्रगण—इन सब के लिये तुम्हारे कोश का धन व्यय किया जाता है कि, नहीं ? ॥ ५५ ॥

कच्चिदार्थो विशुद्धात्माऽक्षारितश्चोरकर्मणा ।

अपृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद्वध्यते शुचिः ॥ ५६ ॥

जब अच्छे चरित्र वाले साधु लोग, जो भूँटे चोरी आदि अप-वादों से दूषित हो, विंचारार्थ, न्यायालय में उपस्थित किये जाते हैं, तुम्हारे नीतिशास्त्रकुशल लोग उनसे जिरह कर सत्यासत्य का निर्णय किये बिना ही, लालच में फैस, उनको कहीं दण्ड तो नहीं दे देते ? ॥ ५६ ॥

गृहीतश्चैव पृष्ठश्च काले दृष्टः सकारणः ।

कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नर्षभ ॥ ५७ ॥

हे पुरुषश्चेष्ट ! जो चोर चोरी करते समय पकड़ा गया और जिरह से जिसका चोरी करना सिद्ध हो चुका, वह चोर, कहीं घूँस के लालच से क्रोड तो नहीं दिया जाता ॥ ५७ ॥

व्यसने कच्चिदाद्यस्य दुर्गतस्य च राघव ।

अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या वहुश्रुताः ॥ ५८ ॥

धनी और गुरीव का भगड़ा होने पर तुम्हारे वहुश्रुत (अनुभवी) सचिव, लोभरहित हो, दोनों का मुकद्दमा, न्यायपूर्वक फैसल करते हैं कि नहीं ? ॥ ५८ ॥

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यस्ताणि राघव ।

तानि पुत्रपशून्मन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः ॥ ५९ ॥

क्योंकि हे राघव ! मूठे दोषारोपण के लिये दण्डित लोगों के नेत्रों से गिरे हुए आँखु उस राजा के, जो केवल अपने शारीरिक सुख (ऐश्व आराम) के लिये राज्य करता है और न्याय की ओर ध्यान नहीं देता, पुत्रों और पशुओं का नाश कर डालते हैं ॥ ५६ ॥

कच्छिद्‌वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यमुख्यांश्च राघव ।

'दानेन मनसा॒ वाचा॑ त्रिभिरेतैर्बुधूषसे ॥ ६० ॥

हे राघव ! तुम वृद्धों, बालकों, वैद्यों और मुखिया लोगों को, (१) उनकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके, (२) उनके साथ स्तेहपूर्वक व्यवहार करके और (३) उनसे आश्वासन सूचक वचन कह—(इन) तीन तरह से राजी तो रखते हो ? ॥ ६० ॥

कच्छिद्‌गुरुंश्च वृद्धांश्च तापसान्देवतातिथीन् ।

चैत्यांश्चॄ सर्वान्सिद्धार्थान्ब्राह्मणांश्च नमस्यसि ॥६१॥

तुम गुरु, वृद्ध, तपस्वि, देवता, अतिथि, चौराहे के बड़े वृक्षों और विद्या-तपोनिष्ठ ब्राह्मणों को तो अद्वापूर्वक प्रणाम करते हो ? ॥ ६१ ॥

कच्छिदर्थेन वा धर्मर्थं धर्मेण वा पुनः ।

उभौ वा प्रीतिलोभेन कामेन च न बाधसे ॥ ६२ ॥

कहीं धर्मानुष्ठान के समय को अर्थोपाजन में अथवा अर्थोपार्जन के समय को धर्मानुष्ठान में तो नष्ट नहीं कर देते ? अथवा सुखा-भिलाष के लिये विषयवासना में फस, अर्थोपार्जन और धर्मानुष्ठान दोनों का समय तो नहीं गँवा देते ? ॥ ६२ ॥

१ दानेन—अभिमतवस्तुप्रदानेन । (गो०) २ मनसा—स्तेहेन । (गो०)

३ वाचा—सान्त्ववचनेन । (गो०) ४ चैत्यान्—देवतावासभूतचतुष्पथस्य महावृक्षान् । (गो०)

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर ।

विभज्य काले कालज्ञ सर्वान्भरत सेवसे ॥ ६३ ॥

हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! हे कालज्ञ भरत ! धर्म अर्थ और काम इन तीनों को समय विभाग कर किया करते हों कि नहीं ? (प्रातःकाल दानादिधर्म में, तदनन्तर राजकाज में, और रात—काम के लिये) अर्थात् कहीं एक ही काम में तो सारा समय नहीं बिता देते ॥ ६३ ॥

कच्चिते ब्राह्मणाः शर्म^१ सर्वशास्त्रार्थकोविदाः ।

२ आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह ॥ ६४ ॥

हे महाप्राज्ञ ! पुरजन, जनपदवासी और धर्मशास्त्र के सम्पूर्ण अर्थों का जानने वाले परिवित तुम्हारे सुख के लिये प्रार्थना तो किया करते हैं ॥ ६४ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।

अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं ३पञ्चवृत्तिताम् ॥ ६५ ॥

एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम् ।

निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ॥ ६६ ॥

मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं^४ च सर्वतः ।

कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान्राजदेषांश्चतुर्दश ॥ ६७ ॥

हे भरत ! १ नास्तिकपना, २ ध्यसत्यभाषण, ३ क्रोध, ४ अनवधानता, ५ दीर्घसूत्रता, ६ ज्ञानियों से न मिलना, ७ आलस्य, ८

१ शर्म—सुख । (गो०) २ आशंसन्ते—प्रार्थयन्ते ३ पञ्चवृत्तिताम्—पञ्चेन्द्रियपरवशतां । (गो०) ४ प्रत्युत्थानं च सर्वतः—नीचस्यानीचस्याप्यागमने प्रत्युत्थानमित्यर्थः । (गो०)

इन्द्रियों की परवशता, ६ मन्त्रियों की अवहेला कर जयं अकेले ही राज्य सम्बन्धी बातों पर विचार करना, १० अशुभ चिन्तकों अथवा उल्टी बात सुझाने वालों से सलाह करना, ११ निश्चित किये हुए कामों का आरम्भ न करना, १२ सलाह को न छिपाना, १३ मङ्गल कृत्यों का परित्याग, और १४ नोच ऊँच सब को देख उठ खड़ा होना या सब को अभ्युत्थान देना अथवा चारों ओर युद्ध करते फिरना—इन चौदह राजदारों को तो तुमने त्याग दिया है ?

॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

दश पञ्च चतुर्वर्गान्सप्तवर्गं च तत्त्वतः ।

अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्त्रश्च राघव ॥ ६८ ॥

हे भरत ! १ शिकार, २ जुआँ, ३ दिन का सोना, ४ निन्दा करना, ५ खो, ६ मद, ७ नृत्य, ८ गीत, ९ वाद्य और १० वृथा इधर उधर घूमना (ये दश कामज दोष हैं) —इनको ; १ जल सम्बन्धी २ पर्वत सम्बन्धी ३ वृक्ष सम्बन्धी ४ ऊसर सम्बन्धी और ५ निर्जल देश सम्बन्धी, इन पाँच प्रकार के दुर्गों को ; १ साम २ दाम ३ दण्ड और ४ भेद —इन चार नीतियों को ; १ स्वामी २ मंत्री ३ राष्ट्र ४ दुर्ग, ५ कोश ६ सेना ७ मित्रराज्य, इन सात अंगों को —तुम भली भाँति जानते और इन पर विचार किया करते हो कि नहीं ? १ चुगुलपन, २ दुःसाहस, ३ द्रोह, ४ डाह ॥ ६८ ॥

इन्द्रियाणां जयं बुद्धा षाढ़गुण्यं दैवमानुषम् ।

कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम् ॥ ६९ ॥

५ गुण में दोष देखना, ६ अर्थ में दोष लगाना, ७ कठोरवचन, ८ तीक्ष्णदण्ड देना, (ये क्रोधज आठ दोष हैं) —इनका ; १ धर्म २ अर्थ और ३ काम —इन तीनों को ; तीन प्रकार की विद्याओं

को (तीनों वेदों का पढ़ना) ; १ सन्धि, २ विग्रह, ३ चढ़ाई, ४ समय की प्रतीक्षा करते रहना, ५ शत्रुओं में फूट फैलाना, और ६ किसी बलों को अपना सहायक बनाना इन द्वयों को ; १ अग्नि २ जल, ३ व्याधि ४ दुर्भिक्ष और महामारी इन पांच तरह की दैविक विपत्तियों को तुम भली भाँति जानते तो हो ? अधिकारियों से, चोरों से, शत्रुओं से, राजा के कृपापात्रों से और राजा के लालच से उत्पन्न हुई विपत्तियों को तुम भली भाँति जानते और उन पर ध्यान तो देते हो ? १ वालक २ वृद्ध ३ दीर्घ शोगी ४ जातिवहिष्कृत, ५ डरपोक, ६ दूसरों को डरपाने वाला, ७ लोभी ८ लोभी का संबन्धी, ९ प्रजा जिससे विरक्त हो, १० इन्द्रियासक, ११ बहुत लोगों के साथ परामर्श करने वाला १२ देव-ब्राह्मण-निन्दक १३ भाष्यहीन १४ भाष्य पर निर्भर रहने वाला १५ अकाल का मारा, १६ विदेश में मारा मारा फिरने वाला, १७ बहुत शत्रुओं वाला १८ यथासमय कामन करने वाला १९ सत्य धर्म में जो तत्पर नहीं २० और सेना का सताया हुआ या बड़ा पहलवान—इन बीसों को ; राज्य, स्त्री, स्थान, देश, जाति और धन जिनके द्वीन लिये गये हों (यह प्रकृति मण्डल है)—इनको ; शत्रु, मित्र, शत्रुका भली भाँति का शत्रु और परममित्र ये राजमण्डल हैं—इनको ; तुम मित्र, मित्र जानते और इन पर ध्यान देते हो ? ॥ ६६ ॥

यात्रादण्डविधानं^१ च द्वियोनी^२ सन्धिविग्रहौ ।
कच्चिदेतान्महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे ॥ ७० ॥

१ यात्रादण्ड विधानं—यात्रा यान् दण्डस्यसैन्यस्यविधानं संविधानं व्यूहभेद विधानं । (गो०) २ द्वियोनी—संघिविग्रहयानासनद्वै धीभावसमाश्रयो संधेरूपं । (गो०)

हे महाप्राज्ञ ! यात्राविधान, दण्डविधान, सन्धि, विग्रह, करने न करने वालों को परख लेना—इन बातों को तुम भली भाँति जानते हो कि नहीं ? ७० ॥

मन्त्रिभिस्त्वं यथेऽद्वैश्चतुर्भिस्त्विभिरेव वा ।

कच्चित्समस्तैर्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे मिथः ॥ ७१ ॥

हे मतिमान् ! तुम नीतिशास्त्र के अनुसार तीन या चार मन्त्रियों को एकत्र कर एक साथ, अथवा उनसे अलग अलग गुप्त परामर्श करते हो ? ॥ ७१ ॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलाः क्रियाः ।

कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम् ॥ ७२ ॥

क्या तुम श्यामिहोत्रादि अनुष्ठान करके वेदाध्ययन को सफल करते हो ? दान और भोग में लगा कर क्या तुम अपने धन को सफल करते हो ? यथाविधि सन्तानोत्पति कर खियों को तुम सफल करते हो ? तुमने जो शास्त्र श्रवण किया है उसके अनुसार आचरण कर तुम शास्त्रश्रवण को चरितार्थ करते हो ॥ ७२ ॥

[महाभारत में लिखा है—

अग्निहोत्रफलावेदाः, दत्तमुक्तफलं धनं ।

रतिपुत्रफलादाराः शीलवृत्तफलं श्रुतं ॥

७२वें श्लोक का आशय इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया गया है ।]

कच्चिदेषैव ते बुद्धिर्यथात्का मम राघव ।

आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थसंहिता ॥ ७३ ॥

धर्म, अर्थ तथा काम के सम्बन्ध में जो वार्ते हैं उनमें तुमसे अभी कही हैं और जिनके अनुसार चलने से यश और आयु बढ़ती है, वे तुम्हें पसंद हैं कि नहीं ? ॥ ७३ ॥

यां वृत्तिं वर्तते तातो यां च नः प्रपितामहाः ।

तां वृत्तिं वर्तसे कच्चिद्या च सत्पथगा शुभा ॥ ७४ ॥

समार्गानुसारिणी और अनिन्दता, जिससे हमारे पूर्वज पिता पितामहादि चलते थे, उसी वृत्ति को अवलंबन कर तुम भी चलते हो न ? ॥ ७४ ॥

कच्चित्स्वादुकृतं भोज्यमेको नाशनासि राघव ।

कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि ॥ ७५ ॥

हे भरत ! तुम स्वादिष्ट भोजन अकेले हो तो नहीं खा लेते ? जो मित्र थाते समय उपस्थित हो उनको दं कर खाते हो न ? ॥ ७५ ॥

राजा तु धर्मेण हि पालयित्वा

महामतिर्दण्डधरः प्रजानाम् ।

अवाप्य कृत्स्नां वसुधां यथाव-

दितश्च्युतः॑ स्वर्गमुपैति विद्वान् ॥ ७६ ॥

इति शततमः सर्गः ॥

देखो जो नीतिज्ञ और शासनदण्डधारी राजा धर्मानुसार प्रजा का पालन करता है—वह ज्ञानी राजा पूर्वराजाओं की तरह सम्पूर्ण पृथिवी का स्वामी हो, मरने पर स्वर्ग में जा वास करता है ॥ ७६ ॥

अयोध्याकाण्ड का सौंचा सर्ग समाप्त हुआ ।

— : * : —

१ द्युतः—प्रारब्ध कर्मविसानेमृत इत्यर्थः । (गो०)

एकोत्तरशततमः सर्गः

—०—

रामस्य वचनं श्रुत्वा भरतः प्रत्युवाच ह ।

किं मे धर्माद्विहीनस्य राजधर्मः करिष्यति ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन भरत जो बोले कि, मैं तो स्वकुलोचित रीति से रहित हूँ—अतः राजधर्म का उपदेश मेरे लिये किस काम का ॥ १ ॥

शाश्वतोऽयं सदा धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ ।

ज्येष्ठपुत्रे स्थिते राजन् कनीयान् पो भवेत् ॥ २ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हमारे कुल में तो सदा से यह रीति चली आती है कि, बड़े पुत्र के सामने द्वाटा पुत्र राजा नहीं हो सकता ॥ २ ॥

स समृद्धां मया सार्धमयोध्यां गच्छ राघव ।

अभिषेचय चात्मानं कुलस्यास्य भवाय॑ नः ॥ ३ ॥

अतः हे राघव ! आप मेरे साथ धनधान्यपूर्ण अयोध्यापुरो में चलिये और अपना राज्याभिषेक करवा कर, हमारे कुल का कल्पाल कीजिये ॥ ३ ॥

राजानं मानुषं प्राहुदेवत्वे सम्पतो मम ।

यस्य धर्मार्थसहितं वृत्तमाहुरमानुषम् ॥ ४ ॥

१ धर्मविहीनस्य—स्वकुलोचित् रीतेः विहीनस्य । (शि०) २ भवाय—

भद्राय । (गो०)

लोग राजा को भले ही मनुष्य कहा करें, किन्तु मैं तो राजा को देवता समझता हूँ। अच्यौकि उसके धर्म और अर्थ से अनुमोदित चरित्र लोकोन्तर होते हैं। अर्थात् साधारण मनुष्य से भिन्न होते हैं ॥ ४ ॥

केक्यस्थे च मयि तु त्वयि चारण्यमाश्रिते ।
दिवमार्यो गतो राजा यायजूकः सतां मतः ॥ ५ ॥

जब मैं अपनो ननिहाल केक्यराज्य में था और आप वन चले आये थे, तब अनेक यज्ञ करने वाले तथा साधु सज्जन लोगों से प्रशंसित महाराज दशरथ स्वर्ग को सिधारे ॥ ५ ॥

निष्क्रान्तमात्रे भवति सहसीते सलक्ष्मणे ।
दुःखशोकाभिभूतस्तु राजा त्रिदिवमध्यगात् ॥ ६ ॥

सीता और लक्ष्मण के साथ आपके अयोध्या छोड़ते ही महाराज दुःख और शोक से ऐसे विकल हुए कि, वे स्वर्ग को चले गये ॥ ६ ॥

उत्तिष्ठ पुरुषव्याघ्र क्रियतामुदकं पितुः ।
अहं चायं च शत्रुघ्नः पूर्वमेव कृतोदकौ ॥ ७ ॥

हे पुरुषसिंह ! अब आप इस समय उठिये और पिता जी को जलाजलि दीजिये। शत्रुघ्न और मैं तो पहिले ही जलाजलि दे चुका हूँ ॥ ७ ॥

प्रियेण खलु दत्तं हि पितॄलोकेषु राघव ।
अक्षयं भवतीत्याहुर्भवांश्चैव पितुः प्रियः ॥ ८ ॥

हे राघव ! लोग कहा करते हैं कि, प्यारे पुत्र का दिया हुआ पिण्ड और जल यितुजास में अक्षय हो कर बना रहता है, सो आप ही पिता जी के प्रिय पुत्र हैं ॥ ८ ॥

त्वामेव शोचंस्तव दर्शनेषु-
स्वययेव सक्तामनिवर्त्य बुद्धिम् ।

त्वयाविहीनस्तव शोकरुणः ? ।

त्वां संस्मरन्स्वर्गमवाप* राजा ॥ ९ ॥

इति एकोत्तरशततमः सर्गः ॥

ज्योकि आप ही को सोचते, आप ही के दर्शन की इच्छा करते, आपही को स्मरण करते, आप ही के वियोगजनित दुःख से विकल और आप ही का नाम लेते पिता जी स्वर्ग गाधारे हैं ॥ १ ॥

अयोध्याकाण्ड का एकसौ एकवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

द्रश्युत्तरशततमः सर्गः

—१०—

तां श्रुत्वा करुणां२ वाचं पितुर्मरणसंहिताम् ।

राघवो भरतेनोक्तां वभूव गतचेतनः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी के मुख से पिता के मरने की जब शोकप्रद बात सुनी, तब वे अचेत हो गये ॥ १ ॥

¹ रुणः—पीडितइतिथावत् । (गो०) २ करुणां—शोकावहां । (गो०)

* पाठान्तरे—“ सहस्रस्तमितः “ सहस्रब्रेवगतः ॥ ।

तं तु वज्रमिवोत्सृष्टमाहवे दानवारिणा ।

वाग्वज्रं भरतेनोक्तममनोज्ञं परन्तपः ॥ २ ॥

जैसे दैत्यों के शत्रु इन्द्र दैत्यों पर युद्धकाल में वज्र का प्रहार करते हैं, वैसे ही भरत जी के वज्ररूपी वचन का प्रहार श्रीरामचन्द्र पर हुआ ॥ २ ॥

प्रगृहा वाहू^१ रामो वै पुष्पिताग्रो यथा द्रुमः ।

वने परशुना कृत्स्तथा भुवि पपात ह ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी (पद्धतावे से) दोनों हाथ मलते हुए, फरसे से काटे हुए पुष्पित वृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़े ॥ ३ ॥

तथा निपतिं रामं जगत्यां जगतीपतिम् ।

कूलघातपरिश्रान्तं प्रसुप्तमिव कुञ्जरम् ॥ ४ ॥

जगतपति श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर ऐसे मूर्छित पड़े थे, मानों कोई मतवाला हाथी नदी का तट ढहाते ढहाते थक कर पड़ा हुआ से रहा हो ॥ ४ ॥

भ्रातरस्ते महेष्वासं सर्वतः शोककर्षितम् ।

रुदन्तः सह वैदेह्या सिषिच्चुः सलिलेन वै ॥ ५ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी को मूर्छित हुआ देख सब भाई जानकी जी सहित शोक से चिकिल हो रोते रोते उन महाधनुषधारी श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर जल क्रिङ्क उनकी मूर्छा भङ्ग करने का प्रयत्न करने लगे ॥ ५ ॥

^१ वाहूप्रगृह्य -पाणिं नापाणिनीष्पीड्यउद्धृत्यवा । (गो०)

स तु संज्ञां पुनर्लब्ध्वा नेत्राभ्यामासमुत्सज्जन् ।

उपाक्रमतः* काकुत्स्थः कृपणं बहु भाषितुम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी सचेत हुए, तब वे रोते रोते बहुत विलाप करने लगे ॥ ६ ॥

स रामः स्वर्गतं श्रुत्वा पितरं पृथिवीपतिम् ।

उवाच भरतं वाक्यं धर्मात्मा धर्मसंहितम् ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी यह सुन कर कि, पिता जी स्वर्ग सिधारे हैं, भरत जी धर्मसङ्कृत यह बचन बोले ॥ ७ ॥

कि करिष्याम्ययोध्यायां ताते दिष्टां गतिं गते ।

कस्तां राजवराद्दीनामयोध्यां पालयिष्यति ॥ ८ ॥

जब पिता जी ही स्वर्ग चले गये, तब मैं अयोध्या जा कर ही क्षा करूँगा । उन राजश्रेष्ठ के बिना अयोध्या का शासन कौन करेगा ॥ ८ ॥

किन्नु तस्य मया कार्यं दुर्जातेन महात्मनः ।

यो मृतो मम शोकेन मया चापि न संस्कृतः ॥ ९ ॥

मेरा जैसा निरर्थक जन्म धारणा करने वाला पुत्र, उन महात्मा पिता के लिये क्या कर सकता है । मेरे विद्योगजन्य शोक से तो उनका देहान्त हुआ और मैं उनका अन्तिम संस्कार भी न कर पाया ॥ ९ ॥

अहो भरत सिद्धार्थे येन राजा त्वयाऽनघ ।

शत्रुघ्नेन च सर्वेषु प्रेतकृत्येषु सत्कृतः ॥ १० ॥

* पाठान्तरे—“ उपाक्रमत ” ।

हे निष्पाप भरत ! तुम्हीं अच्छे रहे कि, तुमने श्रीर शत्रुघ्न ने पिता जी के सम्पूर्ण अन्येषिकर्म तो कर लिये ॥ १० ॥

निष्पापानामनेकाग्रां^१ नरेन्द्रेण विनाकृताम् ।

निवृत्तवनवासोऽपि नायोध्यां गन्तुमुत्सहे ॥ ११ ॥

अभी अहा, मैं तो वनवास से लौट कर भी उन प्रधान पुरुषहीन स्वास्थ्यवर्जित अयोध्या में जाना नहीं चाहता ॥ ११ ॥

समाप्तवनवासं मामयोध्यायां परन्तप ।

कोऽनु शासिष्यति^२ पुनस्ताते लोकान्तरं गते ॥ १२ ॥

क्योंकि हे परन्तप ! मैं वनवास की अवधि पूरी कर बदि अयोध्या जाऊँ भी तो वहाँ अब मुझे हिताहित का उपदेश देने वाला है ही कौन ॥ १२ ॥

पुरा प्रेक्ष्य सुवृत्तं मां पिता यान्याह सान्त्वयन् ।

वाक्यानि तानि श्रोष्यामि कुतः कर्णसुखान्यहम् ॥ १३ ॥

मेरे सद् आचरणों को देख, पिता जी मुझे स्नेहपूर्वक जो उपदेश देते थे, अब उन कर्णसुखदायी उपदेशों को मैं वहाँ किससे सुनूँगा ? ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा स भरतं भार्यामभ्येत्य राघवः ।

उवाच शोकसन्तसः पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ १४ ॥

१ अनेकाग्रां—स्वास्थ्यरहितां । (शि०) २ अनुशासिष्यति—हिताहित

विषय प्रवृत्ति निवृत्तिकारयिष्यति । (रा०)

शोकसन्तत श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से यह कह कर सीता की ओर मुख कर उन पूर्णमासी के चन्द्रमा सदृश मुख वाली जानकी जी से बोले ॥ १४ ॥

सीते मृतस्ते शवशुरः पित्रा हीनोऽसि लक्ष्मण ।

भरतो दुःखमाचष्टे स्वर्गतं पृथिवीपतिम् ॥ १५ ॥

हे सीते ! तुम्हारे सबुर स्वर्ग सिधारे । हे लक्ष्मण ! तुम पिता-हीन हो गये । क्योंकि महाराज के स्वर्गवास का यह दुःखदायी संवाद मुझे भरत जो से अवगत हुआ है ॥ १५ ॥

ततो बहुगुणं तेषां वाष्पो* नेत्रेष्वजायत ।

तथा ब्रुवति काकुत्स्थे कुमाराणां यशस्विनाम् ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ऐसा कहने पर, सब बहुगुणी एवं यशस्वी राजकुमार रोने लगे ॥ १६ ॥

ततस्ते भ्रातरः सर्वे भृशमाश्वास्य राघवम् ।

अब्रुवञ्जगतीभर्तुः क्रियतामुदकं पितुः ॥ १७ ॥

तदनन्तर उन सब भाइयों ने शोक से निकल श्रीरामचन्द्र को बहुत समझाया बुझाया और कहा अब आप महाराज को जला-अलि दीजिये ॥ १७ ॥

सा सीता श्वशुरं श्रुत्वा स्वर्गलोकगतं नृपम् ।

नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यामशक्नेश्चितुं पतिम् ॥ १८ ॥

सीता जी के नेत्रों में, सबुर के देहान्तरित होने का संवाद सुनने से, इतने आँख भर गये कि, वे अपने पति को न देख सकीं ॥ १८ ॥

* पाठान्तरे — “वाष्पं । ॥”

सान्त्वयित्वा तु तां रामो रुदन्तीं जनकात्मजाम् ।

उवाच लक्ष्मणं तत्र दुःखितो दुःखितं वचः ॥ १९ ॥

तब रुदन करती हुई जानकी जी को श्रीरामचन्द्र जी ने समझा बुझा कर श्रीरज बधाया । किर शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने, दुखित लक्ष्मण जी से कहा ॥ १९ ॥

आनयेऽगुदिपिण्याकं चीरमाहर चोत्तरम् ।

जलक्रियार्थं तातस्य गमिष्यामि महात्मनः ॥ २० ॥

हे लक्ष्मण ! तुम हस समय इंगुदी के बीजों (हिंगेट) को पीस कर ले आओ और एक नशा चोर मेरे पहिनने के लिये ले आओ । अब मैं पिता जी को जलाञ्जलि देने की चलता हूँ ॥ २० ॥

सीता पुरस्ताद्वजतु त्वमेनामधितो व्रज ।

अहं पश्चाद्गमिष्यामि गतिर्हेषा सुदारुणा ॥ २१ ॥

सीता आगे आगे चले और तुम इनके पीछे चलो। और मैं सब के पीछे चलूँगा क्योंकि इस दारुण समय में चलने का यही विधान है ॥ २१ ॥

[नोट—ऐसे समय में चलने के लिये धर्मसूत्र का यह प्रमाण है—

“ सर्वेऽनिष्टप्रथमाभ्युपूर्वइतरेभ्यियाद्रे । ”]

ततो नित्यानुगस्तेषां विदितात्मा महापतिः ।

मृदुर्दान्तश्च शान्तश्च रामे च दृढभक्तिमान् ॥ २२ ॥

सुमन्त्रस्तैर्नृपसुतैः सार्धमाश्वास्य राघवम् ।

अवातारयदालम्ब्य नदीं मन्दाकिनीं शिवाम् ॥ २३ ॥

तदनन्तर इद्वाकु राजघराने के पुराने अनुचर, ज्ञानी, महामति, कोमलहृदय, जितेन्द्रिय, शान्तस्वभाव और श्रीराम में द्वृढ़ भक्ति रखने वाले सुमंत्र, उन राजकुमारों को अनेक प्रकार से समझा कर, उन्हें निर्मल जलवालों अथवा पुरुषसलिला मंदाकिनी नदी पर ले गये ॥ २२ ॥ २३ ॥

ते सुतीर्थां ततः कृच्छ्रादुपागम्य यशस्विनः ।

नदीं मन्दाकिनीं रम्यां सदा पुष्पितकाननाम् ॥२४॥

रमणीय और सदा फूजे हुए बन में हो कर वहने वाली मंदाकिनी के सुन्दर घाट पर, वे लोग आत कष्ट से गिरते पड़ते पहुँचे ॥ २४ ॥

शीघ्रस्नोतसमासाद्य तीर्थं 'शिवमकर्दमम् ।

सिषिचुस्तूदकं राज्ञे तत्रैतत्ते^१ भवत्विति ॥ २५ ॥

तदनन्तर उस कोचड़ रहित और शीघ्र वहने वाली तथा कल्याणप्रद मंदाकिनी नदी के घाट पर पहुँच और “ एतद्भवतु ” (यह जल आपको मिले) कह कर महाराज दशरथ को जलाञ्जलि देने लगे ॥ २५ ॥

प्रगृह्य च महीपालो जलपूरितमञ्जलिम् ।

दिशं याम्यामभिमुखेऽरुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस समय महाराज श्रीरामचन्द्र जी अंजली में जल भर और दक्षिण की ओर मुख कर रुदन करते हुए बोले ॥ २६ ॥

^१ शिवं—कल्याणप्रदं । (शि०) २ तत्रैतत्ते—हे तात एतजलंभवतु त्वसञ्जिधौतिष्ठतु । (शि०)

एतत्ते राजशार्दूल विमलं तोयमक्षयम् ।

पितॄलोकगतस्याद्य मदत्तमुपतिष्ठतु ॥ २७ ॥

हे राजशार्दूल ! आज यह मेरा दिया हुआ जल, पितॄलोक में आपको अक्षय हो कर मिले ॥ २७ ॥

ततो मन्दाकिनीतीरात्प्रत्युतीर्य स राघवः ।

पितुश्चकार तेजस्वी निवापं* भ्रातुभिः सह ॥ २८ ॥

तदनन्तर तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने भाइओं सहित मंदाकिनी के तट से ऊपर आ कर, महाराज को पिण्ड दिये ॥ २८ ॥

ऐहुगुदं बदरीमिश्रं पिण्याकं दर्भसंस्तरे ।

न्यस्य रामः सुदुःखातो रुदन्वचनमब्रवीत् ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने बेर फलों को इंगुदी के आटे में मिला पिण्ड बनाये और कुश बिछा कर उन पिण्डों को उन कुशों पर रख, दुःखी हो रोते हुए यह कहा ॥ २९ ॥

इदं भुड्धक्ष महाराज प्रीतो यदशना वयम् ।

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ॥ ३० ॥

हे महाराज ! आज कल हम लोग जो खाते हैं, वही इस समय आप भोजन कीजिये । क्योंकि मनुष्य जो स्वयं खाता है, उसीसे वह अपने देवतों को भी सन्तुष्ट करता है ॥ ३० ॥

ततस्तेनैव मार्गेण प्रत्युतीर्य नदीतटात् ।

आरुरोह नरव्याघो रम्यसानुं महीधरम् ॥ ३१ ॥

१ निवापं—पिण्डप्रदानं । (गो०) * पाठान्तरे—“निर्वापं ” ।

फिर नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी जिस मार्ग से नदी के किनारे पर उतर कर आये थे, उसी मार्ग से नदी के तट को छोड़, उस मनोहर शिखर वाले पर्वत पर चढ़ गये ॥ ३२ ॥

ततः पर्णकुटीद्वारमासाद्य जगतीपतिः ।

परिजग्राह वाहुभ्यामुभौ भरतलक्षणौ ॥ ३२ ॥

वहाँ वे अपनी पर्णकुटी के द्वार पर पहुँच भरत और लक्षण की दोनों भुजाओं से थाम रोने लगे ॥ ३२ ॥

तेषां तु रुदतां शब्दात्प्रतिश्रुत्कोऽभवद्विरौ ।

भ्रातृणां सह वैदेह्या सिंहनामिव नर्दताम् ॥ ३३ ॥

उस समय चारों राजकुमारों और सीता जी के, गर्जते हुए सिंहों का दहाड़ जैसे रोने के शब्द से पर्वत गूँज उठा ॥ ३३ ॥

महाबलानां रुदतां कुर्वतामुदकं पितुः ।

विज्ञाय तु मुलं शब्दं त्रस्ता भरतसैनिकाः ॥ ३४ ॥

पिता जो को जलवान कर चारों भाइयों के रोने का शब्द सुन, भरत की सेना के लोग डर गये ॥ ३४ ॥

अब्रुवंश्चापि रामेण भरतः सङ्गतो ध्रुवम् ।

तेषामेव महाञ्चशब्दः शोचतां पितरं मृतम् ॥ ३५ ॥

वे आपस में कहने लगे कि श्रीरामचन्द्र से भरत की भैंट अवश्य हो गयी। क्योंकि पिता के मरने से वे अत्यन्त शोकाकुल हो विलाप कर रहे हैं ॥ ३५ ॥

अथ वासान्परित्यज्य तं सर्वेऽभिमुखाः स्वनम् ।

अप्येकमनसोऽ जगमुर्यथास्थानं प्रधाविताः ॥ ३६ ॥

वे सब सैनिक अपने डेरों को छोड़ जिस ओर से रोते का शब्द सुन पड़ता था, उस ओर मुख कर और एक मन हो दौड़ पड़े ॥ ३६ ॥

हयैरन्ये गजैरन्ये रथैरन्ये स्वलंकृतैः ।
सुकुमारास्तथैवान्ये पद्मिरेव नरा ययुः ॥ ३७ ॥

उनमें से बहुत लोग जो सुकुमार थे वे थोड़े, हाथी और अच्छे अच्छे एवं सजे हुए रथों पर सवार हो और कितने ही पैदल ही उस शब्द की ओर बढ़े ॥ ३७ ॥

अचिरप्रोषितं रामं चिरविप्रोषितं यथा ।
द्रष्टुकामो जनः सर्वो जगाम सहसाऽश्रमम् ॥ ३८ ॥

यद्यपि श्रीरामचन्द्र जी को अयोध्या छोड़े अभी बहुत दिन नहीं हुए थे, तथापि उन सब को ऐसा जान पड़ता था कि, मानों श्रीराम को अयोध्या छोड़े बहुत दिन बीत गये हैं। अतएव श्रीरामचन्द्र जी को देखने की उत्करणा से वे सब उनके आश्रम में पहुँचे ॥ ३८ ॥

भ्रातणां त्वरितास्तत्र द्रष्टुकामाः समागमम् ।
ययुर्बहुविधैर्यनैः खुरनेमिस्वनाकुलैः ॥ ३९ ॥

चारों भाइयों का समागम देखने के लिये लोग अनेक वर्षार के बाहरों पर सवार हो कर गये। उन बाहरों के पशुओं खुरों और पहियों से बड़ा शब्द दृश्या ॥ ३९ ॥

सा भूमिर्बहुभिर्यनैः खुरनेमिसमाहता ।
मुमोच तुमुलं शब्दं द्यौरिवाभ्रसमागमे ॥ ४० ॥

उस समय उन वाहनों के पशुओं खुरों और पहियों की आहट से वह स्थान उसी प्रकार शब्दायमान हुआ, जिस प्रकार मेघों के समागम में, आकाश शब्दायमान हो चुका है ॥ ४० ॥

तेन वित्रासिता नागाः करेणुपरिवारिताः ।

आवासयन्तो गन्धेन जग्मुरन्यद्वनं ततः ॥ ४१ ॥

उस शब्द से डर कर हथिनियों सहित हाथी अपने मद की गन्धि से वन को सुवासित करते, वह वन छोड़ दूसरे वन में चले गये ॥ ४१ ॥

वराहवृक्षसङ्गाश्च महिषाः सर्पवानराः ।

व्याघ्रगोकर्णगवया वित्रेमुः पृष्ठतैः सह ॥ ४२ ॥

शूकर और भेड़ियों के झुंड, भैंसा, सर्प, व्याघ्र, गोकर्ण नीलगाय और पृष्ठत जाति के हिरन बहुत डर गये ॥ ४२ ॥

रथाङ्गसाहा नत्यूहा हंसाः कारण्डवाः पुवाः ।

तथा पुंस्कोकिलाः क्रौञ्चा विसंज्ञा भेजिरे दिशः ॥ ४३ ॥

चक्रवाक, जलमुर्ग, हंस, कारण्डव, पुव नामक जलपक्षी, कोकिल, क्रौञ्च ये सब पक्षी उस शब्द से, मूर्छित से हो इधर उधर भाग गये ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तैराकाशं पक्षिभिर्वृतम् ।

मनुष्यैरावृता भूमिरुभयं प्रवभौ तदा ॥ ४४ ॥

उस शब्द से ब्रह्म पक्षियों से ढका हुआ आकाश और मनुष्यों से अच्छादित पृथ्वी दोनों ही अत्यन्त शोभायमान हुए ॥ ४४ ॥

ततस्तं पुरुषव्याघ्रं यशस्विनमकल्पम्* ।

आसीनं स्थणिङ्गले रामं ददर्श सहसा जनः ॥ ४५ ॥

तदनन्तर उन सब लोगों ने सहसा जा कर, वहाँ देखा कि, यशस्वी, दोषरहित और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र चबूतरे पर बैठे हैं ॥ ४५ ॥

विगर्हमाणः कैकेयीं सहितो मन्थरामपि ।

अभिगम्य जनो रामं बाष्पपूर्णमुखोऽभवत् ॥ ४६ ॥

उनको उस दशा में बैठा देख, सब लोग कैकेयी व मन्थरा की निन्दा करने लगे और श्रीरामचन्द्र के निकट जा, वे सब के सब रोने लगे ॥ ४६ ॥

तान्नरान्वाष्पपूर्णक्षान्समीक्ष्याथ सुदुःखितान् ।

पर्यज्वजत धर्मज्ञः पितृवन्मातृवच्च सः ॥ ४७ ॥

उन लोगों को रुदन करते और दुखी देख, धर्मज्ञ श्रीराम जी उठे और उनको छाती से लगा, उनसे ऐसे मिले, जैसे कोई माता पिता से मिलता है ॥ ४७ ॥

स तत्र कांशिचत्परिष्वजे नरान्

नराश्च केचित्तु तमभ्यवादयन् ।

चकार सर्वान्सवयस्यवान्धवान्

यथार्हमासाद्य तदा नृपात्मजः ॥ ४८ ॥

मिलने योग्य मनुष्यों से श्रीरामचन्द्र जी गले गले मिले ; किसी किसी ने उनको प्रणाम किया । उस समय, राजकुमार

* पाठान्तरे—“अरिन्दमम्” ।

श्रीरामचन्द्र ने अपनी बरावर की उमर बाले और भाईबंदों से यथायोग्य व्यवहार किया ॥ ४८ ॥

स तत्र तेषां रुदतां महात्मनां
भुवं च खं चानुनिनादयन्स्वनः ।

गुहा गिरीणां च दिशश्च सन्ततं
मृदङ्गघोषप्रतिमः प्रशुश्रुते ॥ ४९ ॥
इति द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥

मिलने के समय उन लोगों के रोने के शब्द से पृथिवी व आकाश शब्दायमान हो गया । पर्वत की कल्पराश्रों तथा सब दिशाओं में वह रोने का शब्द, मृदङ्ग के शब्द की तरह सुनाई पड़ने लगा ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्व्युत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

वसिष्ठः पुरतः कृत्वा दारान्दशरथस्य च ।

अभिचक्राम तं देशं १रामदर्शनतर्षितः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र के दर्शन करने की अभिलाषा से वशिष्ठ मुनि महाराज दशरथ की रानियों को आगे कर, श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम को ओर गये ॥ १ ॥

राजपत्न्यश्च गच्छन्त्यो मन्दं मन्दाकिनीं प्रति ।
दद्वशुस्त्र तत्तीर्थं रामलक्ष्मणसेवितम् ॥ २ ॥

मन्दाकिनी नदी को ओर मंड मंड चाल से चलती हुई,
कौशल्यादि रानियों ने श्रीरामबन्द्र और लक्ष्मण के स्नान करने का घाट देखा ॥ २ ॥

कौशल्या वाष्पपूर्णेन मुखेन परिशुष्यता ।
सुमित्रामब्रवीदीना याशचान्या राजयेषितः ॥ ३ ॥

उस घाट को देख कर देवो कौशल्या का मुख, मारे शोक के सूख गया । वे रो कर सुमित्रा तथा अन्य रानियों से कहने लगे ॥ ३ ॥

इदं तेषांमनाथानां किष्टमक्षिष्टकर्मणाम् ।
वने प्राक्केवलं^१ तीर्थं ये ते निर्विषयीकृताः ॥ ४ ॥

देखो, हमारे अनाथ, जोकोत्तर कर्म करने वाले तथा (कैकैयो द्वारा) राज्य से च्युत श्रीराम, लक्ष्मण और जानकी के स्नानादि करने का यह घाट है ॥ ४ ॥

इतः सुमित्रे पुत्रस्ते संदा जलमतन्द्रितः ।
स्वयं हरति सौमित्रिर्मम पुत्रस्य कारणात् ॥ ५ ॥

हे सुमित्रा ! जान पड़ता है, इसी घाट से मेरे पुत्र के लिये, तुम्हारा पुत्र लक्ष्मण, निरालस्य हो स्वयं जल भर कर ले जाता है ॥ ५ ॥

जघन्यमपि ते पुत्रः कृतवान् तु गर्हितः ।

भ्रातुर्यदर्थं सहितं सर्वं तद्विहितं गुणैः ॥ ६ ॥

यद्यपि पानी भरना छोटा काम है, तथापि इस काम को करने से वह निन्द्य नहीं है। क्योंकि अपने बड़े भाई की सेवा करना प्रशंसा करने योग्य कार्य है ॥ ६ ॥

अद्यायमपि ते पुत्रः क्लेशानामतथोचितः ।

नीचानर्थसमाचारं सज्जं कर्म प्रमुच्चतुः ॥ ७ ॥

अब (भरत के अनुरोध से) श्रीरामचन्द्र के अथाध्या लौट चलने पर, सदा सुख भोग ने योग्य अथवा कष्ट सहने के अथाध्य तुम्हारे पुत्र लक्ष्मण को, ये सब हीन पुरुषों के करने योग्य कष्टदायी कार्य नहीं करने पड़ेगे ॥ ७ ॥

दक्षिणाग्रेषु दर्भेषु सा द्रदर्श महीतले ।

पितुरिङ्गुदिपिण्याकं न्यस्तमायतलोचना ॥ ८ ॥

तदनन्तर बड़े बड़े नेत्रवाली देवी कौशल्या जो ने दक्षिणाग्र कुशों पर रखा हुआ और पिता के लिये दिया हुआ इंगुदी का पिण्ड देखा ॥ ८ ॥

तं भूमौ पितुरातेन न्यस्तं रामेण वीक्ष्य सा ।

उवाच देवी कौशल्या सर्वा दशरथस्त्रियः ॥ ९ ॥

जब कौशल्या जो ने देखा कि, श्रीरामचन्द्र ने आर्त हो कर पिता के लिये भूमि में वह पिण्ड रखा है, तब वे अन्य सब रानियों से बोलीं ॥ ९ ॥

इदमिक्ष्वाकुनाथस्य राघवस्य महात्मनः ।

राघवेण पितुर्दत्तं पश्यतैतद्यथाविधि ॥ १० ॥

इद्वाकुनाथ महाराज दशरथ के लिये, श्रीरामचन्द्र ने यथा-विधि जो यह पिण्ड दिया है, इसे देखो ॥ १० ॥

तस्य देवसमानस्य पार्थिवस्य महात्मनः ।

नैतदौपयिकं मन्ये भुक्तभोगस्य भोजनम् ॥ ११ ॥

मैं तो समझती हूँ कि, देवताओं के समान भोग भोगने वाले महात्मा दशरथ जी के योग्य यह भोजन नहीं है ॥ ११ ॥

चतुरन्तां महीं भुक्त्वा महेन्द्रसद्वशो विभुः ।

कथमिङ्गुदिपिण्याकं स भुड्न्ते वसुधाधिपः ॥ १२ ॥

चारों समुद्रों तक सारी वसुधा को इन्द्र के समान भोग करने वाले महाराज, किस तरह यह इंगुदों का पिण्ड खायगे ॥ १२ ॥

अतो दुःखतरं लोके न किञ्चित्प्रतिभाति मा ।

यत्र रामः पितुर्द्यादिङ्गुदीक्षोदमुद्धिमान् ॥ १३ ॥

हे रानियों ! मुझे तो इससे बढ़ कर और कोई दुःख नहीं जान पड़ता कि, बुद्धिमान् श्रीराम ने अपने पिता के लिये इंगुदों की पिण्डी का पिण्ड दिया ॥ १३ ॥

रामेणड़गुदिपिण्याकं पितुर्दत्तं समीक्ष्य मे ।

कथं दुःखेन हृदयं न स्फोटति सहस्रधा ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के दिये हुए इस इंगुदों की पिण्डी के पिण्ड को देख, मेरा हृदय क्यों नहीं हज़ार खण्ड हो कर फट जाता ॥ १४ ॥

श्रुतिस्तु स्वल्वियं सत्या लौकिकी प्रतिभाति मा ।

यदन्नः पुरुषो भवति तदन्नास्तस्य देवताः^१ ॥ १५ ॥

^१ क्षोदं—पिष्टम् । (रा०) २ देवताः इति श्रुतिः सत्येत्यन्वयः । (गो०)

लोग यह कहावत ठीक ही कहा करते हैं कि, मनुष्य जो कुछ स्वयं खाता है, वही वह अपने देव और पितरों को अर्पण करता है ॥ १५ ॥

एवमार्ता सपत्न्यस्ता जग्मुराश्वास्य तां तदा ।

ददशुश्वाश्रमे रामं स्वर्गच्युतमिवामरम् ॥ १६ ॥

इस प्रकार के कौशल्या जी के वचन सुन वे रानियाँ महारानी कौशल्या को धीरज वँधाती, श्रीरामाश्रम में पहुँचीं और वहाँ श्रीरामचन्द्र जी की स्वर्ग से नीचे आये हुए देवता की तरह, बैठा देखा ॥ १६ ॥

सर्वभोगैः परित्यक्तं रामं सम्प्रेक्ष्य मातरः ।

आर्ता मुमुक्षुरश्रूणि सस्वरं शोककर्शिताः ॥ १७ ॥

उन्होंने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी सब सुखोपयोगी भाग्य पदार्थों का त्यागे बैठे हुए हैं। तब तो वे सब की सब अत्यन्त दुःखी हो कर, उच्चस्वर से रोने लगीं ॥ १७ ॥

तासां रामः समुत्थाय जग्राह चरणाञ्जुभान् ।

मातृणां मनुजव्याघ्रः सर्वासां सत्यसङ्गरः ॥ १८ ॥

सत्यप्रतिज्ञ और पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी ने माताओं को देखते ही उठ कर, उन सब के चरण छुए ॥ १८ ॥

ताः पाणिभिः सुखस्पर्शैर्मृदुङ्गुलितलैः शुभ्रैः ।

ग्रममार्जुर रजः पृष्ठाद्रामस्यायतलोचनाः ॥ १९ ॥

तब बड़े बड़े नेत्रों वाली सब रानियों ने अपनी कोमल अतएव छूने पर सुख देने वाली हथेलियों से श्रीरामचन्द्र जी की पीठ की धूल पौँछी ॥ १९ ॥

सौमित्रिरपि ताः सर्वा मातृः सम्प्रेक्ष्य दुःखितः ।
अभ्यवादयतासक्तं^१ शनै रामादनन्तरम् ॥ २० ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी भी माताओं को देख, अत्यन्त दुःखी हुए और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के बाद धीरे धीरे अविरत सब माताओं को प्रणाम किया ॥ २० ॥

यथा रामे तथा तस्मिन्सर्वा वृत्तिरे स्थियः ।
वृत्तिं दशरथाज्जाते लक्ष्मणे शुभलक्षणे ॥ २१ ॥

जिस प्रकार उन रानियों ने श्रीरामचन्द्र की पीठ की धूल पोँछी थी, उसी प्रकार उन सब मे शुभलक्षण वाले लक्ष्मण जी की पीठ की भी धूल पोँछी, क्योंकि लक्ष्मण जी भी तो महाराज दशरथ ही के पुत्र थे ॥ २१ ॥

सीतापि चरणांस्तासामुपसंगृह्य दुःखिता ।
श्वश्रूणामश्रुपूर्णाक्षी सा बभूवाग्रतः स्थिता ॥ २२ ॥

तदनन्तर सीता जी ने भी दुःखित हो, आँखों में आँसू भर साँसों के पैर पकड़े और उनके सामने बै जा खड़ी हुई ॥ २२ ॥

तां परिष्वज्य दुःखातीं माता दुहितरं यथा ।
वनवासकृशां दीनां कौशल्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

दुःख से पीड़ित और वनवास के कष्टों के कारण कृश एवं दीन सीता जी को, देवी कौशल्या ने अपने हृदय से उसी प्रकार लगाया जिस प्रकार माता अपनी बेटी को हृदय से लगाती है। छाती से लगा कर, कौशल्या जी यह बात कहने लगी ॥ २३ ॥

विदेहराजस्य सुता स्नुषा दशरथस्य च ।
रामपत्री कथं दुःखं सम्प्राप्ता निर्जने वने ॥ २४ ॥

हा ! विदेहराज की बेटी, महाराज दशरथ की वहू और श्रीराम-
चन्द्र की धर्मपत्नी सीता—इस निर्जन वन में कैसे कैसे कष्ट भेल
रही है ॥ २४ ॥

पद्मातपसन्तसं परिक्षिष्टमिवोत्पलम् ।
काञ्चनं रजसा ध्वस्तं क्षिष्टं चन्द्रमिवाम्बुदैः ॥ २५ ॥

हे जानकी ! धूप से मुझसे हुए कमल की तरह व मीजे हुए
लाल कमल की तरह, अथवा धूलधूसरित सुवर्ण की तरह अथवा
बदली में क्षिष्टे चन्द्रमा की तरह ॥ २५ ॥

मुखं ते प्रेक्ष्य मां शोको दहत्याग्निरिताश्रयम्^१ ।
भृशं मनसि वैदेहि व्यसनारणिसम्भवः ॥ २६ ॥

तेरे मुख को देख, शोकाग्नि मुझे जलाये डालता है । जिस
प्रकार काष्ठ को अग्नि दग्ध करता है, उसी प्रकार दुःख रुपी अग्नि
से उत्पन्न अग्नि मेरे मन को बिलकुल भस्म किये डालता है ॥ २६ ॥

ब्रुवन्त्यामेवमार्तायां जनन्यां भरताग्रजः ।
पादावासाद्य जग्राह वसिष्ठस्य च राघवः ॥ २७ ॥

महारानी कौशल्या दुःखित हो इस प्रकार कह रही थीं कि,
भरत जी के बड़े भाई श्रीरामचन्द्र ने वशिष्ठ जी के पास जा, उनके
चरणकमल स्पर्श किये ॥ २७ ॥

^१ आश्रय—आश्रयभूतंकाष्ठादिकं । (गो०)

पुरोहितस्याग्निसमस्य वै तदा
बृहस्पतेरिन्द्र इवामराधिपः ।

प्रगृह्ण पादौ सुसमृद्धतेजसः
सहैव तेनोपविवेश राघवः ॥ २८ ॥

इन्द्र जिस प्रकार अपने गुरु बृहस्पति के चरण कूते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी भी अग्निसम तेजस्वी पुरोहित वशिष्ठ के चरण स्पर्श कर, उनके साथ आसन पर बैठ गये ॥ २८ ॥

ततो जघन्यं सहितैः समन्त्रिभिः
पुरप्रधानैश्च सहैव सैनिकैः ।

जनेन धर्मज्ञतमेन धर्मवान्
उपोपविष्टो भरतस्तदाऽग्रजम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा भरत जी अपने मंत्रियों, प्रजा के मुखियों और सेनापतियों के साथ श्रीरामचन्द्र के पास, उनके नीचे आसन पर बैठे ॥ २९ ॥

उपोपविष्टस्तु तदा स वीर्यवां-
स्तपस्त्विवेषेण समीक्ष्य राघवम् ।

श्रिया ज्वलन्तं भरतः कृताञ्जलिः
यथा महेन्द्रः प्रयतः प्रजापतिम् ॥ ३० ॥

पराक्रमी भरत तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के समीप बैठ कर, मुनिवेषधारी श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही हाथ जोड़ कर

देखते थे, जैसे देवराज इन्द्र, प्रजापति ब्रह्मा जी के पास हाथ जोड़ कर बैठते और उनकी ओर देखते हैं ॥ ३० ॥

किमेष वाक्यं भरतोऽव राघवं
प्रणम्य सत्कुल्य च साधु वक्ष्यति ।
इतीव तस्यार्यजनस्य तत्त्वतो
बभूव कौतूहलमुत्तमं तदा ॥ ३१ ॥

उस समय वहाँ जितने विशिष्टजन उपस्थित थे, वे अपने अपने मन में यही सोच रहे थे और उनको यह जानने के लिये बड़ा कौतुक हो रहा था कि, देखें भरत जी हाथ जोड़े हुए आदरपूर्वक श्रीराम-चन्द्र जी से क्या कहते हैं ॥ ३१ ॥

स राघवः सत्यधृतिश्च लक्ष्मणो
महानुभावो भरतश्च धार्मिकः ।
वृत्ताः सुहृद्दिश्च विरेजुरध्वरे
यथा सदस्यैः सहितास्त्वयोऽग्रयः ॥३२॥
इति श्युत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय सत्यवादी और धृतिवान श्रीरामचन्द्र महानुभाव लक्ष्मण जी और धर्मात्मा भरत जी नव सुहृदों के साथ शोभित हो रहे थे, मानों यज्ञ में सभासदों के साथ तीनों अग्नि सुशोभित हों ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

चतुर्स्तरशततमः सर्गः

—:०:—

तं तु रामः समाज्ञाय^१ भ्रातरं गुरुवत्सलम्^२ ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भरत जी को अपने में भक्तिमान जान, लक्ष्मण के साथ, भरत जी से पूछने लगे ॥ १ ॥

किमेतदिच्छेयमहं श्रोतुं प्रव्याहृतं त्वया ।

यस्मात्वमागतो देशमिमं चीरजटाजिनी ॥ २ ॥

हे भरत ! तुम चीर जटा और मृगचर्म धारण कर, इस बन में आये हो, सो इसका जो कारण हो वह मुझे सुनाओ ॥ २ ॥

*यन्निमित्तमिमं देशं कृष्णाजिनजटाधरः ।

हित्वा राज्यं प्रविष्टस्त्वं तत्सर्वं वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥

तुम राज्य छोड़, काले मृग का चर्म ओढ़ और जटा धारण कर जिस लिये यहाँ आये हो—सो सब मुझे बतलाओ ॥ ३ ॥

इत्युक्तः कैकूयीपुत्रः काकुत्स्थेन महात्मना ।

प्रगृह्य बलवद्भूयः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ४ ॥

महात्मा श्रीराम ने जब भरत से इस प्रकार पूँछा, तब भरत जी अतिकष्ट से शोक के बेग को रोक, हाथ जोड़ कर बोले ॥ ४ ॥

आर्यं तातः परित्यज्य कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।

गतः स्वर्गं महाबाहुः प्रत्रशोकाभिपीडितः ॥ ५ ॥

१ समाज्ञाय—ज्ञात्वा । (गो०) २ गुरुवत्सलं—गुरौस्वस्मिन् भक्तं । (गो०)

* पाठान्तरे—‘ किन्निमित्तमिमं । ’

हे आर्य ! महाराज पिता जी मेरी माता कैकेयी के कहने में आ, दुष्कर कर्म कर और पुत्रशोक से बिकल हो, स्वर्गवासी हुए ॥ ५ ॥

खिया नियुक्तः कैकेया मम मात्रा परन्तप ।

चकार सुमहत्पापमिदमात्मयशोहरम् ॥ ६ ॥

हे परन्तप ! मेरी माता कैकेयी ने अपने यश को नाश करने वाला यह महापाप कर डाला है ॥ ६ ॥

सा राज्यफलमपाप्य विधवा शोककर्शिता ।

पतिष्यति महाधोरे निरये जननी मम ॥ ७ ॥

सो वह मेरी माता राज्यरूपी फल को न पाने के कारण शोकाकुल और विधवा हो, धोर नरक में गिरेगी ॥ ७ ॥

तस्य मे दासभूतस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ।

अभिषिञ्चस्व चाद्यैव राज्येन मधवानिव ॥ ८ ॥

यद्यपि मैं कैकेयी का पुत्र हूँ, तथापि हूँ आपका दास । सो आप मुझ पर प्रसन्न हो कर आज ही अपना राज्याभिषेक करावें और इन्द्र की तरह राजसिंहासन पर बिराजें ॥ ८ ॥

इमाः प्रकृतयः सर्वा विधवा मात्रश्च याः ।

त्वत्सकाशमनुप्राप्ताः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ ९ ॥

देखिये, ये प्रजाजन और ये सब विधवा माताएँ आपके पास आयी हुई हैं, अतएव आप प्रसन्न हों (अथवा कहना मान लें) ॥ ९ ॥

तदानुपूर्व्यां युक्तं च युक्तं चात्मनि मानद ।

राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान्सुहृदः कुरु ॥ १० ॥

हे मानद ! आप ज्येष्ठ होने के कारण राज्य पाने के अधिकारी हैं और आप ही को राजगद्वा पर बैठना उचित भी है। अतएव धर्मानुसार राज्यभार ग्रहण कर सुहृदजनों की कामना पूरी कीजिये ॥ १० ॥

भवत्वविधवा भूमिः समग्रा पतिना त्वया ।

शशिना विपलेनेव शारदी रजनी यथा ॥ ११ ॥

जिस प्रकार शरदऋतु की रात विमल चन्द्रमा के द्वारा सधवा होती है, उसी प्रकार यह ससागरा पृथिवी आपको अपना पति बरण कर सधवा हो जायगी ॥ ११ ॥

एभिश्च सचिवैः सार्धं शिरसा याचितो मया ।

भ्रातुः शिष्यस्य दासस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

मैं आपका केवल भाइ ही नहीं हूँ, प्रत्युत शिष्य और दास भी हूँ। सो मैं इन मंत्रियों सहित आपको प्रणाम कर आपसे यह भिज्ञा मांगता हूँ या प्रार्थना करता हूँ, अतः आप इनकी प्रार्थना पर व्यान दें ॥ १२ ॥

तदिदं शाश्वतं पित्र्यं सर्वं प्रकृतिः^१मण्डलम्^२ ।

पूजितं पुरुषव्याघ्र नातिक्रमितुमर्हसि ॥ १३ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! परम्परा से मंत्रिपद प्राप्त एवं प्रतिष्ठा पाने योग्य इन सब मंत्रियों की प्रार्थना आप अस्वीकृत न कीजिये ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महाबाहुः सबाष्पः कैकयीसुतः ।

रामस्य शिरसा पादौ जग्राह विधिवत्पुनः ॥ १४ ॥

१ प्रकृतिनां—मंत्रिप्रभूतीनां । (गो०) २ मण्डलं—समूहं । (गो०)

यह कह महावाहु कैकेयीनन्दन भरत जी ने नेत्रों में आँखु भर कर श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में पुनः विधिवत् अपना सिर रख दिया ॥ १४ ॥

तं मत्तमिव मातङ्गं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।

भ्रातरं भरतं रामः परिष्वज्येदमब्रवीत् ॥ १५ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत को, जो बार बार मत्त हाथी की तरह साँस ले रहे थे, हृदय से लगा कर यह बात कही ॥ १५ ॥

कुलीनः १ सत्त्वसम्पन्नस्तेजस्वी चरितव्रतः ।

राज्यहेतोः कथं पापमाचरेत्वद्विधो जनः ॥ १६ ॥

हे भरत ! तुम जैसा कुलवान्, सतोगुणो व्रतधारी पुरुष राज्य के लिये क्यों अपने बड़े भाई के प्रतिकूल आचरण कर, पाप का भागी बनना पसंद कर सकता ॥ १६ ॥

न दोषं त्वयि पश्यामि सूक्ष्ममप्यरिसूदन ।

न चापि जननीं बाल्यात्वं^२ विगर्हितुमर्हसि ॥ १७ ॥

हे अरिसूदन ! मुझे तो तुममें ज़ुरासा भी दोष नहीं देख पड़ता । तुमको निना समझे बूझे अपनी माता की भी निन्दा न करनी चाहिये ॥ १७ ॥

कामकारो^३ महाप्राज्ञ गुरुणां सर्वदाऽनघ ।

उपपन्नेषु^४ दारेषु पुत्रेषु च विधीयते ॥ १८ ॥

१ सत्त्वसम्पन्न—सत्त्वगुण सम्पनः । (गो०) २ बाल्यात्—अज्ञानात् । (गो०) ३ कामकारः—स्वच्छन्दकरणं । (गो०) ४ उपपन्नेषु—शिष्य-दासादिषु । (गो०)

हे पापरहित ! हे महाप्राज्ञ ! पिता इत्यादि गुरुजन अपने अनुगत शिष्य दास और खी के साथ सदा इच्छानुसार व्यवहार कर सकते हैं ॥ १८ ॥

वयमस्य यथा लोके संख्याताः सौम्य साधुभिः ।

भार्याः पुत्राश्च शिष्याश्च त्वमनुज्ञातुमर्हसि ॥ १९ ॥

संसार में साधु लोग खी पुत्र और शिष्यों को जिस प्रकार आज्ञाकारी कह कर मानते हैं, वस वैसे ही, पिता के लेखे हम भी हैं । यह बात तुम्हें जान लेनी चाहिये ॥ १९ ॥

वने वा चीरवसनं सौम्य कृष्णाजिनाम्बरम् ।

राज्ये वाऽपि महाराजो मां वासयितुमीश्वरः ॥ २० ॥

हे सौम्य ! महाराज हम लोगों के नियन्ता हैं, वे चाहें हमें चीर बसन और मृगचर्म धारण करा, वन में रखें अथवा राज्य में रखें ॥ २० ॥

यावत्पितरि धर्मज्ञे गौरवं लोकसत्कृतम् ।

तावद्धर्मभृतांश्रेष्ठ जनन्यामपि गौरवम् ॥ २१ ॥

हे धर्मज्ञों में श्रेष्ठ ! जितना गौरव लोकपूजित पिता का है, उतना ही माता का भी है अर्थात् जितना आदर सम्मान पिता का करना चाहिये उतना ही आदर और सम्मान माता का भी करना चाहिये ॥ २१ ॥

एताभ्यां धर्मशीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव ।

मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे ॥ २२ ॥

हे भरत ! जब इन दोनों धर्मात्मा माता और पिता ने मुझसे कहा कि, वन जाओ, तब भला मैं किस प्रकार उनकी आशा का उल्लंघन कर अन्यथा कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

त्वया राज्यमयेऽध्यायां प्राप्तव्यं लोकसत्कृतम् ।

वस्तव्यं दण्डकारण्ये मया बल्कलवाससा ॥ २३ ॥

अतः हे भरत ! तुम अर्योध्या में जा कर लोगों की सम्मति से राजसिंहासन पर बैटो और मैं बल्कल धारण कर दण्डकवन में वास करूँगा ॥ २३ ॥

एवं कृत्वा महाराजो विभागं लोकसन्निधौ ।

व्यादिश्य च महातेजा दिवं दशरथो गतः ॥ २४ ॥

क्योंकि इसी प्रकार से महाराज, लोगों के सामने तुम्हारा और मेरा बढ़वारा कर स्वर्गवासी हुए हैं ॥ २४ ॥

स च प्रमाणं धर्मात्मा राजा लोकगुरुस्तव ।

पित्रा दत्तं यथा भागमुपभोक्तुं त्वमर्हसि ॥ २५ ॥

इस समय दे धर्मात्मा महाराज लोकों के और तुम्हारे भी गुरु हैं और उनको ऐसा करने का अधिकार है । अतः हे भरत ! तुम पिता के दिये हुए राज्य का उपभोग करो ॥ २५ ॥

चतुर्दश समाः सौम्य दण्डकारण्यमाश्रितः ।

उपभोक्त्ये त्वहं दत्तं भागं पित्रा महात्मना ॥ २६ ॥

हे सौम्य ! मैं भी चौदह वर्ष दण्डकवन में वास कर, महात्मा पिता जी का दिया हुआ हिस्सा उपभोग करूँगा ॥ २६ ॥

यदब्रवीन्मां नरलोकसत्कृतः
 पिता महात्मा बुद्धाधिपोपमः ।
 तदेव मन्ये परमात्मनो हितं
 न सर्वलोकेश्वरभावमप्यइम् ॥ २७ ॥
 इति चतुरुत्तरशततमः सर्गः ॥

सब लोगों से पूजित महाराज पिता जी ने जो मुझसे कहा है, उसीको मैं अपने लिये परम हितकारी समझता हूँ। पिता की आशा या इच्छा के विरुद्ध सर्वलोकेश्वर का पद भी मैं अपने लिये हितकारी नहीं समझता ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौथा सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

पञ्चोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

ततः पुरुषसिंहानां वृतानां तैः सुहृद्गणैः ।
 शोचतामेव रजनी दुःखेन व्यत्यवर्तत ॥ १ ॥

इस प्रकार वन्धु वान्धव और मिथ्रों के साथ उन राजकुमारों की—जो अत्यन्त दुःखित थे, रात सोच ही सोच में बीती ॥ १ ॥

रजन्यां सुप्रभातायां भ्रातरस्ते सुहृद्वृताः ।
 मन्दाकिन्यां हुतं जप्यं कृत्वा राममुपागमन् ॥ २ ॥

जब सबेरा हुआ, तब उन भाइयों ने वंधुवान्धवों के साथ मन्दाकिनी नदी पर जा जप होम किया। तदनन्तर वे सब के सब श्रीरामचन्द्र जी के आधम में उपस्थित हुए ॥ २ ॥

तृष्णीं ते समुपासीना न कश्चित्किञ्चिदब्रवीत् ।
भरतस्तु सुहन्मध्ये रामं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

सब के सब चुपचाप श्रीरामचन्द्र जी के पास बैठे थे, कोई किसी से बातचीत नहीं करता था । सज्जाटा सा छाया हुआ था कि, इतने में सुहृदों के बीच में भरत जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ ३ ॥

सान्त्विता मायिका माता दत्तं राज्यमिदं मम ।
तद्दामि तवैवाहं भुज्ञ्व राज्यमकण्टकम् ॥ ४ ॥

हे भाई ! वरदान द्वारा महाराज ने जो राज्य मेरी माता को दे, उसे शान्त किया था, वह राज्य माता ने मुझे दे डाला है । अब मैं वही राज्य आपको अर्पण करता हूँ । अब आप इस निष्कण्टक राज्य का उपभोग कीजिये ॥ ४ ॥

महतेवाम्बुवेगेन भिन्नः सेतुर्जलागमे ।
दुरावारं त्वदन्येन राज्यखण्डमिदं महत् ॥ ५ ॥

वर्षाकाल में जल की थपेड़ों से जब बाँध टूट जाता है, तब (सिवाय उस बाँध के) और कोई उस पानो को नहीं रोक सकता उसी प्रकार आपके सिवाय इस बड़े राज्य को रक्षा करने की शक्ति अन्य किसी में नहीं है ॥ ५ ॥

गतिं स्वर इवाश्वस्य तार्क्ष्यस्येव पतत्रिणः ।
अनुगन्तुं न शक्तिर्मे गतिं तव महीपते ॥ ६ ॥

हे महिपाल ! जिस प्रकार गधा घोड़े की अथवा अन्य पक्षी गहड़ की चाल को नहीं पा सकते, उसी प्रकार मैं भी आपके

राज्यपालन की सामर्थ्य नहीं पा सकता । अर्थात् जैसी योग्यता राज्यशासन की आपमें है, वैसो मुझमें नहीं है ॥ ६ ॥

सुजीवं नित्यशस्तस्य यः परैरुपजीव्यते ।

राम तेन तु दुर्जीवं यः परानुपजीवति ॥ ७ ॥

हं राम ! जिस राजा की सेवा अन्य लोग करते हैं, जोना उसी का अच्छा है ; किन्तु जो राजा औरों की सेवा कर के जीता है, उसका जीवन दुःखमय है । अथवा जिसके पोछे अनेक लोग जोते हैं उसी पुरुष का जीना, जीना है और जो दूसरों के सहारे जीता है, उसका जीना न जीना बराबर है ॥ ७ ॥

यथा तु रोपितो वृक्षः पुरुषेण विवर्धितः ।

इस्वकेन दुरारोहो रूदस्कन्धो महाद्रुमः ॥ ८ ॥

स यथा पुष्पितो भूत्वा फलानि न निर्दर्शयेत्* ।

स तां नानुभवेत्प्रीतिं यस्य हेतोः प्ररोपितः ॥ ९ ॥

जैसे, किसी आदमी ने वृक्ष लगाया और उसे जल से सौंच कर बड़ा किया । वह वृक्ष अपनी डारों और शाखाओं को फैला कर ऐसा महावृक्ष हो गया कि, उस पर छोटे डीलडौल का आदमी नहीं चढ़ सकता । वही वृक्ष जब पुष्पित तो हो, किन्तु फल न दे, तो जिन आदमी ने वह ऐड़ लगाया था, वह क्योंकर सन्तुष्ट रह सकता है ? ॥ ८ ॥ ६ ॥

एषोपमा महावाहो तमर्थं वेत्तुमहेसि ।

यदि त्वमस्मान्वृषभोऽ भर्ता भृत्यान् शाधि हि ॥१०॥

* वृषभः—अरेष्ठः । (शि०) * पाठान्तरे—“ विदर्शयेत् । ”

हे महाबाहो ! यह एक उपमा है । इसका अर्थ आप समझ सकते हैं । अतः यदि सर्वश्रेष्ठ स्वामी हो कर आप हम भत्यों का शासन नहीं करते (तो हम लोगों को, उस पुरुष की तरह जिसने फल प्राप्ति के लिये वह महावृक्ष लगाया था, फल न पाने से, हताश होना पड़ेगा) ॥ १० ॥

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्तवद्याश्च सर्वशः ।

प्रतपन्तमिवादित्यं राज्ये स्थितमरिन्दमम् ॥ ११ ॥

तवाऽनुयाने काङ्कुत्स्थ मत्ता नर्दन्तु कुञ्जराः ।

अन्तःपुरगता नार्या नन्दन्तु सुसमाहिताः ॥ १२ ॥

हे महाराज ! ऐसा कीजिये जिससे ये प्रजा के लोग शत्रुओं के नाश करने वाले आपको, राज्यासन पर तपते हुए सूर्य की तरह बैठा हुआ देखें तथा ये मत्त हाथी चिंघारते हुए आपके पीछे पीछे चलें और गवास में सब स्त्रियाँ शान्ति पा कर हर्षच्छनि करें ॥ ११ ॥ १२ ॥

तस्य साधित्यमन्यन्त नागरा विविधा जनाः ।

भरतस्य वचः श्रुत्वा रामं प्रत्यनुयाचतः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी से भरत जी की की हुई प्रार्थना सुन, सब नगरवासों साथु साथु कहने लगे ॥ १३ ॥

तमेवं दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।

रामः कृतात्मा^१ भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥ १४ ॥

उन यशस्वी भरत को, दुःखी और विलाप करते हुए देख, धैर्यवान् श्रीरामचन्द्र, समझा कर कहने लगे ॥ १४ ॥

^१ कृतात्मः—सुशिक्षितबुद्धिः धैर्यवान्वा । (गो०)

१ आत्मनः २ कामकारोऽस्ति पुरुषोऽयमनीश्वरः ३ ।

इतश्वेतरवश्वैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥ १५ ॥

हे भरत ! मनुष्य का कुद्र वश नहीं है । अर्थात् यह परतंत्र है । काल (सूखु) इसको इधर से उधर और उधर से इधर खींचा करता है । अर्थात् नाच नचाया करता है ॥ १५ ॥

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।

संयोगा विप्रयोगान्तं मरणान्तं च जीवितम् ॥ १६ ॥

यावत् सञ्चित पदार्थ नाशवान् हैं, जितने उच्चस्थित जीव हैं, वे (पुण्यक्रय होने पर) नीचे गिरने वाले हैं, पुत्र, मित्र, कलशादि जिनसे संयोग होता है, अन्त में उनसे वियोग भी होता है, और जितने जीवधारी हैं, वे सब मरणशोल हैं । अर्थवा संग्रह और क्षय, उच्चति और अवनति, संयोग और वियोग एवं जन्म और मरण का अटूट सम्बन्ध है ॥ १६ ॥

यथा फलानां पकानां नान्यत्र पतनाद्वयम् ।

एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद्वयम् ॥ १७ ॥

जिस प्रकार पके हुए फल को गिरने से डरना न चाहिये, उसी प्रकार उत्पन्न हुए नर को मरण से डरना न चाहिये । अर्थात् पका हुआ फल गिरता ही है और जो पैदा हुआ है वह मरता ही है ॥ १७ ॥

यथाऽगारं ददस्थूणं जीर्णं भूत्वाऽवसीदति ।

तथैव सीदन्ति नरा जरामृत्युवशंगताः ॥ १८ ॥

१ आत्मनः—पुरुषस्य । (गो०) २ कामकार ऐच्छिक व्यापारोऽस्ति ।

(गो०) ३ अनीश्वरः—अखतंत्र इत्यर्थः । (गो०)

जिस प्रकार मज़बूत खंभों पर अवलंबित घर पुराना होने पर गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी बुढ़ापे और मृत्यु के बग में हो, नष्ट हो जाता है ॥ १८ ॥

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते ।

यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकाकुलम् ॥ १९ ॥

हे भरत ! जो रात बीत गयी वह फिर नहीं लौटती । यमुना का जल जो एक बार समुद्र में मिल गया, वह फिर लौट कर जमुना में नहीं आता ॥ १६ ॥

अहोरात्राणि गच्छन्ति सर्वेषां प्राणिनामिह ।

आयूषि क्षपयन्त्याशु ग्रीष्मे जलमिवांशवः ॥ २० ॥

देखो ! ये दिन और रात जो बीतते चले जाते हैं, से प्राणियों की आयु की अवधि को शीघ्र शीघ्र कम करते जाते हैं । जैसे ग्रीष्म काल में सूर्य की र्करने, जल को सुखा कर कम कर देती है ॥ २० ॥

आत्मानमनुशोच त्वं किमन्यमनुशोचसि ।

आयुस्ते हीयते यस्य स्थितस्य च गतस्य च ॥ २१ ॥

अतः हे भरत ! तुम अपने लिये (अर्थात् अपने आत्मा के उद्धार के लिये) सोचो, तो सोचो, दूसरों के लिये सोच रखों करते हो ? आयु तो सभी की खटाती है, चाहे कोई बैठा रहे, बाइ चला फिरा करे ॥ २१ ॥

सहैव मृत्युर्वजति सह मृत्युनिषीदति ।

गत्वा सुदीर्घमध्वानं सह मृत्युनिवर्तते ॥ २२ ॥

मौत मनुष्य के साथ ही चलती है, साथ ही बैठती है और दूर जाने पर भी साथ नहीं छोड़ती और साथ जा कर साथ ही लौट भी आती है ॥ २२ ॥

गत्रेषु वलयः प्राप्ताः श्वेताश्वैव शिरोरुहाः ।

जरया पुरुषो जीर्णः किं हि कृत्वा प्रभावयेत् ॥२३॥

जब शरीर में सुर्दियाँ पड़ गयीं, सिर के केश सफेद हो गये और शरीर जरा से जर्जरित हो गया, तब मनुष्य कर ही क्या सकता है अथवा तब उसके रोके मौत कैसे रुक सकती है अथवा वह किस बल बूते पर दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है ॥ २३ ॥

नन्दन्त्युदित आदित्ये नन्दन्त्यस्तमिते रवौ ।

आत्मनो नावबुध्यन्ते मनुष्या जीवितक्षयम् ॥ २४ ॥

मनुष्य सूर्य के उदय होने पर और अस्त्र होने पर नित्य ही प्रसन्न होते हैं, किन्तु इससे उनकी आयु घटती है—इस बात को वे नहीं समझते ॥ २४ ॥

हृष्यन्त्युतुमुखं दृष्ट्वा नवं नवमिहागतम् ।

ऋतूनां परिवर्तेन प्राणिनां प्राणसंक्षयः ॥ २५ ॥

इसी प्रकार वसन्तादि नयी नयी ऋतुओं को देख, मनुष्य प्रसन्न होते हैं, किन्तु ऋतुओं की इस अदल बदल से उनकी उम्र घटती है—यह वे नहीं जानते ॥ २५ ॥

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।

समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कञ्चन ॥ २६ ॥

१ किं हि कृत्वा प्रभावयेत्—किं कृत्वा मृत्युनवर्तने समर्थोभवेत् । (शि०)

एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च धनानि च ।

समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो हेषां विनाभवः ॥ २७ ॥

जिस प्रकार महासागर में अन्य स्थानों से बह कर आयी हुई दो लकड़ियाँ एक स्थान पर पहुँच कर मिल जाती हैं और फिर काल पा कर पृथक् हो इधर उधर बहती चलती जाती जाती हैं, इसी प्रकार भार्या, पुत्र, भाईबन्द और धन सम्पत्ति जो आ कर अपने को मिलते हैं, इन सब का कालान्तर में वियोग होना भी निश्चय ही है ॥ २६ ॥ २७ ॥

नात्र कश्चिद्यथाभावं^१ प्राणी समभिवर्तते ।

तेन तस्मिन्न सामर्थ्यं प्रेतस्यास्त्यनुशोचतः ॥ २८ ॥

हे भरत ! इस संसार में कोई भी प्राणी यथाभिलाष अपने भाई बन्दों के साथ सदा नहीं रह सकता, अतः मृतपुरुष के लिये, उसकी मौत को रोकने की सामर्थ्य किसको है जो मरे हुए के लिये शोक किया जाय । अर्थात् मौत पर किसी का वश नहीं । अतः मरे हुए के लिये शोक करना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यथा हि सार्थं गच्छन्तं^२ ब्रूयात्कश्चित्पथि स्थितः ।

अहमप्यागमिष्यामि पृष्ठतो भवतामिति ॥ २९ ॥

जिस प्रकार यात्रियों का दूल रास्ते पर चला जाता हो और राह में बैठा हुआ कोई मनुष्य कहे कि तुम्हारे पीछे पीछे हम भी आते हैं ॥ २८ ॥

१ विनाभवः—वियोगः । (गो०) २ यथाभावं—न समभिवर्तते ।

यथाभिलाषं बन्धुभिः सह न वर्तते । (गो०) ३ गच्छन्तं सार्थं—पथिक-समूहं । (गो०)

एवं पूर्वेग्नेता मार्गः पितृपैतामहो ध्रुवः ।

तमापन्नः कथं शोचेद्यस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥३०॥

इसी प्रकार बाप दादे परदादों के चले हुए मार्ग पर आरुढ़ पुरुष को क्यों सोच करना चाहिये । क्योंकि उस मार्ग पर चलने के अतिरिक्त और तो कोई गति ही नहीं है ॥ ३० ॥

वयसः पतमानस्य स्रोतसो वाऽनिवर्तिनः ।

आत्मा सुखे नियोक्तव्यः सुखभाजः प्रजाः स्मृताः ॥३१॥

जिस प्रकार नदी की धार आगे ही बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती, उसी प्रकार आयु केवल जाती हो है अर्थात् घटती ही है, और आत्मा नहीं अर्थात् बढ़ती नहीं । अतः यह देख कर आत्मा को सुख के साधनभूत धर्मकृत्यों में लगाना उचित है । क्योंकि यह प्रजा सुखभोगो ही कही गयी है अर्थात् मनुष्यजन्म धर्मकृत्य करते हुए सुख भोगने के लिये ही कहा गया है अथवा मनुष्यजन्म सुख भोगने हो को होता है ॥ ३१ ॥

धर्मात्मा सशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चापदक्षिणैः ।

धूतपापे गतः स्वर्गं पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३२ ॥

हमारे महाराज पिता जी तो अच्छे मङ्गलरूपी और दक्षिणायुक यज्ञों को कर निष्पाप हो स्वर्गं सिधारे हैं ॥ ३२ ॥

भूत्यानां भरणात्सम्यक्प्रजानां परिपालनात् ।

अर्थादानाच्च धर्मेण॑ पिता नस्त्रिदिवं गतः ॥ ३३ ॥

^१ धर्मेण अर्थादानात्:—धर्मेणकरादिग्रहणात् । (गो०)

भूत्यों का भली भाँति भरण पैषण कर, प्रजा का भली भाँति पालन कर और उनसे धर्मपूर्वक कर ले कर, हमारे पिता स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३३ ॥

कर्मभिस्तु शुभैरिष्टैः । क्रतुभिश्चापदक्षिणैः ।

स्वर्गं दशरथः प्राप्तः पिता नः पृथिवीपतिः ॥ ३४ ॥

चौराहों पर तालाव वावड़ी आदि बनधा, प्रजाजनों के अभीष्ट पूरे कर, तथा विपुल दक्षिणा वाले यज्ञ कर हमारे पिता महाराज दशरथ स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३४ ॥

इष्टा बहुविधैर्यज्ञैर्भोगांशावाप्य पुष्कलान् ।

उत्तमं चायुरासाद्य स्वर्गतः पृथिवीपतिः ॥ ३५ ॥

अनेक प्रकार के यज्ञ कर, हर तरह के बहुत मे भोग भोग कर और अच्छी आयु भोग कर, महाराज स्वर्ग सिधारे हैं ॥ ३५ ॥

आयुरुत्तममासाद्य भोगानपि च राघवः ।

स न शोच्यः पिता तातः स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥ ३६ ॥

हे तात ! अच्छी आयु पा कर, अच्छे भोगों को भोग कर और सज्जनों से सम्मान पा कर महाराज स्वर्ग सिधारे हैं, अतः उनके लिये शोक करना उचित नहीं ॥ ३६ ॥

स जीर्णं मानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।

दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥ ३७ ॥

हमारे पिता जीर्ण शरीर को त्याग कर, ब्रह्मलोक में सुख भोगने वाले देवताओं के शरीर को प्राप्त होए होंगे ॥ ३७ ॥

१ इष्टैः—जनानां स्वस्यचाभिमतैः । (गो०) २ शुभैःकर्मभिः—महा-
पथेषुतटाकनिर्माणादिभिः । (गो०)

तं तु नैवंविधः कश्चित्प्राज्ञः शोचितुमर्हति ।

तद्विधो यद्विधश्चासि* श्रुतवान्वुद्धिमत्तरः ॥ ३८ ॥

अतएव उन पिता जी के लिये शोक करना तुम जैसे बुद्धिमान शास्त्रवेत्ता और ज्ञानी पुरुष के लिये उचित नहीं ॥ ३८ ॥

एते बहुविधाः शोका विलापस्तदिते तथा ।

वर्जनीया हि धीरेण सर्वावस्थासु धीमता ॥ ३९ ॥

तुम बुद्धिमान, तथा धैर्यवान हो, अतः तुमको इस प्रकार शोकान्वित हो, विलाप करना हर हालत में त्वागता चाहिये ॥ ३९ ॥

स स्वस्थो भव माँ शोको यात्वा चावस तां पुरीम् ।

तथा पित्रा नियुक्तोऽसि वशिना^१ वदतांवर ॥ ४० ॥

तुम स्वस्थ हो और शोक को त्याग कर, अयोध्यापुरी में जा कर बास करो । हे वाग्मिवर ! पिता जी तुमको अयोध्यापुरी में स्वतंत्रतापूर्वक रहने की आज्ञा दे गये हैं ॥ ४० ॥

यत्राहमपि तेनैव नियुक्तः पुण्यकर्मणा ।

तत्रैवाहं करिष्यामि पितुरार्यस्य शासनम् ॥ ४१ ॥

वह पुण्य कर्मों के करने वाले पूज्य पिता मुझको जैसी आज्ञा दे गये हैं, तदनुसार मैं भी वैसा ही करूँगा ॥ ४१ ॥

न मया शासनं तस्य त्यक्तुं न्याय्यमरिन्दम ।

तत्त्वयाऽपि सदा मान्यं स वै बन्धुः स नः पिता ॥ ४२ ॥

^१ वशिना — स्वतंत्रेण । (शि० . * पाठान्तरे — “अवि” । † पाठान्तरे — “शोचीर्यात्वा । ”

हे शत्रुघ्नों के दमन करने वाले ! मुझको उनकी आङ्गा का बल्लं-
धन करना उचित नहीं । क्योंकि हमारे पिता, बन्धु और शासनकर्ता
होने के कारण वे हमारे, तुम्हारे दोनों के लिये सदा मात्य हैं ॥ ४२ ॥

तद्वचः पितुरेवाहं सम्मतं धर्मचारिणः ।

कर्मणा पालयिष्यामि वनवासेन राघव ॥ ४३ ॥

अतएव मैं तो पिता जी की उसी आङ्गा का, जो धर्मचारण
करने वालों के सम्मत है, वन में वास करके पालन करूँगा ॥ ४३ ॥

धार्मिकेणानुशंसेन नरेण गुरुवर्तिना ।

भवितव्यं नरव्याघ परलोकं जिगीषता ॥ ४४ ॥

हे पुरुषसिंह ! जो मनुष्य धार्मिक एवं दयालु हैं तथा अपना
परलोक बनाने के अभिलाषी हैं, उनको बड़े लोगों का आङ्गाकारी
होना चाहिये ॥ ४४ ॥

आत्मानमनुतिष्ठ त्वं स्वभावेन नर्षभ ।

निशाम्य तु शुर्भं वृत्तं पितुर्दशरथस्य नः ॥ ४५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जी की सत्यप्रतिज्ञा को स्मरण कर,
अपने मन में अब राजधर्म की स्थापित करो। अर्थात् पिता जी की
सत्यप्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिये अयोध्या जा कर राज्य करो
(शिरामणिटीकानुसार) ॥ ४५ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा

पितुर्निदेशप्रतिपालनार्थम् ।

यवीयसं भ्रातरमर्थवच्च

प्रभुमुहूर्ताद्विराम रामः ॥ ४६ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

महात्मा श्रीरामचन्द्र, पिता को आङ्गा का पालन करने के लिये अपने छोटे भाई भरत से इस प्रकार के अर्थ गर्वित वचन कह कर, मुद्वर्त भर तक चुप रहे ॥ ४६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पाँचवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

षडुक्तरशततमः सर्गः

—:०:—

एव मुक्त्वा तु विरते रामे वचनमर्थवत् ।

ततो मन्दाकिनीतीरे रामं प्रकृतिवत्सलम् ॥ १ ॥

उवाच भरतश्चित्रं^१ धार्मिको धार्मिकं वचः ।

को हि स्यादीदशो लोके यादशस्त्वमरिन्दम् ॥ २ ॥

प्रजावत्सल श्रीराम, मंदाकिनी के टट पर जब इस प्रकार के सार्थक वचन कह कर पौन हो रहे, तब धर्मात्मा भरत जो श्रीराम जी से, अनेक प्रकार की युक्तियों से युक्त एवं धर्मयुक्त वचन लेते । भरत जी ने कहा—हे शत्रुनाशन ! आपके तुल्य इस लोक में दूसरा कौन होगा ॥ १ ॥ २ ॥

न त्वां प्रव्यथयेदुःखं प्रीतिर्वा न प्रहर्षयेत् ।

सम्मतश्चासि वृद्धानां तांश्च पृच्छसि संशयान् ॥ ३ ॥

न तो आपको दुःख दुःखी कर सकता है और न हर्ष हर्षित कर सकता है । सब बड़े बूढ़े आपको मानते हैं, तथापि धर्म के विषय में सन्देह होने पर आप उन लोगों से पूँछा करते हैं ॥ ३ ॥

^१ चित्रं—अनेक विधयुक्तिविशिष्टं वचः । (शि०)

यथा मृतस्तथा जीवन्यथाऽसति तथा सति ।

यस्यैष बुद्धिलाभः स्यात्परितप्येत केन सः ॥ ४ ॥

जिसके लेखे जैसा मरा हुआ आदमी वैसा ही जोता हुआ आदमी हो या जो यह समझ रहा हो कि, यह पदार्थ मेरे पास रहा तो क्या और न रहा तो क्या, ऐसो बुद्धि वाले मनुष्य को भला क्यों किसी वस्तु के लिये सन्ताप होने लगा ? ॥ ३ ॥

परावरज्ञो यश्च स्यात्तथा त्वं मनुजाधिप ।

स एवं व्यसनं प्राप्य न विषीदितुमर्हति ॥ ५ ॥

हे नराधिप ! आप मरीचा त्रिकालज्ञ अथवा जीवात्मा परमात्मा का रूप जानने वाला पुरुष, दुःख पड़ने पर भी विषाद को ग्रास नहीं होता ॥ ५ ॥

अमरोपमसत्त्वस्त्वं महात्मा सत्यसङ्करः ।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी च बुद्धिमांश्चासि राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! आप देवताओं की तरह सतोगुणी, महाधैर्यवान् होने के कारण सत्यप्रतिज्ञ हो, आप सब जानने वाले, सब कुछ देखने वाले और बुद्धिमान् हो ॥ ६ ॥

न त्वामेवं गुणैर्युक्तं प्रभवाभवकोविदम् ।

अविष्वात्मं दुःखमासादयितुमर्हति ॥ ७ ॥

१ परावरज्ञः—त्रिकालज्ञः परमात्मजोवात्मस्वरूपज्ञोवा । (गो०)

२ प्रभवाभवकोविदम्—प्रवृत्तिनिवृत्तिकारणतत्वज्ञाननिपुणम् । (शि०) ३ अविष्वात्मं—अन्यैरस्यमपि । (शि०)

ऐसे गुणों से युक्त होने के कारण आप जीवों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के कारणों को भली भाँति जानने वाले हैं। अतः आपको वे दुःख भी, जो अन्य लोगों को असह्य हैं, नहीं सता सकते ॥ ७ ॥

[एवमुक्त्वा तु भरतो रामं पुनरथाब्रवीत् ।]

प्रोषिते मयि यत्पापं मात्रा सत्कारणात्कृतम् ॥ ८ ॥

शुद्रया तदनिष्टं मे प्रसीदतु भवान्मम ।

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि तेनेमां नेह मातरम् ॥ ९ ॥

यह कह कर भरत जो ने श्रोतामचन्द्र जो से फिर यह कहा कि मेरे विदेश में रहते समय मेरी इस नोच माता ने जो पाप मेरे लिये किया है, वह मेरे लिये अनिष्टकारक है, अथवा मुझे इष्ट नहीं है, अतः मेरे ऊपर आप प्रसन्न हो। क्या कर्त्ता मैं धर्मबन्धन से बँधा हूँ नहीं तो मैं इस माता को, ॥ ८ ॥ ९ ॥

हन्मि तीव्रेण दण्डेन दण्डाह्राः पापकारिणीम् ।

कथं दशरथाज्जातः शुद्धाभिजनकर्मणः ॥ १० ॥

जानन्धर्मधर्मिष्ठं कुर्यां कर्म जुगुप्सितम् ।

गुरुः क्रियावान्वृद्धश्च राजा प्रेतः पितेति च ॥ ११ ॥

जो पाप करने वाली होने के करण दण्ड पाने योग्य है कठोर दण्ड दे मार ढालता। मैं ऐसे कुलीन एवं धर्मनिष्ठ महाराज दशरथ के औरस से डत्पन्न हूँ। क्या धर्म है और क्या अधर्म, यह जान कर मुझसे यह निन्दित कर्म करते नहीं बन पड़ता। सब यज्ञों की क्रियाओं के करने वाले, पूज्य और वृद्ध महाराज पिता जो परलोकवासी हुए ॥ १० ॥ ११ ॥

तातं न परिगर्हेयं दैवतं चेति संसदि ।

को हि धर्मार्थयोर्हीनमीदृशं कर्म किल्वषम् ॥ १२ ॥

अतः सब के सामने सभा में उनकी निन्दा करना उचित नहीं, किन्तु कौन ऐसा पुरुष होगा जो धर्म और अर्थ से रहित ऐसा पाप कर्म, ॥ १२ ॥

स्त्रियाः प्रियं चिकीर्षुः सन्कुर्याद्धर्मज्ञ धर्मवित् ।

३ अन्तकाले हि भूतानि मुहूर्नीतिः पुराश्रुतिः ॥ १३ ॥

धर्मज्ञों के धर्म को जान कर भी, स्त्री को प्रीति की कामना से करेगा । हे धर्मज्ञ ! यह एक पुराना कहावत है कि, मरने वाले की बुद्धि विगड़ जाती है ॥ १३ ॥

राजैवं कुर्वता लोके प्रत्यक्षं सा श्रुतिः कृता ।

४ साध्वर्थमभिसन्धाय क्रोधान्मोहाच्च साहसात् ॥ १४ ॥

५ तातस्य यदितिक्रान्तं प्रत्याहरतु तद्वान् ।

पितुर्हिं* समतिक्रान्तं पुत्रो यः साधु मन्यते ॥ १५ ॥

सो महाराज ने यह कर्म कर यह कहावत चरितार्थ करके लोगों को प्रत्यक्ष दिखला दी । महाराज ने भले ही कैकेयी के कुपित हो कर विष खाकर मर जाने के भय से, अथवा अपने चित्त के विक्षेप से, अथवा लोगों से बिना पूँछे ही, यह कर्म किया

१ अन्तकाले—विनाशकाले । (गो०) ३ मुहूर्नि—विपरीत बुद्धिं प्राप्तवन्ति । (गो०) ३ साध्वर्थभिसंधायः—समीचीनार्थस्मृत्वा । (गो०) ४ तातस्य यदिविक्रान्तं यद्मर्तिकमणं । (गो०) ५ तद्वान प्रत्याहरतु—निवर्तयतु । (गो०) * पाठान्तरे—“ यदितिक्रान्तं ” ।

हो, परन्तु अब आप उनके इस कर्म की ठीक समझ, अन्यथा विचार न कीजिये । क्योंकि जो पुत्र पिता की भूलचूक की भी ठीक मान लेता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

तदपत्यं मतं लोके विपरीतमतोऽन्यथा ।

तदपत्यं भवानस्तु मा भवान्दुष्कृतं पितुः ॥ १६ ॥

लोक में वही पुत्र, पुत्र माना जाता है । इसके विपरीत करने वाला पुत्र, पुत्र नहीं माना जाता । आप उनके पुत्र हो अतः उनकी भूलचूक पर व्यान न दें ॥ १६ ॥

अभिपत्ता कृतं कर्म लोके धीरविगर्हितम् ।

कैकेयीं मां च तातं च सुहृदो बान्धवांश्च नः ॥ १७ ॥

और उनके उस लोकनिन्दित कर्म का क्रिपाइये । कैकेयी को, मुझको, पिता को, सुहृदों को तथा हमारे भाईबंदों को ॥ १७ ॥

पौरजानपदान्सर्वास्त्रातु सर्वमिदं भवान् ।

क चारण्यं क च क्षात्रं क जटाः क च' पालनम् ॥ १८ ॥

तथा पुरजन आदि सब को आप इस अपवाद से बचा लीजिये । हे भाई ! कहाँ तो क्षात्रधर्म और कहाँ यह जनशूल्य बनवास । कहाँ जटाधारण और कहाँ प्रजापालन ! ॥ १८ ॥

ईदृशं 'व्याहतं कर्म न भवन्कर्तुर्मर्हति ।

एष हि प्रथमो धर्मः क्षत्रियस्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

अतः आप इन परस्परविरोधी कार्यों को न कीजिये । क्योंकि क्षत्रिय का सर्वप्रथम कर्त्तव्य कर्म यही है कि, वह अपना अभिषेक करावे ॥ १९ ॥

१ व्याहतं—विरुद्धं । (शि०)

[क्षत्रिय के लिये वानप्रस्थधर्मपालन का निषेध नहीं, तब भरत जी ने वनवास का निषेध क्यों किया ? इसका समाधान भरत जी ने स्वयं ही यह कह कर किया है कि, वानप्रस्थ होने के पूर्व क्षत्रिय को प्रजापालन करना चाहिये । आश्रमधर्मपालन में वर्णधर्म की अवहेला नहीं होनी चाहिये ।]

येन शक्यं महाप्राज्ञं प्रजानां परिपालनम् ।

कथं प्रत्यक्षमुत्सृज्य १संशयस्थमलक्षणम् ॥ २० ॥

जिससे वह प्रजा का पालन कर सके । भला बतलाइये तो इस प्रकार के प्रत्यक्ष फल देने वाले धर्म को छोड़, अप्रत्यक्ष और सुखों से रहित ॥ २० ॥

२आयतिस्थं चरेद्धर्मं क्षत्रबन्धुरनिश्चितम् ।

अथ क्लेशजमेव त्वं धर्मं चरितुमिच्छसि ॥ २१ ॥

एवं कालान्तर में फल देने वाले, अनिश्चित धर्मकर्म का करना कौन ज्ञात्रिय स्वीकार करेगा ? अथवा यदि आप इस प्रकार के शरीर को कष्ट देने वाला धर्माच्छाण करना चाहते हैं ॥ २१ ॥

धर्मेण चतुरो वर्णान्पालयन्क्लेशमाप्नुहि ।

चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमाश्रमम् ॥ २२ ॥

प्राहुर्धर्मज्ञं धर्मज्ञास्तं कथं त्युक्तुर्महसि ।

४श्रुतेन वालः स्थानेन५ जन्मना भवतो ह्यहम् ॥२३॥

तो धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप स्वीकार कीजिये । क्योंकि हे धर्मज्ञ ! चारों आश्रमों में (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यस्त—ये चार आश्रम हैं)

१ संशयस्थं—अप्रत्यक्षं । (गो०) २ अलक्षणं—लक्षणरहितं । (गो०)

३ आयतिस्थं—कालान्तर-भाविकलौ । (गो०) अनिश्चितं । (शि०) ४ श्रुतेन—विद्यया । (गो०) ५ स्थानेन—पदेन । (गो०)

गृहस्थ आश्रम ही को, धर्मज्ञ लोग सर्वोच्चम बतलाते हैं। तब इस आश्रम को ध्याप क्यों छोड़ना चाहते हैं? देखिये, क्या विद्या में, क्या पद में और क्या वय में, मैं आपके सामने बालक हूँ ॥ २२ ॥ २३ ॥

स कथं पालयिष्यामि भूर्मि भवति तिष्ठति ।

हीनबुद्धिगुणोऽ बालो हीनः स्थानेन चाप्यहम् ॥२४॥

सो मैं, आपके रहते, किस तरह पृथिवी का पालन कर सकता हूँ? मैं बुद्धिहीन और सद्गुण हीन हूँ और आपसे मैं पद में भी नीचा हूँ और बालक हूँ ॥ २४ ॥

भवता च विनाभूतो न वर्तयितुमुत्सहे ।

इदं निखिलमव्यग्रं राज्यं पित्र्यमकण्टकम् ॥ २५ ॥

अतः मैं आपके विना रह भी नहीं सकता फिर राज्य करने की बात तो जाने ही दिजिये अथवा मैं आपके विना जी भी नहीं सकता, राज्यपालन करना तो दूर है। अतः पिता के इस सम्पूर्ण, उत्तम एवं निष्कण्ठक राज्य का ॥ २५ ॥

अनुशाधि स्वधर्मेण धर्मज्ञ सह बान्धवैः ।

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह ॥ २६ ॥

ऋत्विजः सवसिष्टाश्च मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ।

अभिषिक्तस्त्वमस्माभिरयोध्यां पालने व्रज ॥ २७ ॥

हे धर्मज्ञ! आप ही वंशु बान्धवों सहित धर्म से पालन कीजिये। यहीं पर, हे मंश के जानने वाले! प्रजाजन, वशिष्ठ और

? हीनबुद्धिगुणः—सद्गुणबुद्धिरहितः । (गो०) २ वर्तयितु—
स्थानुः । (गो०)

मंत्रिगण सहित वैदिक मंत्रों के ज्ञाता ऋत्विक आपका अभिषेक कर दें और आप अभिषिक्त हो कर, हम लोगों के साथ अयोध्या में राज्य करने को चलें ॥ २६ ॥ २७ ॥

विजित्य तरसा लोकान्मरुद्धिरिव वासवः ।

ऋणानि त्रीण्यपाकुर्वन्दुर्हृदः^१ साधु निर्दहम् ॥ २८ ॥

सुहृदस्तपयन्कामैस्त्वमेवात्रानुशाधि माम् ।

अद्यार्य मुदिताः सन्तु सुहृदस्तेऽभिषेचने ॥ २९ ॥

जिस प्रकार अपने शत्रुओं की जीत, इन्द्र ने मरुदगणों के सहित स्वर्ग में प्रवेश किया था, उसी प्रकार आप भी हम लोगों के साथ अयोध्या में प्रवेश करें । देवत्मृण ऋषिऋरुण और पितृ-मृण—इन तीनों मृणों से उत्मृण हो, शत्रुओं को भस्म कर सुहृदों की मनोकामना पूर्ण करते हुए, सुझे अपना सेवक बना, आज्ञा दिया कीजिये । हे आर्य ! आज आपके अभिषेक से सुहृद लोग हर्षित हों ॥ २८ ॥ २९ ॥

अद्य भीताः पलायन्तां दुर्हृदस्ते दिशो दश ।

२आक्रोशं मम मातुश्च प्रमृज्य पुरुषर्षभ ॥ ३० ॥

और दुष्ट लोग भयभीत हो दसों दिशाओं में भाग जायँ । हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपको वनवास दिलाने का जो कलङ्क मेरी माता को लगा है उसको आप धो दीजिये ॥ ३० ॥

अद्य तत्रभवन्तं च पितरं रक्ष किल्विषात् ।

शिरसा त्वाऽभियाचेऽहं कुरुष्व करुणां मयि ।

बान्धवेषु च सर्वेषु भूतेष्विव महेश्वरः ॥ ३१ ॥

^१ दुर्हृदः—शत्रून् । (गो०) २ आक्रोशं—निन्दा । (रा०)

और पूज्य पिता जी को भी आप से बचाइये । देखिये ! मैं अपना मस्तक नवा आपसे यह याचना कर रहा हूँ, जिस प्रकार महेश्वर*—विष्णु सब प्राणियों पर दया करते हैं, उसी प्रकार आप भी मेरे और सब भाई बंदों के ऊपर दया कीजिये ॥ ३१ ॥

[नोट—यद्वेदादौस्वरः प्रोक्तोवेदान्तेच प्रतिष्ठितः ।

तस्यप्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥

भूषणटीकाकार ने “महेश्वर,, का अर्थ श्रुति-इतिहास प्रमाणों से विष्णु प्रतिपादित किया है—हतर टोकाकारों ने महेश्वर का अर्थ वृषभध्वज शिव या महादेव किया है ।]

अथैतत्पृष्ठतः कृत्वा वनमेव भवानितः ।

गमिष्यति गमिष्यामि भवता सार्धमप्यहम् ॥ ३२ ॥

यदि मेरी इस प्रार्थना को अखोकार कर, यहाँ से आप दूसरे वन को चले जायगे तो मैं भी आपके साथ ही साथ चलूँगा ॥ ३२ ॥

तथा हि रामो भरतेन ताम्यता

प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः ।

न चैव चक्रे गमनाय सन्त्ववान्

मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः ॥ ३३ ॥

यद्यपि भरत जो इस प्रकार गिङ्गिङ्गा और चरणों पर अपना सिर रख कर श्रीरामचन्द्र जी को मना रहे थे, तथापि श्रीरामचन्द्र जी पिता के वचन पर ऐसे हड़ थे कि, वे ज़रा भी उससे विचलित न हुए अथवा किसी प्रकार भी अयोध्या लौट जाना उन्होंने स्वीकार न किया ॥ ३३ ॥

तदद्भुतं स्थैर्यमवेक्ष्य राघवे
 समं जनो हर्षमवाप दुःखितः ।
 न यात्ययोध्यामिति दुःखितोऽभवत्
 स्थिरप्रतिज्ञत्वमवेक्ष्य हर्षितः ॥ ३४ ॥

जो लोग वहाँ उस समय उपस्थित थे वे श्रीरामचन्द्र जी के विचार की दृढ़ता को देख, हर्ष विषाद में एक साथ मग्न हो गये। वे दुःखित तो इस लिये थे कि श्रीरामचन्द्र जी अयोध्या जाना स्वीकार नहीं करते थे, साथ ही हर्ष उनको इस बात का था कि, श्रीरामचन्द्र जी दृढ़बुद्धि बाले हैं ॥ ३४ ॥

तमृत्विजो नैगमयूथवल्लभाः
 तथा विसंज्ञाश्रुकलाश्च मातरः ।
 तथा* ब्रुवाणं भरतं प्रतुष्टुवुः
 प्रणम्य रामं च ययाचिरे सह ॥ ३५ ॥
 इति षडुक्तरशततमः सर्गः ॥

व्यापारियों के मुखिया, वेदपाठों ब्राह्मण, धर्थवा ऋत्विज लोग मूर्छित हो गये तथा रुदन करती हुई माताएँ भरत जी की प्रशंसा करने लगीं और हाथ जोड़ कर भरत जी को ओर से श्रीरामचन्द्र जी की प्रार्थना करने लगीं ॥ ३५ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—;*;—

सप्तोत्तरशततमः सर्गः

—०—

पुनरेवं ब्रुवाणं तं भरतं लक्ष्मणाग्रजः ।

प्रत्युवाच ततः श्रीमाङ्गातिमध्येऽभिसत्कृतः^१ ॥ १ ॥

जब भरत जी ने फिर कुछ कहना चाहा, तब भरत जी से स्तुति द्वारा भली भाँति सत्कार किये गये श्रीरामचन्द्र जी, अपनी जाति के लोगों के सामने कहने लगे ॥ १ ॥

उपपन्नमिदं वाक्यं यत्त्वमेवमभाषथाः ।

जातः पुत्रो दशरथात्कैकेयां राजसत्तमात् ॥ २ ॥

हे भरत ! तुम नृपोत्तम महाराज दशरथ जो से, कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न हुए हो, अतः जो तुम कहते हो सो सब ठीक है ॥ २ ॥

पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्धन् ।

मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम् ॥ ३ ॥

पूर्वकाल में जब हमारे पिता दशरथ जी तुम्हारी माता कैकेयी से विवाह करने गये थे, तब तुम्हारे नाना से उन्होंने यह प्रतिज्ञा की थी कि, तुम्हारी बेटी के गर्भ से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही मेरे राज्यसिंहासन पर बैठेगा ॥ ३ ॥

[नोट—महाराज दशरथ का ऐसी प्रतिज्ञा करना अनुचित न था । क्योंकि कैकेयी के साथ उनका विवाह छलती उमर में हुआ था । अन्य रानियों के साथ बहुत दिनों रह कर, वे पुत्रोत्पन्न होने से निराश हो चुके थे । कैकेयी के

साध विवाह पुत्र की कामना ही से किया था। अतः उनका ऐसी प्रतिज्ञा करना ठीक ही था।

यदि यहाँ यह कोई कहे कि, जब महाराज कैकेयी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान ही को राज्य देने के लिये प्रतिज्ञाबद्ध हो चुके थे तब श्रीरामचन्द्र को युवराजपद देने की तैयारियाँ उन्होंने क्यों कीं, तो इसका समाधान स्मृतिकारों के इस वचन से होता है—

“ उद्धाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे ।

विप्रस्य चार्थेष्यनृतं वदेयुः पञ्चानुतान्याद्वरपातकानि ॥ ”

इसके अतिरिक्त महाराज अपने कुल की परम्परागत प्रथा के अनुसार ज्येष्ठ राजकुमार को राजसिंहासन देने के लिये भी वाध्य थे। यदि वे इस प्रथा के विरुद्ध कार्य करते, तो प्रजा उनके इस अनुचित कार्य का घोर विरोध करती और उनकी निन्दा करती जैसा कि प्रजा ने श्रीराम के वनवास के समय किया भी था।]

दैवासुरे च संग्रामे जनन्यै तव पार्थिवः ।

सम्प्रहृष्टे ददौ राजा वरमाराधितः प्रभुः ॥ ४ ॥

इसके अतिरिक्त दैवासुर संग्राम में भी तुम्हारी माता के उपकार से सन्तुष्ट हो, पिता जी ने उन्हें दो वरदान देने कहे थे ॥ ४ ॥

ततः सा सम्पतिश्राव्य तव माता यशस्विनी ।

अयाचत नरश्रेष्ठं द्वौवरौ वरवर्णिनी ॥ ५ ॥

अतः हे नरश्रेष्ठ ! यशस्विनी एवं सुन्दर वचन बोलने वाली तुम्हारी माता ने, पिता जी को वचनवद्ध कर उनसे दोनों वर माँगे ॥ ५ ॥

तव राज्यं नरव्याघ्र मम प्रव्राजनं तथा ।

तौ च राजा तदा तस्यै नियुक्तः प्रददौ वरौ ॥ ६ ॥

हे पुरुषसिंह ! एक वर से तुम्हारे लिये राज्य और दूसरे से मेरे लिये बनवास । महाराज ने भी माँगने पर इन दोनों वरों को दे अपनी प्रतिज्ञा पूरी की ॥ ६ ॥

तेन पित्राऽद्वयप्यत्र नियुक्तः पुरुषर्षभ ।

चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वरदानिकम् ॥ ७ ॥

हे नरवर ! उसी वरदान के कारण पिता को आज्ञा से मैंने चौदह वर्ष वन में वास करना स्वीकार किया ॥ ७ ॥

सोऽहं वनमिदं प्राप्तो निर्जनं लक्ष्मणान्वितः ।

सीतया 'चाप्रतिद्वन्द्वः सत्यवादे स्थितः पितुः ॥ ८ ॥

और पिता जी के वचन को सत्य करने के लिये सीता और लक्ष्मण को साथ ले और सर्दी गर्मी दुःख सुख की कुछ भी परवाह न कर मैं इस निर्जन वन में चला आया हूँ ॥ ८ ॥

भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।

कर्तुर्मर्हति राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषेचनात् ॥ ९ ॥

हे राजेन्द्र ! तुम भी अपना शोब्र राज्याभिषेक करवा कर मेरी तरह पिता जी को सत्यवादी बनाओ ॥ ९ ॥

ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।

पितरं चापि धर्मज्ञं मातरं चाभिनन्दय ॥ १० ॥

हे भरत ! मेरी प्रसन्नता के लिये तुम महाराज को इस ऋण से उत्सृण करो और उनकी रक्षा करो । माता कैकेयी को भी, स्वयं राज्यासन पर बैठ कर, प्रसन्न करो ॥ १० ॥

^१ अप्रतिद्वन्द्वः — शीतोष्णादिवाधारहितोऽहं । (शि०)

श्रूयते हि पुरा तात श्रुतिर्गीता यशस्विना ।

गयेन यजमानेन गयेष्वेव पितृन्प्रति ॥ ११ ॥

हे तात ! सुना है कि, पूर्वकाल में गय नाम के एक यशस्वी राजा गया प्रदेश में यज्ञ करते थे । उन्होंने पितरों से यह बाक्ष्य कहा था कि, ॥ ११ ॥

पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुतः ।

तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः पितृन्यत्पाति वा सुतः ॥ १२ ॥

पुत्र पिता को पुन्नाम नरक से उद्धार करता है और पितरों के उद्देश्य से इष्ट पूर्त कार्यों को कर पितरों को स्वर्ग में भेज सब प्रकार से पितरों की रक्षा करता रहता है । इसीसे उसको पुत्र कहते हैं ॥ १२ ॥

[नोट — इष्टापूर्त का विवरण स्मृतियों में यह लिखा है—

पूर्त—वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च ।

अञ्जप्रदानमारामाः पूर्तमध्यां प्रचक्षते ॥

इष्ट—एकास्ति कर्म इवनं त्रेतायां यच्च हूयते ।

अन्तवेद्यां च यद्यानमिष्टं तदभिधीयते ॥—V. S. Apte.]

एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः ।

तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥ १३ ॥

इसीसे लोग विद्वान् और गुणवान् बहुत से पुत्रों की चाहना करते हैं कि, उनमें से कोई पुत्र तो गया जा कर आद्वादि द्वारा पितरों का उद्धार करेगा ॥ १३ ॥

? पितृन् पाति—तदुद्देशकृतेष्टापूर्तादिना स्वर्लोकं प्रापय्यरक्षतीर्थ्यः ।
(गो०)

एवं राजर्षयः सर्वे प्रतीता राजनन्दन ।
तस्माद्ब्राह्मि नरश्रेष्ठ पितरं नरकात्प्रभो ॥ १४ ॥

हे राजनन्दन ! सब राजर्षियों का इस बात पर विश्वास है ।
अतः हे नरश्रेष्ठ ! तुम पिता जो का नरक से उद्धार करो ॥ १४ ॥

अयोध्यां गच्छ भरत प्रकृतीरजुरञ्जय ।
शत्रुघ्नसहितो वीर सह सर्वैर्द्विजातिभिः ॥ १५ ॥

हे भरत ! तुम शत्रुघ्न को तथा सब ब्राह्मणादि प्रजा को साथ
ले कर, अयोध्या में जा कर प्रजाश्रों को आनन्दित करो ॥ १५ ॥

प्रवेक्ष्ये दण्डकारण्यमहमप्यविलम्बयन् ।
आभ्यां तु सहितो राजन्वैदेशा लक्ष्मणेन च ॥ १६ ॥

हे राजन ! मैं भी सीता और लक्ष्मण को साथ ले शीत्र
दण्डकारण्य में प्रवेश करूँगा ॥ १६ ॥

त्वं राजा भरत भव स्वयं नाराणां
वन्यानामहमपि राजराण्यमृगाणाम् ।
गच्छ त्वं पुरवरमद्य संप्रहृष्टः
संहृष्टस्त्वहमपि दण्डकान्प्रवेक्ष्ये ॥ १७ ॥

हे भरत ! तुम मनुष्यों के राजा हो और मैं वनमृगों के
राजाश्रों का राजा हूँगा । तुम प्रसन्न हो अब श्रेष्ठ नगरी अयोध्या
को गमन करो और मैं भी आनन्दपूर्वक दण्डकवन में प्रवेश
करूँ ॥ १७ ॥

छायां ते दिनकरभाः प्रबाधमानं
 १ वर्षत्रं भरत करोतु मूर्धिन शीताम् ।
 एतेषामहमपि काननद्वामाणां
 छायां तामतिशयिनीं सुखी श्रयिष्ये ॥१८॥

सूर्य के आतप को रोकने वाले राजकुमार तुम्हारे मस्तक पर
 शीतल छाया करें और मैं ज़ङ्गल के इन वेड़ों की सघन छाया
 का आश्रय ग्रहण करूँ ॥ १८ ॥

शत्रुग्नः कुशलमतिस्तु ते सहायः
 सौमित्रिम् विदितः प्रधानमित्रम् ।
 चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रं
 सत्यस्थं भरत चराम मा विषादम् ॥१९॥
 इति सप्तोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! यह अमितशुद्धि वाले शत्रुग्न तुम्हारे सहायक रहेंगे
 और सर्वलोकों में प्रसिद्ध यह लक्ष्मण मेरी सहायता करेंगे । इस
 प्रकार नृपश्रेष्ठ महाराज दशरथ के हम चारों पुत्र महाराज दशरथ
 को सत्यवादी करें । अतः अब तुम विषादयुक्त मत हो ॥ १९ ॥

[नोट—इस प्रकार जब श्रीरामचन्द्र जी ने भरत जी को निरुत्तरित कर
 दिया, तब भरत जी को चुप देख, हितपरता के कारण, जावालि जी ने चार्वाक
 मत का सहारा ले श्रीरामचन्द्र जी को जो उत्तर दिया था वह १०८ वें
 अध्याय में लिखा गया है ।]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



अष्टोत्तरशततमः सर्गः

— : * : —

आश्वासयन्तं भरतं जावालिब्राह्मणोत्तमः ।
उवाच रामं धर्मज्ञं धर्मपीतमिदं॑ वचः ॥ १ ॥

इस प्रकार भरत जी को समझाते हुए श्रीरामचन्द्र जी से जावालि नाम के एक श्रेष्ठ ब्राह्मण ने ये धर्मविरुद्ध वचन कहे ॥१॥

साधु राघव मा भूते बुद्धिरेवं निरर्थिका॒ ।
प्राकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धेमनस्विनः ॥ २ ॥

वाह महाराज वाह ! आपको तो पामरजनों जैसी निरर्थक बुद्धि न होनी चाहिये । क्योंकि आप केवल श्रेष्ठ बुद्धिवाले ही नहीं, किन्तु मनस्वी भी हैं ॥ २ ॥

कः कस्य पुरुषो बन्धुः किमाप्यं कस्य केनचित् ।
यदेको जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ॥ ३ ॥

भला ज़रा सोचिये तो, कौन किसका बन्धु है और कौन किसका बना बिगाड़ सकता है । यह प्राणी अकेला ही जन्म लेता है और फिर अकेला ही नष्ट भी होता है ॥ ३ ॥

तस्मान्माता पिता चेति राम सज्जेत यो नरः ।

उन्मत्त इव स ज्ञेयो नास्ति कश्चिद्दि कस्यचित् ॥४॥

अतः यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है—ऐसा सम्बन्ध मान कर जो पुरुष इन सम्बन्धों में आसक्त होता है, उसे पागल की

१ धर्मपीत—धर्ममार्गविरुद्धं । (रा०) २ निरर्थिका—परमार्थ रहिता । (शि०)

तरह समझना चाहिये । क्योंकि विचारपूर्वक देखा जाय तो सच-
मुच कोई भी किसी का नहीं है ॥ ४ ॥

यथा ग्रामान्तरं गच्छन्नरः कश्चित्कचिद्वसेत् ।
उत्सृज्य च तमावासं प्रतिष्ठेतापरेऽहनि ॥ ५ ॥

जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने गाँव से दूसरे गाँव को जाता
हुआ, कहीं मार्ग में उहर जाता है और अगले दिन उस स्थान को
छोड़ चल देता है ॥ ५ ॥

एवमेव मनुष्याणां पिता माता यृहं वसु ।

आवासमात्रं काकुत्स्थ सज्जन्ते नात्र सज्जनाः ॥ ६ ॥

इसी प्रकार पिता माता, घर और धनादि सम्पत्ति के साथ
भी मनुष्य का थोड़ी देर का टिकाऊ सम्बन्ध है । अतएव सज्जन
लोग इनमें आसक्त नहीं होते ॥ ६ ॥

पित्र्यं राज्यं परित्यज्य स नार्हसि नरोत्तम ।

अस्थातुं कापथं दुःखं विषमं बहुकण्टकम् ॥ ७ ॥

अतएव हे नरोत्तम ! आप पिता के राज्य को छोड़, इस कुमार्ग
पर, जो दुःख देने वाला, युवावस्था के श्रेयों और बहुकण्टकों
से परिपूर्ण है, आरूढ़ होने योग्य नहीं हैं ॥ ७ ॥

समृद्धायामयोध्यायामात्मानमभिषेचय ।

१ एकवेणीधरा हि त्वां नगरी॒ सम्प्रतीक्षते ॥ ८ ॥

१ विषमं—यौवनानुचितं । (गो०) २ एकवेणीधरा—व्रतपरायणेत्यर्थः
(गो०) ३ नगरी—तदधिदेवता । (गो०)

आप तो चल कर अब धन धान्ययुक्त अयोध्या में अपना अभिषेक करवाइये । क्योंकि अयोध्या की अधिष्ठात्री देवी पति-व्रतधारण कर आपके आगमन की बाट जोह रही है ॥ ८ ॥

राजभोगाननुभवन्महार्हन्पार्थिवात्मज ।

विहर त्वमयोध्यायां यथा शक्रस्त्रिविष्टपे ॥ ९ ॥

हे राजकुमार ! आप बहिर्या बहिर्या राजाओं के भोगने योग्य भोगों का उपभोग करें और अयोध्या में उसी प्रकार विहार करें जिस प्रकार इन्द्र अमरावती में विहार करते हैं ॥ ९ ॥

न ते कश्चिद्वशरथस्त्वं च तस्य न कश्चन ।

अन्यो राजा त्वमन्यः स तस्मात्कुरु यदुच्यते ॥ १० ॥

न तो श्रव दशरथ आपके कोई हैं और न आप दशरथ के कोई हैं । राजा कोई और है और आप कोई और हैं । इसलिये मैं जो कहता हूँ उसे आप कीजिये ॥ १० ॥

बीजमात्रं पिता जन्तोः शुक्लं स्वधिरमेव च ।

संयुक्तमृतुमन्मात्रा पुरुषस्येह जन्म तत् ॥ ११ ॥

प्राणी के जन्म में पिता तो वीर्य का एक कारण मात्र है । क्योंकि ऋतुमती माता के गर्भ में एकत्र ही मिला हुआ वीर्य और रज ही जीव के जन्म का हेतु है ॥ ११ ॥

गतः स वृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै ।

'प्रवृत्तिरेषा मर्यानां' त्वं तु॑ मिथ्या विहन्यसे ॥ १२ ॥

१ प्रवृत्तिः—स्वभाव इत्यर्थः । (गो०) २ मर्यानां—मरणशीलानां । (गो०) ३ त्वं तु मिथ्या विहन्यसे—मिथ्याभूतेन संवन्धेन पोड्यसे । (गो०)

वे महाराज तो जहाँ उनको जाना या वहाँ गये । क्योंकि मरण-
शील प्राणियों का स्वभाव ही यह है । तुम वृथा ही इस मूठे
सम्बन्ध को ले, पीड़ित होते हो ॥ १२ ॥

अर्थधर्मपरा ये ये तांस्ताञ्चोचामि नेतरान् ।

ते हि दुःखमिह प्राप्य विनाशं प्रेत्य भेजिरे ॥ १३ ॥

जो लोग प्रत्यक्ष भिलते हुए सुख को त्याग कर आगे सुख
मिलने की आशा से कष्ट भोग कर धर्मोपार्जन करते हैं, और ऐसा
करते करते नष्ट हो जाते हैं, मुझे उन्होंने लोगों के लिये दुःख है
औरों के लिये नहीं, अथवा मुझे उन लोगों के लिये शोक है जो
प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ को त्याग, अप्रत्यक्ष धर्म सम्पादन में तत्पर रह
कर, इसलोक में तो दुःख भोगते ही हैं किन्तु वे नष्ट होने पर भी
दुःख भोगते हैं । औरों के लिये नहीं ॥ १३ ॥

अष्टका पितृदैवत्यवित्यं प्रसृतो जनः ।

अन्नस्योपद्रवं^१ पश्य मृतो हि किमशिष्यति ॥ १४ ॥

देखिये, लोग जो अष्टकादि शास्त्रकर्म पितरों के उद्देश्य से,
प्रतिवर्ष किया करते हैं, उससे लोग अन्न का कैसा नाश करते हैं ।
भला कहीं कोई मरा हुआ भी कभी भोजन करता है ? ॥ १४ ॥

यदि भुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति ।

दद्यात्प्रवसतः श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि एक का खाया हुआ अन्न दूसरे के शरीर में पहुँच जाता
तो वटोही को रास्ते में भोजन करने के लिये, भोज्य पदार्थ अपने

^१ अर्थधर्मपराः—प्रत्यक्षसौख्यं विहाय केवलार्थसम्पादनपराः । (गो०)

^२ उपद्रवं—क्षयं । (गो०)

साथ लेने की ज़रूरत ही क्या है ? क्योंकि उसके सम्बन्धी उसके नाम पर घर पर ही श्राद्ध कर दिया करते और वही उस बटोही के लिये, मार्ग की भोजन का काम देता और बटोही बोझ ढोने से बच जाता ॥ १५ ॥

‘दानसंवनना ह्येते ग्रन्था मेधाविभिः२ कृताः ।

यजस्य देहि दीक्षस्य तपस्तप्यस्य सन्त्यज ॥ १६ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! अन्य उपायों से धनोपार्जन में क्लेश देख, दूसरों का धन हरने में चतुर लोगों ने दान द्वारा लोगों की वश में करने के लिये, धर्मग्रन्थों में जिज्ञ रखा है कि, यज्ञ करो, दान दो, दीक्षा लो, तप करो, संन्यास लो अर्थात् लोगों को धोखा दे कर उनका धन हरण करना ही इन धर्मग्रन्थों की रचना का मुख्य उद्देश्य है ॥ १६ ॥

स नास्ति परमित्येव कुरु बुद्धिं महामते ।

प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु ॥ १७ ॥

हे महामते ! वास्तव में इस लोक के अतिरिक्त परलोक आदि कुछ भी नहीं है । इसे आप भली भांति समझ लीजिये । अतः जो सामने है, उसे ग्रहण कीजिये और जो परोक्ष, अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं है उसे पीठ पीछे कीजिये । अर्थात् प्रत्यक्ष में सुखदायक राज्य को ग्रहण कीजिये और परोक्ष की बात (कि पिता को सत्यप्रतिज्ञ करने से बड़ा पुण्य होगा,) को भुला दीजिये ॥ १७ ॥

१ दानसंवननाः—दानायत्तशोकरणोपायाः । (गो०) २ मेधाविभिः—परद्रव्यग्रहणकुशलबुद्धिभिः । (गो०)

सतां बुद्धिं पुरस्कृत्य सर्वलोकनिदर्शिनीम् ।
राज्यं त्वं प्रतिगृहीष्व भरतेन प्रसादितः ॥ १८ ॥

इति पञ्चोत्तरशततमः सर्गः ॥

देखिये भरत जो आपसे प्रार्थना करते हैं, अतः सर्व जनानु-
मोदित सज्जनों के मत को स्वीकार कर, राज्य ग्रहण कीजिये ॥ १८ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ आँठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

नवोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

जावालेस्तु वचः श्रुत्वा रामः ३सत्यात्मनां वरः ।

उवाच परया भक्त्या स्वबुद्ध्या चाविपन्नयाः ॥ १ ॥

जावालि की बातें सुन, सत्यभाव वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र
जो अपनी अविचल बुद्धि से विचारे हुए, वैदिक धर्म में धद्धा
उत्पन्न करने वाले वचन बोले ॥ १ ॥

भवान्मे प्रियकामार्थं वचनं यदिहोक्तवान् ।

आकार्यं कार्यसङ्काशमपथ्यं पथ्यसम्मितम् ॥ २ ॥

आपने मुझे प्रसन्न करने के लिये जो बातें कहीं, वे कार्य रूप
में परिणत करने के लिये अनुपयुक्त और न्यायमार्ग के विरुद्ध

१ सर्वलोकनिदर्शिनीम्—सर्वजनसंमताभित्यर्थः । (गो०) २ सत्यात्मनां-
वरः—सत्यस्वभावानां श्रेष्ठः । (रा०) ३ सत्यात्मनां भक्त्या—वैदिकधर्म-
श्रद्धया । (गो०) ३ अविपन्नयाः—अचलित्या । (गो०)

होने पर भी, साधारण द्वषि से देखने पर, न्यायानुमेादित और करने योग्य ज्ञान पड़ती हैं अर्थात् आपकी सब बातें बनावटी हैं ॥ २ ॥

निर्मर्यादस्तु पुरुषः पापाचारसमन्वितः ।

मानं न लभते सत्सु भिन्नचारित्रदर्शनः ॥ ३ ॥

मर्यादा रहित, पापाचरण से युक्त, चरित्रहीन और साधु सम्मत शास्त्रों के विरुद्ध आचरण वाले पुरुष का सज्जनों के समाज में आदर नहीं होता ॥ ३ ॥

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम् ।

चारित्रमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम् ॥४॥

चरित्र ही अकुलीन को कुलीन, भीरु को वीर और अपावन को पावन प्रसिद्ध करता है ॥ ४ ॥

अनार्यस्त्वार्यसङ्काशः शौचाद्वीनस्तथा शुचिः ।

लक्षण्यवदलक्षण्ये दुःशीलः शीलवानिव ॥ ५ ॥

अधर्मं धर्मवेषेण यदीमं लोकसङ्करम् ।

अभिपत्स्ये शुभं॑ हित्वा क्रियाविधिविवर्जितम्॒ ॥६॥

कथेतयानः॑ पुरुषः कार्यकार्यविचक्षणः ।

बहुमस्यति मां लोके दुर्वृत्तं लोकदूषणम् ॥ ७ ॥

१ लोकसंकरम्—लोकसङ्करकारकम् । (गो०) २ शुभं—शुभसाधनं वैदिकधर्मम् । (गो०) ३ क्रियाविधिविवर्जितम्—वैदिकक्रियावेदविधिना चवर्जितं इमंत्वदुक्तमधर्मं । (गो०) ४ चेतयानः—ज्ञानवान् । (गो०)

यदि मैं श्रेष्ठ पुरुषों की मर्यादा में रह कर, अनार्थी की तरह ; पवित्र हो कर, शौचहीन की तरह और शीलवान हो कर, दुःशील की तरह धर्म के वेष से वैदिक धर्म को छोड़, लोगों में सङ्करता बढ़ाने वाले, वैदिक विधि और वैदिक क्रिया से रहित आपके बतलाये हुए धर्म को ग्रहण करूँ, तो कार्य अकार्य को जानने वाला कौन ज्ञानवान पुरुष, मुझ दुराचारी और लोकनिन्दित का सम्मान करेगा ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥

कस्य धास्याम्यहं वृत्तं केन वा स्वर्गमाप्नुयाम् ।

अनया वर्तमानो हि वृत्त्या हीनप्रतिज्ञया ॥ ८ ॥

यदि आपके उपदेशानुसार मैं इस सत्य-प्रतिज्ञ-पालन-हीन वृत्ति को अवलंबन कर लूँ तो, मैं किस कर्म के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करूँगा ॥ ८ ॥

कामवृत्तस्त्वयं लोकः कृत्स्नः समुपवर्तते ।

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः ॥ ९ ॥

जब मैं (ही) यथेच्छाचारी हो गया, तब (अन्य) सब लोग अपना मनमाना काम करने लगेंगे । क्योंकि राजा का जैसा आचरण होता है, वैसा ही आचरण प्रजा का भी हो जाता है । (यथा राजा तथा प्रजा प्रसिद्ध ही है) ॥ ९ ॥

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम् ।

तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥ १० ॥

भूतानुकम्पा प्रधान और सनातन राजधर्म सत्यरूप है, अतः राज्य सत्यरूप है और सत्य ही से यह लोक टिका हुआ है ॥ १० ॥

१ अनृशंसं—भूतानुकम्पाप्रधानं सनातनं च राजवृत्तं सत्यरूपमेव । (गो०)

[नोट—अर्थात् राजा का धर्म है कि वह प्राणि मात्र पर दयायुक्त व्यवहार करे और अपने व्यवहार में असत्य को स्थान न दे । राजधर्म में झूठ बोलना निषिद्ध है । भूतानुकम्पाप्रधान एवं सत्यरूप राजधर्म अनादिसिद्ध है । सत्यव्यवहार यदि लोप हो जाय तो इस लोक में एक क्षण भी रहना कठिन हो जाय ।]

ऋषयश्चैव देवाश्च सत्यमेव हि मेनिरेः ।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन्परमं गच्छति क्षयम् ॥११॥

देखो ऋषि लोग और देवता लोग सत्य को उत्कृष्ट मानते हैं; क्योंकि सत्यवादी पुरुष को अक्षय ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ॥ ११ ॥

उद्विजन्ते^४ यथा सर्पान्नरादनृतवादिनः ।

धर्मः सत्यं परो लोके मूलं स्वर्गस्य चोच्यते ॥ १२ ॥

मिथ्यावादी पुरुष से लोग कैसे ही डरते हैं जैसे सौंप से । सत्य से युक्त धर्म केवल समस्त लौकिक व्यवहारों ही का मूल नहीं है, किन्तु स्वर्गप्राप्ति का भी मूल साधक है ॥ १२ ॥

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्यं पद्मा श्रिता सदा ।

सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम्^५ ॥१३॥

सत्य ही से ईश्वर की प्राप्ति होती है, सत्य ही से लक्ष्मी-धन धान्य मिलता है । सत्य ही सब सुखों का मूल है, सत्य से बढ़ कर और कोई वस्तु नहीं है जिसका आश्रय लिया जाय ॥ १३ ॥

दत्तमिष्टं हुतं चैव तपानि च तपांसि च ।

वेदाः सत्यप्रतिष्ठानास्तस्मात्सत्यपरो भवेत् ॥ १४ ॥

१ मेनिरे—उत्कृष्टसितिशेषः । (गो०) २ परमक्षयम्—परमधाम ।

(गो०) ३ उद्विजन्ते—जनाद्वितशेषः । (गो०) ४ पदम्—आश्रयं । (शि०)

दान, यज्ञ, तप और वेद—ये सब सत्य हैं, अतएव सब को सदा सत्य पालन के लिये तैयार रहना चाहिये ॥ १४ ॥

एकः पालयते लोकमेकः पालयते कुलम् ।

मज्जत्येको हि निरय एकः स्वर्गं महीयते ॥ १५ ॥

कोई तो अपने कर्मों के फल से अपने कुल का और कोई लोक भर का पालन करता है । कोई नरक में छावता है और कोई स्वर्ग में पूजित होता है ॥ १५ ॥

सोऽहं पितुर्नियोगं तु किमर्थं नानुपालये ।

सत्यप्रतिश्रवः सत्यं सत्येन समयीकृतः ॥ १६ ॥

अतएव मैं (कर्मफल को जानता हुआ और) सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा करके, सत्यप्रतिज्ञा और सदाचारी पिता की सत्य रूप उस आज्ञा का, जिसकी प्रतिज्ञा सत्यतापूर्वक की गयी है, पालन क्यों न करूँ ॥ १६ ॥

नैव लोभान्न मोहाद्वा न ह्यज्ञानात्तमोन्वितः ।

सेतुं^१ सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः^२ सत्यप्रतिश्रवः ॥ १७ ॥

अतएव मैं न तो राज्य पाने के लोभ से, न लोगों के भुलावे में आ और न अज्ञान से क्रोध के वशवर्ती हो, पिता की सत्यरूपी मर्यादा को तोड़ूँगा, क्योंकि मैं सत्यं सत्यप्रतिज्ञा हूँ ॥ १७ ॥

असत्यसन्धस्य सतश्चलस्यास्थिरचेतसः ।

नैव देवा न पितरः प्रतीच्छन्तीति नः श्रुतम् ॥ १८ ॥

^१ सेतुं—मर्यादा । (गो०) ^२ गुरोः—पितुः । (शि०)

मैंने सुना है कि, जो सत्यप्रतिज्ञा को भङ्ग करने वाला, चञ्चल स्वभाव और अस्थिर चित्त है, उसका दिया हुआ हृष्ण और कव्य देवता और पितर ग्रहण नहीं करते ॥ १८ ॥

प्रत्यगात्ममिमं धर्मं सत्यं पश्याम्यहं स्वयम् ।

भारः १सत्पुरुषाचीर्णस्तदर्थमभिमन्यते२ ॥ १९ ॥

मेरी समझ में प्रत्येक जीवधारी के लिये सत्यपालन रूपी धर्म सब धर्मों की अपेक्षा प्रधान धर्म है । जिस सत्यपालन रूपी धर्म-भार या बनवास रूपी धर्मभार को पूर्वकाल के सत्पुरुष उठा चुके हैं, उस भार को, आदर देना मैं पसंद करता हूँ ॥ १९ ॥

क्षात्रं धर्ममहं त्यक्ष्ये ३ह्यधर्मं धर्मसंहितम्४ ।

क्षुद्रैर्नृशंसैर्लुब्धैश्च सेवितं पापकर्मभिः ॥ २० ॥

आपके बतलाए हुए क्षात्र धर्म को, जिसमें धर्म तो नाममात्र का है और अधर्म प्रचुर परिमाण में है मैं त्याज्य समझता हूँ ; क्योंकि ऐसे अधर्म रूपी धर्म का सेवन तो—नीच, निष्ठुर, लोभी और पापी लोग ही किया करते हैं ॥ २० ॥

कायेन कुरुते पापं मनसा संप्रधार्य च ।

अनृतं जिह्या चाह त्रिविधं कर्म पातकम् ॥ २१ ॥

आपके बतलाये क्षात्रधर्म का पालन करने में, तीनों प्रकार के पापों की प्रबुत्ति होती है । वे तीन प्रकार के पाप हैं कायिक, मानसिक और वाचिक । (कायिक वे जो शरीर से किये जाय,

१ सत्पुरुषाचीर्णः—सत्पुरुषाचरितः । (गो०) २ अभिमन्यते—
अभिमतो भवति । (गो०) ३ अधर्म—अधर्मप्रचुरं । (गो०) ४ धर्म-
संहितम्—धर्मलेशसंहितं । (गो०)

मानसिक वे जो मन में सोचे जाय और वाचिक वे जो जिहा द्वारा किये जाय, अर्थात् भूठ बोलना, क्रोध करना, परनिन्दा करना, अपशब्द कहना आदि ।) इन तीनों प्रकार के पापों का परस्पर सम्बन्ध है । पहले तो पाप का मन में सङ्कल्प उदय होता है, फिर वाणी द्वारा वह प्रकट किया जाता है और फिर वह शरीर से किया जाता है ॥ २१ ॥

भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि ।

स्वर्गस्थं चानुपश्यन्ति सत्यमेव भजेत तत् ॥ २२ ॥

जो लोग सत्यव्रतधारी हैं, उन्हें केवल राज्य, कीर्ति, यश और धन ही नहीं मिलता, किन्तु मरने पर उन्हें स्वर्ग भी प्राप्त होता है । इसीसे लोगों का सत्य बोलना और सत्य व्यवहार करना उचित है ॥ २२ ॥

१श्रेष्ठं ह्यनार्यमेव स्याद्यद्वानवधार्य माम् ।

आह युक्तिकरैर्वाक्यैरिदं^२ भद्रं कुरुष्व ह ॥ २३ ॥

आपने अपने मन में निश्चय कर जिसे उचित समझ रखा है, और जिसको करने के लिये आप मुझसे युक्तियुक बचन कह कर अनुरोध करते हैं, वह कार्य सर्वथा अनुचित है ॥ २३ ॥

कथं ह्ययं प्रतिज्ञाय वनवासमिमं गुरौ ।

भरतस्य करिष्यामि वचो हित्वा गुरोर्वचः ॥ २४ ॥

भला बतलाइये तो, मैं जै पिता से वनवास की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, तब अब क्योंकर मैं उस प्रतिज्ञा को भङ्ग कर, भरत का कहना मानूँ ॥ २४ ॥

१ श्रेष्ठ मित्रवधार्य निश्चित्य । (गो०) २ इदं भद्रं कुरुष्वेति भवान्युक्ति करैर्वाक्यैः यदाह तदनार्यमेवस्थात् । (गो०)

स्थिरा मया प्रतिज्ञाता प्रतिज्ञा गुरुसन्निधौ ।

प्रहृष्यमाणा सा देवी कैकेयी चाभवत्तदा ॥ २५ ॥

जब कि मैंने पिता के सामने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की थी, तब देवी कैकेयी अत्यन्त प्रसन्न हुई थीं । (सो अब मैं अपनी उस दृढ़ प्रतिज्ञा को तोड़ कैकेयी को क्यों कर दुःखी करूँ) ॥ २५ ॥

वनवासं वसन्नेव शुचिर्नियतभोजनः ।

मूलैः पुण्यैः फलैः पुण्यैः पितृन्देवांश्च तर्पयन् ॥ २६ ॥

अतएव मैं पवित्र मूल फल फूलों से देवता और पितरों को खुस कर और बचे हुओं को स्वयं भोजन कर, शुद्ध हृदय और सन्तुष्ट हो कर वन में वास करूँगा ॥ २६ ॥

[नोट—जो पदार्थ देवता पितरों को अर्पण कर खाये जाते हैं उनके खाने से हृदय शुद्ध होता है—जो ऐसा नहीं करते वे पाप करते हैं—गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है “ भुजते ते त्वं पापं ये पचन्त्यात्मकारणात् ” अर्थात् जो अपने खाने के लिये रमेई बनाते हैं, वे अन्न नहीं प्रत्युत पाप खाते हैं ।]

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गोऽहं लोकयात्रां प्रवर्तये ।

२ अकुहः श्रद्धानः सन्कार्यकार्यविचक्षणः ॥ २७ ॥

मैं कृत क्रिद्र त्याग कर, कर्त्तव्याकर्तव्य का विचार कर, वैदिक क्रियाकलाप में अकृत्रिम श्रद्धा रख कर, तथा पांचों इन्द्रियों को सन्तुष्ट रख कर, पिता की वचनपालन रूपी लोकयात्रा का निर्वाह करूँगा ॥ २७ ॥

१ सन्तुष्टपञ्चवर्गः—परितुष्टपञ्चेन्द्रियवर्गः । (गो०) २ लोकयात्रां—पितृवचनपरिपालनरूपलोकवर्तनं । (गो०) अकुहः—अकृत्रिमः । (गो०)

कर्मभूमिमिर्मा प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम् ।
अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः ॥ २८ ॥

इस कर्मभूमि में आ कर शुभकर्मानुष्ठान करना उचित है । क्योंकि कर्मों के फल के भागी अग्नि, वायु और चन्द्रमा हैं । अर्थात् मनुष्यों को क्रमानुसार अग्निलोक, वायुलोक और चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है । अथवा शुभकर्मों द्वारा ही जीव अग्नि वायु और चन्द्रमा होते हैं ॥ २८ ॥

शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः ।
तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं याता महर्षयः ॥ २९ ॥

(शुभकर्मानुष्ठान का प्रभाव दिखा कर श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि) सौ यज्ञ करने से इन्द्र देवराज ही कर स्वर्ग में गये और महर्षि लोग भी तप करके स्वर्ग की प्राप्ति करते हैं ॥ २९ ॥

अमृष्यमाणः पुनरुग्रतेजा
निशम्य तन्नास्तिकहेतुवाक्यम् ।
अथाब्रवीत्तं नृपतेस्तनूजो
विर्गर्हमाणो वचनानि तस्य ॥ ३० ॥

उग्र तेज वाले नृपनन्दन श्रीरामचन्द्र जावालि के नास्तिकता से भरे वचन सुन, उनको सहन न कर सके और उन वचनों की निन्दा करते हुए उनसे फिर बोले ॥ ३० ॥

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च ।

द्विजातिदेवातिथिपूजनं च

पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः ॥ ३१ ॥

हे जावालि ! सत्य बोलना, अपने अपने वर्ण और आश्रम के धर्म का पालन करना, समय पर पराक्रम दिखाना, भूतदया, प्रियवचन बोलना, ब्राह्मण, देवता और अतिथियों का पूजन करना —इन कर्मों के करने से, साधुजन स्वर्ग की प्राप्ति बतलाते हैं ॥ ३१ ॥

तेनैवमाज्ञाय यथावदर्थ-

१ एकोदयं संप्रतिपद्यविप्राः ।

धर्मं चरन्तः सकलं यथावत्

काङ्क्षन्ति लोकागममपमत्ताः ॥ ३२ ॥

इसी लिये ब्राह्मण जोग, इसका यथावत् अर्थ समझ, सावधान हो कर, वर्णाश्रमोचित समस्त धर्मों का पालन करते हुए, ब्रह्मलोकादि की आकांक्षा करते हैं ॥ ३२ ॥

२ निन्दाम्यहं कर्म पितुः कृतं त-

३ यस्त्वामगृह्णाद्विष्मस्थबुद्धिम् ।

बुद्ध्याऽनयैवंविधया चरन्तं

४ सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम् ॥ ३३ ॥

हे जावालि ! मैं अपने पिता के इस कार्य की निन्दा करता हूँ कि उन्होंने तुम्हारे जैसे वेदमार्ग से भ्रष्ट बुद्धि वाले धर्मच्युत

१ एकोदयं सम्प्रतिपद्य—ऐककण्वं प्राप्य । (गो०) २ निन्दाम्यहं—
४ वैदिककर्मभ्योबहिकरोमि । (गो०) ३ विषमस्थबुद्धि—अवैदिकमार्ग
निष्णातबुद्धिं । (गो०)

नास्तिक को अपने यहाँ रखा । क्योंकि चार्वाकादि नास्तिक मत का जो दुसरों को उपदेश देते हुए श्रूमा फिरा करते हैं, वे केवल और नास्तिक ही नहीं, प्रत्युत धर्मशार्ग से च्युत भी हैं ॥ ३३ ॥

यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-

"स्तथागतं" नास्तिकमत्र "विद्धि ।

तस्माद्धि यः शङ्खच्यतमः प्रजानां

न नास्तिकेनाभिमुखो बुधः स्यात् ॥ ३४ ॥

राजा को चाहिये कि प्रजा को भलाई के लिये ऐसे मनुष्य को वही दण्ड दे जो चोर को दिया जाता है । और जो इनको दण्ड देने में असमर्थ हो, उन समझदारों या विद्वानों को ऐसे नास्तिकों से बात चीत भी न करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

*तत्त्वो जनाः पूर्वतरेवराश्वा-

शुभानि कर्माणि बहूनि चक्रुः ।

जित्वा सदेमं च परं च लोकं

तस्माद्द्विजाः स्वस्ति हुतं कृतं च ॥३५॥

हे जावालि ! तुमसे पहले के ज्ञान में श्रेष्ठ जनों ने अनेक शुभ कर्म किये और उन शुभ कर्मों के प्रभाव से उन लोगों ने इहि लोक और परलोक जीते । इसीसे ब्राह्मणों ने अहिंसा सत्यादि, तपोदान परोपकारादि तथा यज्ञादि कर्मों को किया ॥ ३५ ॥

१ तत्त्वः — पूर्वतरेपुरातनाश्व, वराश्व ज्ञानतः श्रेष्ठाश्वजनाः । (गो०)

* पाठान्तरे—“तत्त्वतो जनाः,” “तत्त्वोवरः” । † पाठान्तरे—“जनाश्व,” “द्विजाश्व” ।

धर्मे रताः सत्पुरुषैः समेताः

तेजस्विनो दानगुणप्रधानाः ।

अहिंसका वीतमलाश्च लोके

भवन्ति पूज्या मुनयः प्रधानाः ॥ ३६ ॥

जो धर्मनिष्ठान में सदा तत्पर रहते हैं, तेजस्वी हैं, जो दान देने में प्रधान हैं, जो हिंसा नहीं करते, जो सत्सङ्गी हैं ऐसे वशिष्ठादि प्रधान प्रधान मुनि ही संसार में पापरहित हो और तेज धारण कर सब के पूज्य होते हैं (न कि आप जैसे नास्तिक लोग) ॥ ३६ ॥

इति ब्रुवन्तं वचनं सरोषं

रामं महात्मानमदीनसत्त्वम्^१ ।

उवाच तथ्यं पुनरास्तिकं च

सत्यं वचः सानुनयं च विप्रः ॥ ३७ ॥

जब दीनताशूल्य श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर जावालि से ऐसे वचन कहे, तब जावालि जी विनय युक्त हो यथार्थ, सत्य सम्मत और आस्तिक वचन बोले ॥ ३७ ॥

न नास्तिकानां वचनं ब्रवीम्यहं

न नास्तिकोऽहं न च नास्ति किञ्चन ।

समीक्ष्य कालं पुनरास्तिकोऽध्यवं

भवेय काले पुनरेव नास्तिकः ॥ ३८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मैं नास्तिकों जैसी बातें नहीं कहता और न मैं स्वयं नास्तिक हूँ । मेरे कहने का न यह अभिप्राय ही है कि पर-

^१ अदीनसत्त्वम्—दैन्यसंसर्गशूल्यम् । (शि०)

लोकादि कुद्ध भी नहीं हैं। परन्तु समय के प्रभाव में पड़ अथवा समय की आवश्यकतानुसार मैं आस्तिक अथवा नास्तिक हो जाता हूँ॥ ३८॥

स चापि कालोऽयमुपागतः शनैः

यथा मया नास्तिकवागुदीरिता ।

निवर्त्तनार्थं तब राम कारणात्

प्रसादनार्थं च मयैतदीरितम् ॥ ३९ ॥

इति नवोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे राम ! यह समय ऐसा हो था कि, मुझे नास्तिकों जैसे वचन कहने पड़े। मैंने यह वचन आपको प्रसन्न करने तथा आपको वन से लौटाने के लिये ही कहे थे॥ ३६॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ नवां सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

दशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

[नोट—११०वें सर्ग में श्रीराम जी को जावालि पर कुद्ध देख वशिष्ठ जी जावालि के कथन का सहुदेश्य समझाने के लिये यह युक्ति देते हैं कि रघुवंश में सदा ज्येष्ठ राजकुमार ही को राजसिंहासन मिलता आया है। इस युक्ति की पुष्टि में वशिष्ठ जी इक्ष्वाकुवंश की संक्षिप्त वंशावली का निरूपण कर, श्रीराम का ध्यान बैठा कर उनका क्रोध शान्त करते हैं।]

कुद्धमाज्ञाय रामं तु वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

जावालिरपि जानीते लोकस्यास्य? गतामतिम्* ॥१॥

* लोकस्य—जनस्य । (गो०) * पाठान्तरे—“ गतागतं ” ।

वशिष्ठ जो ने जब देखा कि श्रीरामचन्द्र जो जावालि की बातों से कुद्ध हो गये हैं, तब वे श्रीराम जो से यह बोले—जावालि जी प्राणियों के आवागमन को मानते हैं ॥ १ ॥

निवर्त्यितुकामस्तु त्वामेतद्वाक्यमब्रवीत्* ।

इमां लोकसमुत्पत्तिं लोकनाथ निवोध मे ॥ २ ॥

तुमको लौटाने के लिये ही उन्होंने ऐसी बातें तुमसे कही थीं । हे लोकनाथ ! इस लोक की उत्पत्ति का वर्णन तुम मुझसे सुनो ॥ २ ॥

सर्वं सलिलमेवासीत्पृथिवी यत्र निर्मिता ।

ततः समभवद्ब्रह्मा स्वयंभूदैवतैः सह ॥ ३ ॥

आरम्भ में जल ही जल था । उसी जल के भीतर पृथिवी बनी । तदनन्तर देवताओं के साथ ब्रह्मा जी उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

स वराहस्ततो भूत्वा प्रोज्जहार वसुन्धराम् ।

असृजच्च जगत्सर्वं सह पुत्रैः कृतात्मभिः ॥ ४ ॥

तदनन्तर उन्होंने बराह रूप धारण कर जल से पृथिवी निकाली और अपने पुत्रों सहित इस सम्पूर्ण जगत को बनाया ॥ ४ ॥

आकाशप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः ।

तस्मान्मरीचिः संजडे मरीचेः काश्यपः सुतः ॥ ५ ॥

सनातन, नित्य और अक्षय ब्रह्मा आकाश से उत्पन्न हुए और उनसे मरीचि, मरीचि से कश्यप हुए ॥ ५ ॥

विवस्वान्काशयपाज्जडे मनुर्वैवस्वतः सुतः ।

स तु प्रजापतिः पूर्वमिक्षवाकुस्तु मनोः सुतः ॥ ६ ॥

* पाठान्तरे—“उक्तवान्” ।

कश्यप जी से विवस्वान सूर्य, विवस्वान सूर्य से मनु ने जन्म लिया। वैवस्वत मनु हो प्रजापतियों में प्रथम प्रजापति हुए और इन्हींके पुत्र इच्छाकु थे ॥ ६ ॥

यस्येऽप्य प्रथमं दत्ता समृद्धा मनुना मही ।

तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम् ॥ ७ ॥

इन इच्छाकु के महाराज मनु ने समृद्ध पृथिवी दी थी। इन्हीं इच्छाकु को हे राम! तुम अयोध्या का प्रथम राजा जानो ॥ ७ ॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान्कुशिरित्येव* विश्रुतः ।

कुक्षेरथात्मजो वीरो विकुशिरुदपद्यत ॥ ८ ॥

हे वीर! इच्छाकु के पुत्र श्रीमान् कुक्षि नाम से प्रसिद्ध हुए और कुक्षि से विकुक्षि की उत्पत्ति हुई ॥ ८ ॥

विकुक्षेस्तु महातेजा वाणः पुत्रः प्रतापवान् ।

बाणस्य तु महावाहुरनरण्ये महायशाः ॥ ९ ॥

विकुक्षि के पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी वाण हुए। वाण के पुत्र महावाहु और महायशस्वी अनरण्य हुए ॥ ९ ॥

नानावृष्टिर्भूवास्मिन् दुर्भिक्षं सतां वरे ।

अनरण्ये महाराजे तस्करो नापि कश्चन ॥ १० ॥

सज्जनों में श्रेष्ठ महाराज अनरण्य के राज्यत्व काल में न तो कभी सूखा पड़ा और न कभी अकाल। उनके राज्य में कोई चौर भी न था ॥ १० ॥

अनरण्यान्महावाहुः पृथू राजा वभूव ह ।

तस्मात्पृथोर्महाराजस्त्रिशङ्कुरुदपद्यत ॥ ११ ॥

*पाठान्तरे—“ एवेति ” ।

हे महाबाहो ! अनरण्य से पृथु जी ने जन्म लिया । पृथु जी से परम तेजस्वी त्रिशङ्कु उत्पन्न हुए ॥ ११ ॥

स सत्यवचनाद्वीरः सशरीरो दिवं गतः ।

त्रिशङ्कोरभवत्सूनुर्धुमारो महायशः ॥ १२ ॥

हे वीर ! यह त्रिशङ्कु ऐसे सत्यवादी थे कि, सशरीर स्वर्ग में गये थे । त्रिशङ्कु के पुत्र परम यशस्वी धुन्धमार हुए ॥ १२ ॥

धुन्धमारोन्महातेजा युवनाश्वो व्यजायत ।

युवनाश्वसुतः श्रीमान्मान्धाता समपद्यत ॥ १३ ॥

धुन्धमार से महातेजस्वी युवनाश्व हुए । युवनाश्व के पुत्र श्रीमान् मान्धाता हुए ॥ १३ ॥

मान्धातुस्तु महातेजाः सुसन्धिरुदपद्यत ।

सुसन्धेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसन्धिः प्रसेनजित् ॥ १४ ॥

मान्धाता से परमतेजस्वी सुसन्धि जन्मे । सुसन्धि से ध्रुव-सन्धि और प्रसेनजित् नाम के दो पुत्र हुए ॥ १४ ॥

यशस्वी ध्रुवसन्धेस्तु भरतो रिपुसूदनः ।

भरतात् महाबाहोरसितो नामतोऽभवत्* ॥ १५ ॥

ध्रुवसन्धि के पुत्र रिपुसूदन और यशस्वी भरत हुए । महाबाहु भरत से असित का जन्म हुआ ॥ १५ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः ।

हैह्यास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशिविन्दवः ॥ १६ ॥

हैह्य, तालजङ्घ, शशिविन्द और शूर ने असित से शत्रुता की ॥ १६ ॥

* पाठान्तरे—“नाम जायत” ।

तांस्तु सर्वन्प्रतिव्यूह युद्धे राजा प्रवासितः ।
स च शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ १७ ॥

युद्ध के समय असित ने इन सब के विरुद्ध सैन्यव्यूह बना कर इनको बेरा, किन्तु इनको पराजित करना कठिन जाना और अपना राज्य छोड़ वे तप करने के लिये परम रमणीक हिमालय पर्वत पर चले गये ॥ १७ ॥

द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ।
एका गर्भविनाशाय सपत्न्यै सगरं ददौ ॥ १८ ॥

सुना जाता है कि, उनकी दो रानियाँ उस समय गर्भवती थीं । उनमें से एक ने अपनी सौत का गर्भ नाश करने के लिये उसे ज़हर दिया ॥ १८ ॥

भार्गवश्चयवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः ।
तमृषिं समुपागम्य कालिन्दी त्वभ्यवादयत् ॥ १९ ॥

भृगुनन्दन च्यवन जो उस समय हिमालय पर्वत पर रहते थे । कालिन्दी नाम की रानी ने उन ऋषि के पास जा कर उनको प्रणाम किया ॥ १९ ॥

स तामभ्यवदद्विषो वरेष्पुं पुत्रजन्मनि ।
पुत्रस्ते भविता देवि महात्मा लोकविश्रुतः ॥ २० ॥

महर्षि च्यवन ने जाना कि, इसे पुत्रप्राप्ति की इच्छा है, अतः प्रसन्न हो कर उस पुत्र की कामना रखने वाली रानी से कहा कि, हे देवि ! तुम्हारे गर्भ से बड़ा महात्मा, लोकविख्यात पुत्र उत्पन्न होगा ॥ २० ॥

धार्मिकश्च सुशीलश्च वंशकर्तारिसूदनः ।

कृत्वा प्रदक्षिणं* सा तु मुनिं तमनुमान्य च ॥ २१ ॥

यह धर्मात्मा, सुशील, वंश बढ़ाने वाला और शशुध्रों को संहार करेगा । यह बात सुन रानी ने बड़े आदर भाव से मुनि की प्रदक्षिणा की ॥ २१ ॥

पद्मपत्रसमानाक्षं पद्मगर्भसमप्रभम् ।

ततः सा गृहमागम्य देवी पुत्रं व्यजायत ॥ २२ ॥

और अपने घर लौट उस रानी ने कमलनयन और कमलगर्भ सदृश कान्तियुक्त पुत्र जना ॥ २२ ॥

सप्तनया तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिधांसया ।

गरेण सह तेनैव जातः स सगरोऽभवत् ॥ २३ ॥

इस पुत्र के उत्पन्न होने के पूर्व सौतिया डाह से कालिन्दी को उसकी सौत ने जो विष दिया था, उसी गर अर्थात् ज़हर के साथ पुत्र का जन्म होने से उस बालक का नाम सगर हुआ ॥ २३ ॥

स राजा सगरो नाम यः समुद्रमखानयत् ।

इष्टा पर्वणि वेगेन त्रासयन्तमिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥

उसने पर्व के समय यज्ञदीक्षा ले और खादने से इस प्रजा को ब्रह्म कर समुद्र खुदवाया ॥ २४ ॥

असमञ्जस्तु पुत्रोऽभूत्सुगरस्येति नः श्रुतम् ।

जीवन्नेव स पित्रा तु निरस्तः पापकर्मकृत् ॥ २५ ॥

* पाठान्तरे — “हृष्टा मुनिं तमनुमान्य च” ।

सुना जाता है कि, इन संगर के असमज्जस नाम का एक वीर्यवान पुत्र हुआ। वह प्रजा को सताता था अतः उसके पापकर्मों को देख पिता ने उसे निकाल दिया था ॥ २५ ॥

*अंशुमानिति पुत्रोऽभूदसमज्जस्य वीर्यवान् ।

दिलीपोऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ २६ ॥

असमज्जस के पुत्र वीर्यवान अंशुमान हुए। अंशुमान के पुत्र दिलीप हुए और दिलीप के पुत्र भगीरथ हुए ॥ २६ ॥

भगीरथात्ककुत्स्थस्तु काकुत्स्था येन विश्रुताः ।

ककुत्स्थस्य च पुत्रोऽभूदघुर्येन तु राघवाः ॥ २७ ॥

भगीरथ जी के पुत्र ककुत्स्थ, ककुत्स्थ के पुत्र रघु हुए। इन्हीं ककुत्स्थ जी और रघु जी से काकुत्स्थ और राघव नाम की वंश परम्पराएँ चलीं ॥ २७ ॥

रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ।

कल्माषपादः सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि ॥ २८ ॥

रघु के पक तेजस्वी पुत्र हुआ जो प्रवृद्ध, पुरुषादक, कल्माषपाद और सौदास के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ ॥ २८ ॥

कल्माषपादपुत्रोऽभूच्छङ्गणस्त्वति विश्रुतः ।

यस्तु तद्वीर्यमासाद्य॑ सहसेनो व्यनीनशत् ॥ २९ ॥

कल्माषपाद से शङ्गण उत्पन्न हुआ। यह लोकप्रसिद्ध वीर्य को प्राप्त कर सेना सहित मेरे शाप से नाश को प्राप्त हुआ ॥ २९ ॥

शङ्गणस्य च पुत्रोऽभूच्छूरः श्रीमान्सुदर्शनः ।

सुदर्शनस्याग्निवर्ण अग्निवर्णस्य शीघ्रगः ॥ ३० ॥

* पाठान्तरे—“अंशुमानपि” । † पाठान्तरे—“सहसैन्यो” ।

शङ्कुण से शूरवीर श्रीमान् सुदर्शन हुए । सुदर्शन से अग्निवर्ण और अग्निवर्ण से शीघ्रग दृष्टि हुए ॥ ३० ॥

शीघ्रगस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रशुश्रुकः ।

प्रशुश्रुकस्य पुत्रोऽभूदम्बरीषो महाद्युतिः ॥ ३१ ॥

शीघ्रग के पुत्र मरु और मरु के पुत्र प्रशुश्रुक हुए । प्रशुश्रुक के पुत्र महाद्युतिमान अम्बरीष हुए ॥ ३१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभूद्युषः सत्यविक्रमः ।

नद्युषस्य च नाभागः पुत्रः परमधार्मिकः ॥ ३२ ॥

अम्बरीष के पुत्र सत्यपराक्रमी नद्युष हुए । नद्युष के पुत्र नाभाग जी बड़े धर्मात्मा थे ॥ ३२ ॥

अजश्च सुव्रतश्चैव नाभागस्य सुतावुभौ ।

अजस्य चैव धर्मात्मा राजा दशरथः सुतः ॥ ३३ ॥

नाभाग के अज और सुव्रत नाम के दो पुत्र हुए । इनमें से अज के पुत्र धर्मात्मा महाराज दशरथ हुए ॥ ३३ ॥

[ये जित्वा वसुधां कृत्स्नां दिवं शासति स प्रभुः ।]

तस्य ज्येष्ठोऽसि दायादो^१ राम इत्यभिविश्रुतः ॥३४॥

जिन महाराज दशरथ ने सम्पूर्ण पृथिवी जीत कर, स्वर्ग तक का शासन किया — उन्हीं महाराज दशरथ के विश्वविख्यात ज्येष्ठ पुत्र तुम हो । (अतएव हे राजन् ! तुम अपने पिता का राज्य ग्रहण कर संसार का पालन करो) ॥ ३४ ॥

^१ दायादः—सुतः । (गो०)

तदगृहाण स्वकं राज्यमवेक्षस्व जनं नृप ।

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।

पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राज्येऽभिषिन्न्यते ॥ ३५ ॥

इक्ष्वाकु के वंश में ज्येष्ठ राजकुमार ही राजा होता चला आया है । ज्येष्ठ राजकुमार के विद्यमान रहते छोटे को राजगद्वी नहीं मिल सकती ॥ ३५ ॥

स राघवाणां कुलधर्ममात्मनः

सनातनं नाथ विहन्तुर्महसि ।

प्रभूतरत्वामनुशाधि मेदिनीं

प्रभूतराष्ट्रां पितृवन्महायशः ॥ ३६ ॥

इति दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

अथः तुम रघुवंशियों के इस सनातन कुलधर्म को लोप मत करो और अपने पिता की तरह यशस्वी हो कर, इस बहुरक्तों से पूर्ण और अनेक राज्यों से युक्त पृथिवी का शासन करो ॥ ३६ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकादशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

वसिष्ठस्तु तदा राममुक्त्वा राजपुरोहितः ।

अब्रवीद्धर्मसंयुक्तं पुनरेवापरं वचः ॥ १ ॥

राजपुरोहित वशिष्ठ जी श्रीराम जी से यह कह, फिर धर्म-सम्मति वचन और भी बोले ॥ १ ॥

पुरुषस्येह जातस्य भवन्ति गुरुवस्त्रयः ।

आचार्यश्वैव काकुत्स्थ पिता माता च राघव ॥ २ ॥

हे काकुत्स्थ ! हे राम ! पुरुष जब जन्मता है, तब उसके तीन गुरु होते हैं । पिता, माता और आचार्य ॥ २ ॥

पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ ।

प्रज्ञां ददाति चाचार्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते ॥ ३ ॥

हे पुरुषश्चेष्ट ! पिता माता तो केवल शरीर को जन्म देते हैं, और आचार्य बुद्धि देता है । अतः वह गुरु कहलाता है ॥ ३ ॥

सोऽहं ते पितुराचार्यस्तव चैव परन्तप ।

मम त्वं वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ४ ॥

हे परन्तप ! मैं तुम्हारे पिता का और तुम्हारा भी आचार्य हूँ । अतः मैं जो कहता हूँ उसे तुम मानो और सज्जनों के मार्ग का उल्लंघन मत करो ॥ ४ ॥

इमा हि ते^१ परिषदः^२ श्रेणयश्च^३ द्विजास्तथा^४ ।

एषु तात चरन्धर्म नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ५ ॥

हे तात ! देखो, ये सब तुम्हारे सम्बन्धी हैं, ये ब्राह्मण समूह हैं, ये पुरवासी हैं और ये सब क्षत्रिय वैश्य हैं । इनके प्रति निज कर्त्तव्य का पालन करो और सज्जनों की बाँधी मर्यादा का उल्लंघन मत करो ॥ ५ ॥

१ ते—त्वत्सम्बन्धिनः । (गो०) २ परिषदः—ब्राह्मणसमूहाः । (गो०)

३ श्रेणयः—पौरजनाः । (गो०) ४ द्विजाः—क्षत्रियाः वैश्याश्च । (गो०)

वृद्धाया धर्मशीलाया मातुर्नार्हस्यवर्तितुम् ।

अस्यास्तु वचनं कुर्वन्नातिवर्तेः सतां गतिम् ॥ ६ ॥

देखो, यह बेचारी बूढ़ी और धर्मशीला तुम्हारी माता जो कहती है, उसका उल्लंघन करना तुमको उचित नहीं—क्योंकि जो पुरुष माता का कहना मानता है, वह सन्मार्गो कहलाता है ॥ ६ ॥

भरतस्य वचः कुर्वन्याचमानस्य राघव ।

आत्मानं नातिवर्तेस्त्वं सत्यधर्मपराक्रम ॥ ७ ॥

हे सत्यधर्म पराक्रमी राघव ! देखो, यह भरत आपसे याचना कर रहे हैं, सो इनकी बात मानने से भी तुम सद्गति से भ्रष्ट न होगे ॥ ७ ॥

एवं मधुरमुक्तस्तु गुरुणा राघवः स्वयम् ।

प्रत्युवाच समासीनं वसिष्ठं पुरुषर्षभः ॥ ८ ॥

जब गुरु वशिष्ठ जो इस प्रकार मधुरवाणी से कह कर आसन पर बैठे हुए थे, तब वशिष्ठ जो को पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने उत्तर दिया ॥ ८ ॥

यन्मातापितरौ वृत्तं^१ तनये कुरुतः सदा ।

न सुप्रतिकरं तत्तु मात्रा पित्रा च यत्कृतम् ॥ ९ ॥

माता पिता, अपने पुत्र की जो सेवा या उपकार करते हैं, उसके बदले में प्रत्युपकार करना सहज नहीं है ॥ ९ ॥

यथाशक्ति प्रदानेन स्नापनेच्छादनेन च ।

नित्यं च प्रियवादेन तथा संवर्धनेन च ॥ १० ॥

क्योंकि वे अपनी सामर्थ्य से अधिक पुत्र को उत्तम उत्तम भोजन वस्त्रादि देते हैं, शिशु अवस्था में सुलाते हैं, और तेल आदि से उबटन करते हैं, मधुर से मधुर वचन कह कर लाड प्यार करते और पुत्र की वृद्धि व जीवित रहने के लिये अनेक उपाय करते हैं ॥ १० ॥

स हि राजा जनयिता पिता दशरथो मम ।

आज्ञातं यन्मया तस्य न तन्मिथ्या भविष्यति ॥ ११ ॥

सा वे महाराज दशरथ जो मुझे जन्म देने वाले मेरे पिता थे । उन्होंने मुझे जो आज्ञा दी है, वह मिथ्या नहीं होगी ॥ ११ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण भरतः प्रत्यनन्तरम् ।

उवाच परमोदारः सूतं परमदुर्मनाः ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का यह वचन सुन, परम उदार भरत जी, समीप बैठे हुए सुमंत्र से उदास हो बोले ॥ १२ ॥

इह मे स्थण्डिले शीघ्रं कुशानास्तर सारथे ।

आर्यं प्रत्युपवेक्ष्यामि यावन्मे न प्रसीदति ॥ १३ ॥

हे सारथे ! इन चबूतरे पर तुम शीघ्र कुशों को बिछा दो, जब तक मेरे ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी मेरे ऊपर प्रसन्न न होंगे, तब तक मैं इन्हीं कुशों पर धन्ना दे कर बैठा रहूँगा ॥ १३ ॥

अनाहारो निरालोकोऽधनहीनोऽयथा द्विजः ।

शेष्ये पुरस्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति ॥ १४ ॥

^१ प्रत्यनन्तर—समीपस्थं । (गो०) ^२ प्रत्युपवेक्ष्यामि—प्रत्युपवेशन कर्म करिष्य इत्यर्थः । (रा०) ^३ निरालोको—अवकुण्ठिताननः । (गो०) ^४ धन हीनः—वृद्धर्थमृणप्रदानान्निर्धनः । (गो०)

जब तक श्रीरामचन्द्र जी लौट कर अयोध्या न चलेंगे, तब तक मैं एक धनहीन, ब्राह्मण की तरह, भोजन त्याग, मुँह ढक इसी कुटी के द्वार पर पड़ा रहूँगा ॥ १४ ॥

[नोट—“धनहीन” ब्राह्मण से आदिकाव्यकार का अभिप्राय उस ब्राह्मण से है, जिसने अपने पास की पूँजी किसी बनिये महाजन के पास अमानतन, व्याज के लाभ से जमा करा दी है। और वह बनिया-महाजन बेर्ह-मानी कर उसकी पूँजी को हड्डप कर जाय। तब उस धनहीन ब्राह्मण के लिये सिवाय धरना देने के और कोई उपाय नहीं रह जाता।]

स तु राममवेक्षनं सुमन्त्रं प्रेक्ष्य दुर्मनाः ।

कुशोत्तरमुपस्थाप्य भूमावेवास्तरत्स्वयम् ॥ १५ ॥

यह सुन सुमन्त्र श्रीराम के मुख की ओर (उनकी अनुमति के लिये) देखने लगे। तब भरत जी उदास हो, स्वयं ही कुश बिछा कर श्रीराम के सामने धरना दे कर बैठ गये ॥ १५ ॥

तमुवाच महातेजा रामो राजर्षिसत्तमः ।

किं मां भरत कुर्वाणं तात प्रत्युपवेक्ष्यसि ॥ १६ ॥

भरत जी को इस प्रकार धरना दिये हुए बैठे देख, राजर्षियों में श्रेष्ठ महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी भरत जी से बोले। हे भरत भैया ! मैंने क्या अपकार किया है जो तुम मेरे ऊपर धरना देते हो ? ॥ १६ ॥

ब्राह्मणो हेकपाश्वेन न रान्नोऽुमिहार्हति ।

न तु मूर्धाभिषिक्तानां विधिः प्रत्युपवेशने ॥ १७ ॥

यह काम तो ब्राह्मण का है, जो एक करवट पड़ा हुआ धरना दे कर, अपने दुःखदाता का रोध करता है। किन्तु तिलकधारी नृत्रिय के लिये यह धरना देना उचित नहीं ॥ १७ ॥

उत्तिष्ठ नरशार्दूल हितवैतद्वारुणं व्रतम् ।

पुरवर्यामितः क्षिप्रमयोध्यां याहि राघव ॥ १८ ॥

हे नरव्याघ ! तुम इस कठोर व्रत को त्याग कर उठ खड़े हो और शीघ्र ही यहाँ से श्रेष्ठ पुरी अयोध्या को गमन करो ॥ १८ ॥

आसीनस्त्वेव भरतः पौरजानपदं जनम् ।

उवाच सर्वतः प्रेक्ष्य किमार्यं नानुशासथ ॥ १९ ॥

तब भरत जी उसी प्रकार धरना दिये बैठे रहे और चारों ओर बैठे हुए पुरवासी और जनपदवासियों की ओर देख कर बोले तुम सब लोग श्रीरामचन्द्र जी से क्यों कुछ नहीं कहते ? ॥ १९ ॥

ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदा जनाः ।

काकुत्स्थमभिजानीमः सम्यग्वदति राघवः ॥ २० ॥

तब वे पुरवासी और जनपदवासी श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगे—हे महात्मा ! हम लोग जानते हैं कि, भरत जी का कहना बहुत ठीक है ॥ २० ॥

एषोऽपि हि महाभागः पितुर्वचसि तिष्ठति ।

अतएव न शक्ताः स्मो व्यावर्तयितुमञ्जसा^१ ॥ २१ ॥

फिर वे भरत जी से बोले—परन्तु श्रीरामचन्द्र जी से हम लोग आग्रह नहीं कर सकते, क्योंकि महाभाग श्रीरामचन्द्र, पिता की आङ्ग्ला पालन करने को दृढ़ सङ्कल्प किये हुए हैं । अतः हम लोगों में यह सामर्थ्य नहीं कि, इनको तुरन्त लौट चलने को कहें ॥ २१ ॥

^१ अञ्जसा—शीघ्रं । (गो०)

तेषामाज्ञाय वचनं रामो वचनमब्रवीत् ।

एवं निवोध वचनं सुहृदां धर्मचक्षुषाम् ॥ २२ ॥

उन सब लोगों के इन वचनों को सुन कर, श्रीरामचन्द्र जी बोले हे भरत ! इन धर्मदर्शी अपने सुहृदों के वचन सुनो, और विचारो, वे क्या कह रहे हैं ॥ २२ ॥

एतचैवोभयं श्रुत्वा सम्यकसम्पश्य राघव ।

उत्तिष्ठ त्वं महावाहो मां॒ च स्पृश तथोदकम्॑ ॥२३॥

हे रघुनन्दन ! इन दोनों बातों को सुन कर इन पर भली भाँति विचार कर उठ बैठो और क्षत्रिय के अथेाथ धन्वा देने के कार्य का प्रायश्चित्त करने के लिये आचमन कर मुझे स्पर्श करो ॥ २३ ॥

अथेात्थाय जलं स्पृश्वा भरतो वाक्यमब्रवीत् ।

शृण्वन्तु मे परिषदो मन्त्रिणः श्रेणयस्तथा ॥२४॥

यह बात सुन भरत जो उठ बैठे और आचमन कर यह वचन बोले, हे ब्राह्मणों ! हे पुरजनों ! हे क्षत्रिय वैश्यों ! मेरी बात सुनो ॥ २४ ॥

न याचे॑ पितरं राज्यं नानुशासामि॑ मातरम् ।

आर्यं परमधर्मज्ञं नानुजानामि॑ राघवम् ॥ २५ ॥

१ धर्मचक्षुषाम्—धर्मदर्शिनां । (रा०) २ मां॑ च स्पृश—क्षत्रिया विहित प्रत्युपवेशन प्रायश्चित्तार्थमित्यर्थः । (गो०) ३ उदकं स्पृश—उदक स्पर्श आचमनार्थः । (रा०) ४ न याचे—नयाचितवान् । (गो०) ५ नानुशासामि—नानुशास्मि पूर्वकुर्वितनानुशिष्टवानस्मीत्यर्थः । (गो०) ६ नानुजानामि—वनवासायनानुज्ञातवान् । (गो०)

न तो मैंने पिता से राज्य माँगा और न मैंने अपनी माता को
कुछ सिखाया पढ़ाया और न मुझे श्रीरामचन्द्र जी के बनवास ही
का कुछ हाल मालूम था ॥ २५ ॥

यदि त्ववश्यं वस्तव्यं कर्तव्यं च पितुर्वचः ।

अहमेव निवत्स्यामि चतुर्दश समा वने ॥ २६ ॥

यदि पिता के आज्ञानुसार बनवास करना आवश्यक ही है तो
मैं श्रीरामचन्द्र जी का प्रतिनिधि बन १४ वर्ष वन में वास करूँगा ।
(और श्रीरामचन्द्र मेरे प्रतिनिधि वन अयोध्या में जा राज्य
करें) ॥ २६ ॥

धर्मात्मा तस्य तथ्येन भ्रातुर्वक्येन विस्मितः ।

उवाच रामः सम्प्रेक्ष्य पौरजानपदं जनम् ॥ २७ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी भरत जी के इन सत्य वचनों से
विस्मित हो पुरजन और जनपदवासियों की ओर देख कर
बोले ॥ २७ ॥

विक्रीतमाहितं क्रीतं यत्पित्रा जीवता मम ।

न तद्लोपयितुं शक्यं मया वा भरतेन वा ॥ २८ ॥

हमारे पिता महाराज दशरथ ने अपने जीते जी यदि कोई वस्तु
बेच डाली, या मोाल लो या किसी के यहाँ कोई वस्तु धरोहर
धर दी, तो यह बात मेरे और भरत के अधिकार से बाहर है कि,
उनके किये को मैंट दें । अर्थात् बेची हुई चीज़ फेर ले या खरीदी
हुई चीज़ लौटा दे या धरोहरी चीज़ वापिस ले ले ॥ २८ ॥

उपधिर्न मया कार्या वनवासे जुगुप्सितः ।

युक्तमुक्तं च कैकेय्या पित्रा मे सुकृतं कृतम् ॥ २९ ॥

अतः मैं सज्जन जनों से निन्दा कराने के लिये यह दुष्कर्म न करूँगा कि, अपना प्रतिनिधि बना भरत को बन भेजूँ। कैकेयी ने महाराज से जो कुछ कहा या माँगा से ठीक ही कहा या माँगा और पिता जी ने जो कुछ किया या दिया से भी उन्होंने अच्छा ही किया ॥ २६ ॥

जानामि भरतं भान्तं गुरुसत्कारकारिणम् ।

सर्वमेवात्र कल्याणं सत्यसन्धे महात्मनि ॥ ३० ॥

मैं यह जानता हूँ कि, भरत वडे क्षमाशील और पूज्य वडों की मान मर्यादा रखने वाले हैं। इन सत्यसन्ध महात्मा में सब बातें भली ही भली हैं। (अतएव इनके द्वारा राज्यशासन होने से किसी प्रकार की त्राति नहीं हो सकती) ॥ ३० ॥

अनेन धर्मशीलेन वनात्प्रत्यागतः पुनः ।

भ्रात्रा सह भविष्यामि पृथिव्याः पतिरुत्तमः ॥३१॥

मैं यह भी कहता हूँ कि, जब मैं वन से लौट कर आऊँगा, तब मैं अपने इन धर्मशील भाई भरत के साथ राज्य का शासनभार ग्रहण करूँगा ॥ ३१ ॥

वृतो राजा हि कैकेया मया तद्वचनं कृतम् ।

अनृतान्मोचयानेन पितरं तं महीपतिम् ॥ ३२ ॥

इति एकादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे भरत ! महाराज से माता कैकेयी ने जो वर माँगा था, मैंने उस वर के अनुसार कार्य किया और महाराज पिता जी को मिथ्या भाषण से मुक किया, तुम भी कैकेयी को दिये हुए दूसरे वर के

अनुसार, राज्य ग्रहण कर महाराज को मिथ्याभाषण के दोष से मुक्त करो ॥ ३२ ॥

अयोध्याकाशड का एक सौ ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

द्वादशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

तमप्रतिमतेजोभ्यां भ्रातृभ्यां रोमहर्षणम् ।

विस्मिताः सङ्गमं प्रेक्ष्य समवेता महर्षयः ॥ १ ॥

उस समय वहाँ जो ऋषि आये हुए थे, वे अतुल तेजस्वी दोनों भ्राताओं का यह रोमहर्षणकारी समागम देख, विस्मित हुए ॥ १ ॥

^१ अन्तर्हितास्त्वर्षिगणाः^२ सिद्धाश्र परमर्षयः^३ ।

तौ भ्रातरौ महात्मानौ काकुत्स्थौ प्रशशंसिरे ॥ २ ॥

पहले जो राजर्षिगण, सिद्धगण और देवर्षिगण अन्तर्धान थे, वे इन दोनों भाइयों की प्रशंसा कर कहने लगे ॥ २ ॥

स धन्यो यस्य पुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ^४ ।

श्रुत्वा वयं हि संभाषामुभयोः स्पृहयामहे^५ ॥ ३ ॥

ये दोनों धर्मज्ञ और धर्मवीर राजकुमार जिन महाराज दशरथ के पुत्र हैं, वे धन्य हैं। इन दोनों को बातचीत सुन, हम लोगों की

१ अन्तर्हिताः—पूर्वमेवान्तर्धानं प्राप्ताः । (गो०) २ ऋषिगणाः—राजर्षिगणाः । (गो०) ३ परमर्षयः—देवर्षयः । (गो०) ४ धर्मविक्रमौ—धर्मशूरौ । ५ स्पृहयामहे—पुनः पुनःश्रोतुं वाँछामः । (शि०)

यह इच्छा हो रही है कि, इन दोनों की वार्तालाप हम बार बार सुना करें ॥ ३ ॥

ततस्त्वषिगणाः क्षिप्रं दशग्रीववधैषिणः ।

भरतं राजशार्दूलमित्युच्चुः सङ्गताः वचः ॥ ४ ॥

तदनन्तर वे ऋषिगण, जो रावण का वध शीघ्र करवाना चाहते थे, पुरुषसिंह भरत के पास गये और एक स्वर से यह बोले ॥ ४ ॥

कुलेजात महाप्राज्ञ महावृत्त महायशः ।

ग्राह्णं रामस्य वाक्यं ते ३पितरं यद्यवेक्षसे ॥ ५ ॥

हे अटल प्रतिज्ञा वाले ! हे शुभ चरित्रयुक्त महायशस्वी भरत ! तुमने कुलीनकुल में जन्म लिया है । यदि तुम अपने पिता के सुखी करना चाहते हो, तो तुम्हें वही करना उचित है, जो श्रीरामचन्द्र जी तुमसे कहते हैं ॥ ५ ॥

सदानृणमिमं रामं वयमिच्छामहे पितुः ।

अनृणत्वाच्च कैकेयाः स्वर्गं दशरथो गतः ॥ ६ ॥

हम सब यहो चाहते हैं कि, श्रो रामचन्द्र जी अपने पिता के ऋण से उऋण हों । (क्योंकि) कैकेयी के ऋण से उऋण होने से महाराज दशरथ स्वर्गवासी हुए हैं ॥ ६ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं गन्धर्वाः समर्हयः ।

राजर्षयश्चैव तदा सर्वे स्वां स्वां गतिं गताः ॥ ७ ॥

१ संगताः—ऐककण्ठ्यंप्राप्ताः । (गो०) २ पितरं यद्यवेक्षसे—
पितुः सुखं यदीच्छसि । (रा०)

यह कह कर गन्धर्व, राज्ञिं तथा देवर्षि सब अपने अपने स्थानों को चले गये ॥ ७ ॥

ह्लादिस्तेन वाक्येन शुभेन शुभदर्शनः ।

रामः संहृष्टवदनस्तानुषीनभ्यपूजयत् ॥ ८ ॥

शुभदर्शन श्रीरामचन्द्र जी ने उन ऋषियों के इस कथन से हर्षित हो, उनसे कहा कि, आपने भली भाँति मेरा धर्म बनाया ॥ ८ ॥

त्रस्तगात्रस्तु भरतः स वाचा सज्जमानया ।

कृताञ्जलिरिदं वाक्यं राघवं पुनरब्रवीत् ॥ ९ ॥

उस समय भरत जी डर कर गद्गदवाणी से हाथ जोड़ कर श्रीरामचन्द्र जी से फिर बोले ॥ ९ ॥

राजधर्ममनुप्रेक्ष्य कुलधर्मानुसन्ततिम् ।

कर्तुमर्हसि काकुत्स्थ यमः मातुश्च याचनाम् ॥ १० ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! राज्यपरिपालन धर्म और ज्येष्ठ ही को अधिकार प्राप्त होता आया है—इस कुलप्रथा पर भली भाँति विचार कर, आपको मेरी माता कौशल्या की प्रार्थना पूरी करनी चाहिये ॥ १० ॥

रक्षितुं सुमहद्राज्यमहमेकस्तु नोत्सहे ।

पैरजानपदांश्चापि रक्तानरञ्जयितुं तथा ॥ ११ ॥

इस बड़े राज्य की अकेले रक्षा करने का और आपमें अनुराग रखने वाले इन पुरुषासियों तथा जनपदवासियों का मनोरक्तन करने का मुझे साहस नहीं होता ॥ ११ ॥

१ अभ्यपूजयत्—सम्यङ्गमाधर्मतेरक्षितवन्त । (रा०) २ मममातुः—कौशल्याया । (रा०) ३ रक्तान्—त्वद्विषयकानुरागविशिष्टान् । (शि०)

ज्ञातयश्च हि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः ।

त्वामेव प्रतिकाङ्क्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः ॥ १२ ॥

जाति विराङ्गी वाले, सैनिक. इष्ट मित्र—सब के सब, जल बरसाने वाले मेघ की आशा करने वाले उत्तुक किसान की तरह, एकमात्र आप ही के राज्यशासन की प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ १२ ॥

इदं राज्यं महाप्राज्ञ स्थापय । प्रतिपद्य हि ।

शक्तिमानसि काकुस्थ लोकस्य परिपालने ॥ १३ ॥

अतएव हे बुद्धिमान् ! आप इस राज्य की ग्रहण कीजिये और जिसको चाहिये उसे राजसिंहासन पर बिठा दीजिये । क्योंकि राज्यशासन करने को, हे काकुत्थ ! आप ही समर्थ हैं ॥ १३ ॥

इत्युक्त्वा न्यपतद्भ्रातुः पादयोर्भरतस्तदा ।

भृशं सम्प्रार्थ्यामास राममेव प्रियंवदः ॥ १४ ॥

यह कह कर भरत जो अपने भाई श्रोरामचन्द्र के चरणों में गिर पड़े और हे राम ! हे राम !—इस प्रकार सम्बोधित कर बार बार प्रार्थना करने लगे ॥ १४ ॥

तमङ्के भ्रातरं कृत्वा रामो वचनमब्रवीत् ।

श्यामं नलिनपत्राक्षं मत्तहंसस्वरं स्वयम् ॥ १५ ॥

भरत को चरणों में पड़ा देख, श्रोरामचन्द्र जो ने मतवाले हंस की तरह मनोहर कण्ठ वाले, कमलदल समान नेत्रवाले और श्यामवर्ण भरत को उठा कर अपनी गोद में बिड़ाया और उनसे बोले ॥ १५ ॥

^१ प्रतिपद्य—स्वीकृत्य, कस्मिइचत्स्थापयहि । (रा०)

आगता त्वामियं^१ बुद्धिः स्वजारे वैनयिकी च या ।
भृशमुत्सहसे तात रक्षितुं पृथिवीमपि ॥ १६ ॥

मेरे वनवास के विरुद्ध और राज्यशासन स्वीकार कर किसी को राजसिंहासन पर बिठा देने की बात जो तुमने कही, वह स्वाभाविक और गुरु द्वारा शिक्षा प्राप्त होने का फल स्वरूप है । अतः (इससे स्पष्ट है कि) तुम भनी भाँति राज्यशासन कर सकते हो । (अर्थात् तुम्हारी ऐसी सुन्दर बुद्धि का होना ही तुममें सुशासन को योग्यता के होने का प्रमाण है) ॥ १६ ॥

अमात्यैश्वर्य^२ सुहृद्दिश्च बुद्धिमद्दिश्च मन्त्रिभिः^३ ।

सर्वकार्याणि सम्मन्त्र्य सुप्रहान्त्यपि कारय ॥ १७ ॥

अब तुम प्रधान सचिव, सुहृद, बुद्धिमानों और उपमंत्रियों के साथ समस्त बड़े बड़े कार्यों के सम्बन्ध में परामर्श ले राज्य को सुव्यवस्था करो ॥ १७ ॥

लक्ष्मीश्वन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमं त्यजेत् ।

अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥ १८ ॥

चन्द्रमा की शोभा चन्द्रमा को भले ही छोड़ दे, हिमालय भले ही हिम को छोड़ दे । भले ही समुद्र अपनी सीमा को नांघ जाय, किन्तु मैं पिता की प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता ॥ १८ ॥

कामाद्वा तात लोभाद्वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम् ।

न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत् ॥ १९ ॥

१ इयंबुद्धिः—मद्वनवासविरोधिनी स्वीयत्वेनांगीकृत्यस्थापनविषया ।

(रा०) २ स्वजा—स्वाभाविकी । (रा०) ३ अमात्यैः—प्रधानसचिवैः ।

(गो०) ४ मंत्रिभिः—उपमंत्रिभिः । (गो०)

हे तात ! तुम्हारी माता ने भले ही तुम्हारे स्नेह अथवा तुमको
राज्य दिलाने के लाभ के वशवर्ती हो, यह काम किया हो, परन्तु
तुम इन बातों को अपने मन में न रखना और सदा उसके साथ
माता के समान व्यवहार करना ॥ १९ ॥

एवं ब्रुवाणं भरतः कौसल्यासुतमब्रवीत् ।

तेजसाऽऽदित्यसङ्काशं प्रतिपच्चन्द्रदर्शनम् ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब तेज में सूर्य के समान
अथवा प्रतिपदा के चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, कौशल्यानन्दन से
भरत जी कहने लगे ॥ २० ॥

अधिरोहार्य पादाभ्यां पादुके हेमभूषिते ।

एते हि सर्वलोकस्य योगक्षेमं विधास्यतः ॥ २१ ॥

हे आर्य ! इन सुवर्णभूषित पादुकाओं पर आप अपने चरण
रखिये, क्योंकि ये हो दोनों खड़ाऊ सब के योगक्षेम का निर्वाह
करेंगी ॥ २१ ॥

[नोट—अप्राप्त-वस्तु की प्राप्ति योग और प्राप्त-वस्तु की रक्षा क्षेम ।]

सोऽधिरुद्ध नरव्याघ्रः पादुके ह्यवरुद्ध च ।

प्रायच्छत्सुमहातेजा भरताय महात्मने ॥ २२ ॥

भरत के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र ने ते खड़ाऊ अपने पैरों में
पहिन लीं और फिर उनको उतार कर महात्मा भरत की दे
दीं ॥ २२ ॥

स पादुके सम्प्रणम्य रामं वचनमब्रवीत् ।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम् ॥ २३ ॥

फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन ।

तवागमनमाकाङ्क्षन्वसन्वै नगराद्विः ॥ २४ ॥

तब भरत जी ने भक्ति सहित उन दोनों खड़ाउओं को प्रणाम कर, श्रीरामचन्द्र जी से कहा कि, आज से ले कर चौदह वर्ष तक जटा चीर धारण कर और कंदमूल फल खा कर, तुम्हारे आगमन की बाट जाहता हुआ, हे रघुनन्दन ! मैं नगर के बाहिर रहूँगा ॥ २३ ॥ २४ ॥

तव पादुकयोन्यस्य* राज्यतन्त्रां परन्तप ।

चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम ॥ २५ ॥

न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

तथेति च प्रतिज्ञाय तं परिष्वज्य सादरम् ॥ २६ ॥

हे परन्तप ! सब राजकार्य आपकी खड़ाउओं को अर्पण कर, (मैं राज्य का प्रबन्ध करता रहूँगा परन्तु) जिस दिन चौदहवाँ वर्ष पूरा होगा उस दिन भी यदि आपको मैंने अयोध्या में न देखा तो मैं अग्नि में गिर कर भस्म हो जाऊँगा । भरत की इस बात को सुन श्रीरामचन्द्र जी ने “तथास्तु” (ऐसा ही होगा) कह कर (चौदहवाँ वर्ष पूर्ण होते ही लौट कर आ जाने की) प्रतिज्ञा की और भरत को आदर पूर्वक हृदय से लगाया ॥ २५ ॥ २६ ॥

शत्रुघ्नं च परिष्वज्य भरतं चेदमब्रवीत् ।

मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति ॥ २७ ॥

फिर भरत और शत्रुघ्न को हृदय से लगा कर श्रीराम जी ने भरत जी से यह कहा कि, देखो माता कैकेयी की रक्षा करना । खबरदार उस पर कोध मत करना ॥ २७ ॥

* पाठान्तरे—“न्यत्” । † पाठान्तरे—“राजतन्त्रः” ।

मया च सीतया चैव शप्तोऽसि रघुसत्तम ।

इत्युक्त्वाऽश्रुपरीताक्षो भ्रातरं विसर्ज ह ॥ २८ ॥

इसके लिये तुम्हें मेरी और सीता को शपथ है । यह कह नेत्रों में आँख भर श्रीरामचन्द्र जी ने दोनों भाइयों को बिदा किया ॥ २८ ॥

स पादुके ते भरतः प्रतापवान्

स्वलंकृते सम्परिपूज्य धर्मवित् ।

प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं

चकार चैवोत्तमनागमूर्धनि ॥ २९ ॥

तब धर्मत्वा भरत जी ने उन अलंकृत और अति उच्चवल खड़ाउओं का भली भाँति पूजन किया । तदनन्तर श्रीराम जी की परिक्रमा कर उन खड़ाउओं को (उस) उत्तम हाथी के मस्तक पर रखा, (जिस पर महाराज दशरथ सवार हुआ करते थे) ॥ २९ ॥

अथानुपूर्व्यात्प्रतिनन्द्य तं जनं

गुरुंश्च मन्त्रिप्रकृतीस्तथाऽनुजौ ।

व्यसर्जयद्राघववंशवर्धनः

स्थिरः स्वधर्मे हिमवनिवाचलः ॥ ३० ॥

तदनन्तर हिमालय की तरह अपने धर्मपालन में अटल अचल, रघुवंश के बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने यथाक्रम गुरु, मंत्री, प्रजा और दोनों छोटे भाइयों का सत्कार कर, उन सब को बिदा किया ॥ ३० ॥

तं मातरो बाष्यगृहीतकण्ठो

दुःखेन नामन्त्रयि तुंहि शेकुः ।

स त्वेव मातुरभिवाद्य सर्वा
रुदन्कुटीं स्वां प्रविवेश रामः ॥ ३१ ॥

इति द्वादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

गदगदकण्ठ और शोक से विकल होने के कारण माताओं में से किसी भी माता के मुख से श्रीरामचन्द्र जी के प्रति एक बात भी न निकल सकी । श्रीरामचन्द्र जो भी सब मताओं को प्रणाम कर, रोते बिलपते कुटी के भोतर चले गये ॥ ३१ ॥

अथोध्याकाण्ड का एक सौ बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

त्रयोदशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

ततः शिरसि कुत्वा तु पादुके भरतस्तदा ।
आरुरोह रथं हृष्टः शत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ १ ॥

तदनन्तर भरत जी ने हाथी के मस्तक से खड़ाऊ उतार अपने मस्तक पर रखीं और हर्षित होते हुए शत्रुघ्न को अपने साथ ले, रथ पर सवार हुए ॥ १ ॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जावालिश्च दृढव्रतः ।
अग्रतः प्रययुः सर्वे मन्त्रिणो मन्त्रपूजिताः ॥ २ ॥

वशिष्ठ, वामदेव, दृढव्रत जावालि तथा विचारचतुर अन्य सब मंत्री आगे आगे चले ॥ २ ॥

मन्दाकिनीं नर्दीं* पुण्यां प्राढ्मुखास्ते ययुस्तदा ।
प्रदक्षिणं च कुर्वाणाश्चित्रकूटं महागिरिम् ॥ ३ ॥

सग लोग महागिरि चित्रकूट की परिक्रमा कर रमणीय मंदा-
किनी के सामने पूर्व की ओर जाने लगे ॥ ३ ॥

पश्यन्थातुसहस्राणि रम्याणि विविधानि च ।
प्रययौ तस्य पाश्वेन ससैन्यो भरतस्तदा ॥ ४ ॥

भरत जो अपनी सेना के साथ नाना प्रकार की मनोहर धातुओं
को देखते देखते चित्रकूट के उत्तर चले जाते थे ॥ ४ ॥

अदूराच्चित्रकूटस्य ददर्श भरतस्तदा ।

आश्रमं यत्र स मुनिर्भरद्वाजः कृतालयः ॥ ५ ॥

भरत जो ने चित्रकूट से थोड़ी ही दूर पर एक धार्मिक देवा,
जिसमें ऋषियों महित भरद्वाज मुनि रहते थे ॥ ५ ॥

स तमाश्रममागम्य भरद्वाजस्य बुद्धिमान् ।

अवतीर्य रथात्पादौ ववन्दे †कुलनन्दनः ॥ ६ ॥

बुद्धिमान् भरद्वाज जी के धार्मिक में पहुँच, भरत जी रथ से
उत्तर पड़े और मुनि जी को प्रणाम किया ॥ ६ ॥

ततो हृष्टो भरद्वाजो भरतं वाक्यमब्रवीत् ।

अपि कृत्यं कृतं तात रामेण च समागतम् ॥ ७ ॥

तब भरद्वाज जो ने प्रसन्न हो, भरत से कहा—हे तात ! क्या
तुम्हारी श्रीरामचन्द्र से भैंट हुई ? क्या तुम्हारा मनोरथ सिद्ध
हुआ ? ॥ ७ ॥

* पाठान्तरे—“रम्यां” । † पाठान्तरे—“भरतस्तदा ।”

एवमुक्तः स तु ततो भरद्वाजेन धीमता ।

प्रत्युवाच भरद्वाजं भरतो भ्रातुवत्सलः ॥ ८ ॥

जब बुद्धिमान् भरद्वाज जी ने इस प्रकार पूँछा, तब भ्रातुवत्सल भरत जी ने भरद्वाज जी को उत्तर देते हुए कहा ॥ ८ ॥

स याच्यमानो गुरुणां मया च दृढविक्रमः ।

राघवः परमप्रीतो वसिष्ठं वाक्यमब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे भगवन् ! मैंने और गुरु वशिष्ठ जी ने जब श्रीरामचन्द्र जी से लौटने के लिये प्रार्थना की, तब श्रीरामचन्द्र जी ने परम प्रसन्न हो वशिष्ठ जी से कहा ॥ ९ ॥

पितुः प्रतिज्ञां तामेव पालयिष्यामि तत्त्वतः ।

चतुर्दशं हि वर्षाणि या प्रतिज्ञा पितुर्मम ॥ १० ॥

पिता जी ने मुझे चौदह वर्ष वन में रखने की जो प्रतिज्ञा की है, मैं उनकी इस प्रतिज्ञा का यथावत् पालन करूँगा ॥ १० ॥

एवमुक्तो महाप्राज्ञो वसिष्ठः प्रत्युवाच ह ।

वाक्यज्ञो वाक्यकुशलं राघवं वचनं महत् ॥ ११ ॥

इस प्रकार कहे जाने पर, वचन बोलने वालों में चतुर और बड़े विद्वान् वशिष्ठ जी ने उन वाक्यविशारद श्रीरामचन्द्र से यह महत्व की बात कही ॥ ११ ॥

एते प्रयच्छ संहृष्टः पादुके हेमभूषिते ।

अयोध्यायां महाप्राज्ञ योगक्षेमकरे तव ॥ १२ ॥

हे महाप्राज्ञ ! तब इस समय तुम हर्षित हो प्रतिनिधि के समान अपनी इन सुवर्णभूषित खड़ाउओं को देदो और अयोध्या के योग क्षेम में तत्पर बने रहो ॥ १२ ॥

एवमुक्तो वसिष्ठेन राघवः प्राढ्मुखः स्थितः ।

पादुके अधिरुद्धैते मम राज्याय वै ददौ ॥ १३ ॥

हे भरद्वाज जी ! वशिष्ठ जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी ने पूर्व की ओर मुख कर, इन खड़ाउओं को पहिना और राज्य के पालन की सामर्थ्य रखने वाली ये खड़ाऊ मुझे दे दी ॥ १३ ॥

निवृत्तोऽहमनुज्ञातो रामेण सुमहात्मना ।

अयोध्यामेव गच्छामि गृहीत्वा पादुके शुभे ॥ १४ ॥

उन महात्मा श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से उनको लौटा लाने के उद्देश्य से निवृत्त हो कर, मैं इन शुभ खड़ाऊओं को ले अयोध्या को लौटा जा रहा हूँ ॥ १४ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।

भरद्वाजः शुभतरं मुनिर्वाक्यमुवाच तम् ॥ १५ ॥

महात्मा भरत जी के ये शुभ वचन सुन, महर्षि भरद्वाज जी उनसे शुभतर वचन बोले ॥ १५ ॥

नैतच्चित्रं नरव्याघ शीलवृत्तवतां वर ।

यदार्यं त्वयि तिष्ठेतु निम्ने^१ सृष्टमिवोदकम् ॥ १६ ॥

हे सुशील और चरित्रवान् पुरुषसिंह ! यह कोई आश्र्य की बात नहीं कि, तुममें ऐसी सुजनता है। क्योंकि पानी बह कर तो तालाब या गढ़े ही में जमा होता है ॥ १६ ॥

^१ निम्ने — तटाकादी । (गो०) २ सृष्टं — धृतं । (गो०)

अमृतः स महावाहुः पिता दशरथस्तव ।

यस्य त्वमीदृशः पुत्रो धर्मज्ञो धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥

जिनके तुम जैसे धर्मात्मा और धर्मवत्सल पुत्र हैं वे महावाहु
महाराज दशरथ अजर अमर हैं ॥ १७ ॥

तमृषिं तु महात्मानमुक्तवाक्यं कृताङ्गलिः ।

आमन्त्रयितुमारेभे चरणावुपगृह्य च ॥ १८ ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा भरद्वाजं पुनः पुनः ।

भरतस्तु ययौ श्रीमानयोध्यां सह मन्त्रिभिः ॥ १९ ॥

इस प्रकार मुनि का वचन सुन, भरत हाथ जोड़ और उनके
चरण कू और बार बार परिक्रमा कर, उनसे विदा हो, मंत्रियों
सहित अयोध्या को प्रस्थानित हुए ॥ १८ ॥ १९ ॥

यानैश्च सकटैश्चैव हयैर्नागैश्च सा चमूः ।

पुनर्निवृत्ता विस्तीर्णा भरतस्यानुयायिनी ॥ २० ॥

भरत जी के साथ जो सेना थी वह भी उनके पीछे हो ली ।
उस सेना के लोगों में से कोई रथों कोई क्रकड़ों कोई हाथियों और
कोई घोड़ों पर सवार थे ॥ २० ॥

ततस्ते यमुनां दिव्यां नदीं तीर्त्वोर्मिमालिनीम् ।

दद्युस्तां पुनः सर्वे गङ्गां शुभजलां नदीम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे सब लोग, लहरों से लहराती यमुना को पार कर
फिर पवित्रतोया गङ्गा के तट पर पहुँचे ॥ २१ ॥

तां* पुण्यजलसम्पूर्णां सन्तीर्य सहवान्धवः ।

शृङ्गिबेरपुरं रम्यं प्रविवेश ससैनिकः ॥ २२ ॥

भरत जी सेना तथा भाई बंदों के साथ पवित्र जल से पूर्ण गङ्गा को पार कर शृङ्खलेपुर में पहुँचे ॥ २२ ॥

शृङ्खलेपुराद्भूयस्त्वयोध्यां सन्ददर्श ह ।

अयोध्यां च ततो दृष्टा पित्रा भ्रात्रा विवर्जिताम् ॥ २३ ॥

शृङ्खलेपुर से, जल कर भरत उस अयोध्यापुरी में पहुँचे, जो कि, उनके पिता महाराज दशरथ से और भाई श्रीरामचन्द्र से हीन थी ॥ २३ ॥

भरतो दुःखसन्तमः सारथिं चेदमब्रवीत् ।

सारथे पश्य विध्वस्ता साऽयोध्या न प्रकाशते ।

निराकारा^१ निरानन्दा दीना प्रतिहतस्वरा ॥ २४ ॥

इति अयोद्योत्तरशततमः सर्गः ॥

ऐसी उदास अयोध्यापुरी को देख भरत जी दुःख से सन्तम हो सारथी से बोले कि, हे सारथे ! देखो, यह अयोध्या कैसी ध्वस्त हो रही है । यह अब पहले जैसी शोभायुक अयोध्या नहीं रहो । क्योंकि इसमें न तो कहीं सजावट है, और न कहीं आनन्दोत्सव ही देख पड़ते हैं । यह बड़ी दीन दिखलाई पड़ती है । देखो, नगर भर में कैसा सञ्चाटा छाया हुआ है ॥ २४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ तेरहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।



चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः

—०—

स्निग्धगम्भीरघोषेण स्यन्दनेनोपयान्प्रभुः ।

अयोध्यां भरतः क्षिप्रं प्रविवेश महायशाः ॥ १ ॥

इस प्रकार महायशस्वी भरत जी ने, जलते समय गंभीर ध्वनि करने वाले रथ में बैठ, शीघ्र ही अयोध्या में प्रवेश किया ॥ १ ॥

बिदालोलूकचरितामालीननरवारणाम् ।

तिमिराभ्याहतां कालीमप्रकाशां निशामिव ॥ २ ॥

नगरी में जा कर भरत जी ने देखा कि, अयोध्या में जिधर देखो उधर ही बिलियाँ और उलूक दिल्लाई पड़ते हैं। घरों के द्वार बंद हैं। चारों ओर ऐसे ही अँधकार छा रहा है जैसे कृष्णपत्नी की रात में अँधकार ही अँधकार देख पड़ता है ॥ २ ॥

राहुशत्रोः प्रियां पर्वीं श्रिया प्रज्वलितप्रभाम् ।

ग्रहेणाभ्युत्थितेनैकां रोहिणीमिव पीडिताम् ॥ ३ ॥

अथवा जिस प्रकार चन्द्रमा के राहु द्वारा ग्रसे जाने पर रोहिणी की शोभा नष्ट सी देख पड़ती है, उसी प्रकार अयोध्या की दशा हो रही है ॥ ३ ॥

*अल्पोष्णत्कुब्धसलिलां घर्मीत्तस्विहङ्गमाम् ।

लीनमीनभषग्राहां कृशां गिरिनदीमिव ॥ ४ ॥

अथवा गरमी के मौसम में जिस समय पहाड़ी नदियों का जल सूर्य की गर्मी से गरम और मैला हो जाता है और वहाँ के जल-पक्षी गर्मी के कारण वहाँ से उड़ कर, अन्यत्र चले जाते हैं और

* पाठान्तरे—“अलिलोत्कुब्ध” ।

मक्षलिया मर जाती हैं, तथा अन्य जन्तु भी वहाँ नहीं रहते, एवं उस नदी की ज्ञा शोच्य दशा होती है वही शोच्य दशा अयोध्या की है ॥ ४ ॥

विधूमामिव हेमाभामध्वराग्रेः समुत्थिताम् ।

हविरभ्युक्षितां पश्चाच्छिखां प्रविलयं गताम् ॥ ५ ॥

अथवा, जिस प्रकार घो को ध्वादुति से अग्नि की शिखा पहले तो सोने के समान उज्ज्वल व्योति का प्रकाश करती है, पीछे उसमें किसी गीली वस्तु के गिरने से वह सहसा मन्द पड़ जाती है और अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जो के विरह में अयोध्या देख पड़ती है ॥ ५ ॥

विध्वस्तकवचां रुणगजवाजिरथध्वजाम् ।

हतप्रवीरामापन्नां चमूमिव महाहवे ॥ ६ ॥

अथवा वह अयोध्या ऐसी जान पड़ती है, जैसी वह सेना जिसके (वीरों के) कवच, हाथी, घोड़े रथ और ध्वजा किसी महायुद्ध में द्विज भिन्न हो जाने तथा वीर योद्धाओं के मारे जाने के कारण, विपन्न दशा को प्राप्त हुई हो ॥ ६ ॥

***सफेनां सखनां भूत्वा सागरस्य समुत्थिताम् ।**

प्रशान्तमारुतोदृतां जलोर्मिमिव निःस्वनाम् ॥ ७ ॥

अथवा, प्रबल वायु के बेग से समुद्र की लहरें जिस प्रकार झागों सहित गरजती हुई उठती हैं, और पीछे मंद पवन के चलने से शब्दरहित हो जाती हैं, उसो प्रकार अयोध्यापुरी हो रही है ॥ ७ ॥

त्यक्तां यज्ञायुधैः सर्वैरभिरूपैश्च याजकैः ।

***सुत्याकाले विनिर्वृत्तेवेदिं गतरवामिव ॥ ८ ॥**

* सुत्याकाले—समाप्ते । (शि०) * पाठान्तरे—“ सफेना सखना ” ।

अथवा जिस प्रकार यज्ञ की समाप्ति हो चुकने पर योग्य याचकों से रहित हो, यज्ञशाला सुनसान हो जातो है, उसी प्रकार अयोध्या सुनसान देख पड़ती है ॥ ८ ॥

गोष्ठमध्ये स्थितामार्तमचरन्तीं तुणं नवम् ।

गोवृषेण परित्यक्तां गवां पत्रीमिवोत्सुकाम् ॥ ९ ॥

अथवा जिस प्रकार साङ् के वियोग में तरुण गाय, उत्कण्ठित हो ताज़ी हरी धास न खा कर, उदास हो गोशाला में खड़ी रहती है—उसी प्रकार अयोध्या भी उदास देख पड़ती है ॥ ९ ॥

प्रभाकराद्यैः सुस्निग्धैः प्रज्वलद्विरिवोत्तमैः ।

वियुक्तां मणिभिर्जात्यैर्नवां मुक्तावलीमिव ॥ १० ॥

अथवा जैसे चमकीली और सुन्दर मणियों से हीन, मोतियों का नया हार शोभारहित हो जाता है, वैसे ही अयोध्या शोभाहीन हो रही है ॥ १० ॥

सहसा चलितां स्थानान्यहीं पुण्यक्षयादृगताम् ।

संहृतद्युतविस्तारां तारामिव दिवश्च्युताम् ॥ ११ ॥

अथवा, जिस प्रकार पुण्यक्षय होने पर, अपने स्थान से चलायमान हो आकाश से दिन में गिरने से, तारा प्रभाहीन हो जाता है, उसी प्रकार अयोध्या भी प्रभाहीन हो रही है ॥ ११ ॥

पुष्पनद्धां वसन्तान्ते मत्तं ब्रह्मरनादिताम् ।

द्रुतदावाग्निविष्णुष्टां क्लान्तां वनलतामिव ॥ १२ ॥

अथवा, वसन्तऋतु के अन्त में जैसे मतवाले भौंरों से गुजारित खिले हुए फूलों वाली बनजता, वन की आग से मुलस जाती है, वैसे ही अयोध्या भी मुत्ती हुई सो देख पड़तो है ॥ १२ ॥

'संमृढनिगमां स्तब्धां संक्षिप्तविपणापणाम् ।

प्रच्छन्नशशिनक्षत्रां द्यामिवाम्बुधरैर्वृत्ताम् ॥ १३ ॥

अयोध्या के राजमार्ग सुनसान पड़े हैं । बाज़ार सब बंद हैं न तो कोई दूकान ही खुली है और न कहीं कोई चीज़ ही बिक रही है । जैसे वर्षाकाल में मेघों से आकाश व्याप्त होने के कारण, चन्द्रमा और नक्षत्रों से हीन रात डरावनी ज्ञान पड़ती है, वैसे ही अयोध्या भी डरावनी दीख पड़तो है ॥ १३ ॥

क्षीणपानोत्तमैर्भिन्नैः शरावैरभिसंवृत्ताम् ।

हतशैण्डामिवाकाशे^२ पानभूमिपसंस्कृताम् ॥ १४ ॥

अथवा अयोध्यापुरी ऐसी ज्ञान पड़ती है, मानों मद पीने वालों के मारे जाने से मद से रहित, दूउे फूउे गांठों से भरो, तिना झाड़ी बुहारी, मैदान में, मद्यपानशाला हो ॥ १४ ॥

२वृक्णभूमितलां निम्नां वृक्णपात्रैः समावृत्ताम् ।

उपयुक्तोदकां^४ भग्नां प्रपां निपतितामिव^५ ॥ १५ ॥

अथवा अयोध्यापुरी उस पौशाला की तरह देख पड़ती है जिसकी भूमि विदीर्ण होने के कारण धनस्त हो गयी हो और

१ संमृढनिगमां—जनसञ्चाररहितमार्गां । (गो०) २ आकाश—

अनावृतदेशे । (गो०) ३ वृक्णभूमितलां—विदीर्णभूमितलां । (गो०)

४ उपयुक्तोदकां—समाप्तस्तिलिङ्गां । (शि०) ५ निपतितां—विवासाय विष-
तितज्ञनां । (शि०)

जिसमें दूरे फूरे भरतन भरे पड़े हों, और जहाँ पानी चुक जाने के कारण प्यासे लोग पड़े हों ॥ १५ ॥

विपुलां वितां चैव युक्तपाशां तरस्विनाम् ।

भूमौ बाणैर्विनिष्कृतां पतितां ज्यामिवायुधात् ॥ १६ ॥

अथवा अयोध्या वैसी ही शोभाहीन देख पड़ती है, जैसी की किसी बड़े धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यञ्चा (डारी) बलवान वीरों के बाणों से कट कर धनुष से गिर पृथिवी पर पड़ी शोभाहीन होती है ॥ १६ ॥

सहसा युद्धशौण्डेन॑ हयारोहेण वाहिताम् ।

४ निक्षिप्तभाण्डामुत्सृष्टां॒ ६ किशोरीमिव दुर्वलाम् ॥ १७ ॥

अथवा जैसे युद्धचतुर मनुष्य से हठात् सवारी की गयी दुर्वल घेड़ी, जो शत्रुसैन्य से मार कर गिरा दी गयी हो, शोभाहीन देख पड़ती है ॥ १७ ॥

भरतस्तु रथस्थः सञ्च्रीमान्दशरथात्मजः ।

वाहयन्त रथश्रेष्ठं सारथिं वाक्यमब्रवीत् ॥ १८ ॥

रथ पर बैठे हुए श्रीमान् दशरथनन्दन भरत जी उन सुमंत्र से बाले, जो उस उत्तम रथ को हाँक रहे थे ॥ १८ ॥

७ किं नु खल्वद्य गम्भीरो मूर्छितो न निशम्यते ।

यथापुरमयोध्यायां गीतवादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

१ तरस्विनां—वीराणां । (गो०) २ आयुधात्—धनुषः । (गो०)

३ युद्धशौण्डेन—आहवसमर्थेन । (गो०) ४ निक्षिप्तभाण्डाम्—अवरोपित अश्वभूषां । (गो०) ५ उत्सृष्टां—बाइनानहीं । (गो०) ६ किशोरी—बालबडवां । (गो०) ७ किंनुखलु—अहोकष्टं जातमित्यर्थः । (गो०)

हाय ! कैसे दुःख की बात है कि, इस पुरी में जैसे पहले गाना बजाना हुआ करता था, वैसा आज कहीं नहीं सुनाई पड़ता ॥ १६ ॥

वारुणीमदगन्धश्च माल्यगन्धश्च मूर्छितः ।

धूपितागुरुगन्धश्च न प्रवाति समन्ततः ॥ २० ॥

फूल मालाओं की मस्त करने वालों एवं चन्दन अगर की धूप की सुगन्धि पहले की तरह चारों ओर फैली हुई नहीं जान पड़ती । अथवा जैसा पहले पुष्प चन्दन और अगर का गन्ध चारों ओर फैला रहता था वैसा आज नहीं फैल रहा ॥ २० ॥

यानप्रवरघोषश्च स्निग्धश्च हयनिःस्वनः ।

प्रमत्तगजनादश्च महांश्च रथनिस्वनः ॥ २१ ॥

नेदानीं श्रूयते पुर्यामस्यां राम विवासिते ।

चन्दनागरुगन्धांश्च महार्हश्च नवस्त्रजः ॥ २२ ॥

गते हि रामे तरुणाः सन्तसा नोपभुजते ।

बहिर्यात्रां न गच्छन्ति चित्रमाल्यधरा नराः ॥ २३ ॥

हे सुमंत्र ! जैसा कि, पूर्वकाल में रथ आदि सवारियों के चलने का शब्द, घोड़ों के हिनहिनाने और हाथियों के चिंघाड़ने का शब्द सुन पड़ता था, वैसा आज इस पुरी में श्रीराम जो के बन में चले जाने के कारण नहीं सुन पड़ता । हाय ! चन्दन और बड़े मूल्य-वान् ताजे पुष्पहारों को श्रीरामचन्द्र जो के वियोग में सन्तप्त हो अयोध्यावासों तरुणों ने धारण करना त्याग दिया है । अब लोग चित्रविचित्र पुष्प मालाएँ धारण कर बाहिर नहीं निकलते ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥

नोत्सवाः सम्प्रवर्तन्ते रामशोकादिते पुरे ।

सह नूर्न मम भ्रात्रा पुरस्यास्य द्युतिर्गता ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जो के शोक से सब नगरवासी ऐसे विकल हैं कि, उत्सव का नाम तक सुनाई नहीं पड़ता, मानों इस नगरी की शोभा मेरे भाई के साथ चली गयी ॥ २४ ॥

न हि राजत्ययोध्येयं १सासारेवार्जुनी२ क्षपा३ ।

कदा नु खलु मे भ्राता महोत्सव इवागतः ।

जनयिष्यत्ययोध्यायां हर्षं ग्रीष्म इवाम्बुदः ॥ २५ ॥

हा ! यह अयोध्या तो मूसलधार वर्षा से युक्त शुक्लपक्ष की रात्रि की तरह प्रकाशहीन हो गयी है । (अर्थात् शुक्लपक्ष की रात बड़ी सुहावनी होती है, किन्तु बदली ढा जाने के कारण उसका सुहावनापन नष्ट हो जाता है ।) सो कब मेरे भाई श्रीरामचन्द्र उत्सव की तरह यहाँ आ कर, ग्रीष्मकालीन मेघ की तरह अयोध्या में आनन्द की वर्षा करेंगे ॥ २५ ॥

तरुणैश्चास्त्रवेषैश्च नरैरुन्नतगामिभिः४ ।

सम्पद्विरयोध्यायां नाभिभान्ति महापथाः ॥ २६ ॥

जैसे पहिले सुन्दर वेष धारण कर और अकड़ कर चलने वाले जवानों से राजमार्ग की शोभा होती थी, वैसी शोभा अयोध्या के राजमार्गों की अब नहीं देख पड़ती ॥ २६ ॥

एवं वहुविधं जल्पन्विवेश वसतिं पितुः ।

तेन हीनां नरेन्द्रेण सिंहहीनां गुहामिव ॥ २७ ॥

१ सासारा—वेगवद्वृष्टि सहिता । (गो०) २ अर्जुनी—शुक्लपक्ष सम्बन्धनी । (गो०) ३ क्षपा—रात्रि । (रा०) ४ उन्नतगामिभिः—सर्वगमनैः । (गो०)

इस प्रकार शोक सन्ताप करते हुए भरत जी ने, अपने पिता के मिवासस्थान में, जो महाराज के बिना सिंहरहित गुफा की तरह जान पड़ता था, प्रवेश किया ॥ २७ ॥

तदा तदन्तःपुरमुजिभृतप्रभं
सुरैरिवेत्सृष्टमभास्करं दिनम् ।
निरीक्ष्य सर्वं तु विविक्तमात्मवान्
मुमोच वाष्पं भरतः सुदुःखितः ॥ २८ ॥
इति चतुर्दशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय शोभाहीन निर्जन रनवास को देख, भरत रोने लगे और उसी प्रकार अत्यन्त दुःखी हुए, जिस प्रकार देवाल्लुर संग्राम में सुर्यरहित दिन को देख, देवता लोग दुखी हुए थे ॥ २८ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः

— : * : —

ततो निक्षिप्य^१ मातृः स अयोध्यायां दृढव्रतः ।

भरतः शोकसन्तप्तो गुरुनिदमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दृढव्रतधारी भरत जी ने माताओं को अयोध्या में पहुँचा दिया । तदनन्तर वे शोक से पीड़ित हो, विशिष्टादि गुरुजनों से बोले ॥ १ ॥

नन्दिग्रामं गमिष्यामि सर्वानामन्त्रयेऽय वः ।

तत्र दुःखमिदं सर्वं सहिष्ये राघवं विना ॥ २ ॥

^१ निक्षिप्य—संस्थाप्य । (शि०)

मैं नन्दिग्राम जाऊँगा, इसके लिये मैं आपकी आङ्गा चाहता हूँ। वहाँ रह कर जैसे होगा वैसे श्रीरामचन्द्र जी के वियोग के समस्त दुःख सहूँगा ॥ २ ॥

गतश्च हि दिवं राजा वनस्थश्च गुरुर्पम् ।

रामं प्रतीक्षे राज्याय स हि राजा महायशाः ॥ ३ ॥

महाराज तो स्वर्ग पधारे, और वडे भाई वन में जा बैठे। अतः मैं राज्यशासन के लिये श्रीरामचन्द्र जी की प्रतोक्ता करूँगा। क्योंकि महायशस्वी श्रीरामचन्द्र ही अयोध्या के राजा हैं ॥ ३ ॥

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं भरतस्य महात्मनः ।

अब्रुवन्मन्त्रिणः सर्वे वसिष्ठश्च पुरोहितः ॥ ४ ॥

महात्मा भरत जी के ऐसे शुभ वचन सुन, समस्त मंत्री और पुरोहित वशिष्ठ जी उनसे बोले ॥ ४ ॥

सुभूत्यं श्लाघनीयं च यदुक्तं भरत त्वया ।

वचनं भ्रातृवात्सल्यादनुरूपं तवैव तत् ॥ ५ ॥

हे भरत ! तुमने भ्राता के स्नेहवश जो कुछ कहा, वह अत्यन्त श्लाघनीय है। क्यों न हो, ये वचन तुम्हारे ही मुख से निकलने चाय्य हैं ॥ ५ ॥

नित्यं ते बन्धुलुभ्यस्य तिष्ठतो भ्रातृसौहृदे ।

आर्यमार्गं प्रपन्नस्य नानुमन्येत कः पुमान् ॥ ६ ॥

जब तुम अपने भाई में प्रोतिवान हो और उनका सौहार्द सम्पादन कर अत्यन्त श्रेष्ठ मार्ग में पहुँचे हुए हो, तब भला कौन पुरुष तुम्हारी बात न मानेगा ॥ ६ ॥

मन्त्रिणां वचनं श्रुत्वा यथाऽभिलषितं प्रियम् ।

अब्रवीत्सारथिं वाक्यं रथे मे युज्यतामिति ॥ ७ ॥

अपनी अभिलाषा के अनुसार मंत्रियों के मुख से प्रिय वचन सुन भरत जी ने सुमंत्र से कहा कि, मेरा रथ तैयार करो ॥ ७ ॥

प्रहृष्टवदनः सर्वा मातृः समभिवाद्य सः ।

आरुरोह रथं श्रीमाङ्गशत्रुघ्नेन समन्वितः ॥ ८ ॥

जब रथ आ गया, तब भरत जी प्रसन्न हो कर सब माताओं से अच्छी तरह वार्तालाप कर और उनसे आङ्गा ले, शत्रुघ्न जी सहित रथ पर सवार हुए ॥ ८ ॥

आरुह्य च रथं श्रीघ्रं शत्रुघ्नभरतावुभौ ।

ययतुः परमप्रीतौ वृत्तै मन्त्रिपुरोहितैः ॥ ९ ॥

उस रथ पर श्रीघ्र सवार हो, मंत्रियों और पुरोहितों को साथ ले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न परम प्रसन्न होते हुए वहाँ से चले ॥ ९ ॥

अग्रतो गुरवस्तत्र वसिष्ठप्रमुखा द्विजाः ।

प्रययुः प्राङ्मुखाः सर्वे नन्दिग्रामो यतोऽभवत् ॥ १० ॥

वशिष्ठादि पूज्य ब्राह्मण भरत के रथ के आगे पूर्व को मुख कर सब को साथ लिये हुए नन्दिग्राम की ओर चले ॥ १० ॥

बलं च तदनाहूतं गजाश्वरथसङ्कुलम् ।

प्रययौ भरते याते सर्वे च पुरवासिनः ॥ ११ ॥

भरत जी के वहाँ से रवाने होते ही उनकी सेना भी हाथी धोड़ों रथों के सहित विना बुलाये ही उनके पीछे होली तथा सब पुरवासी भी उनके साथ हो लिये ॥ ११ ॥

रथस्थः स हि धर्मात्मा भरतो भ्रातृवत्सलः ।

नन्दिग्रामं ययौ तूर्णं शिरस्याधाय पादुके ॥ १२ ॥

धर्मात्मा एवं भ्रातृवत्सल भरत अपने माथे पर भाई की खड़ाऊओं को रखे हुए, रथ पर सवार हो वहुत शीघ्र नन्दिग्राम में पहुँचे ॥ १२ ॥

ततस्तु भरतः क्षिप्रं नन्दिग्रामं प्रविश्य सः ।

अवतीर्य रथात्तूर्णं गुरुनिदमुवाच ह ॥ १३ ॥

तदनन्तर भरत जो तुरन्त ही नन्दिग्राम में प्रवेश कर और तुरन्त रथ से उतर गुरुओं से यह बोले ॥ १३ ॥

एतद्राज्यं मम भ्रात्रा दत्तं सन्न्यासवत्स्वयम् ।

योगक्षेमवहे चेमे पादुके हेमभूषिते ॥ १४ ॥

भाई श्रीरामचन्द्र ने यह श्रेष्ठराज्य मुझे धरोहर की तरह सौंपा है, सो उनकी ये सुवर्ण भूषित पादुका ही इसके योग क्षेम का निर्वाह करेंगे ॥ १४ ॥

भरतः शिरसा कृत्वा सन्न्यासं^१ पादुके ततः ।

अब्रवीहुःखसन्तसः सर्वं प्रकृतिमण्डलम्^२ ॥ १५ ॥

अनन्तर श्रीराम की दी हुई प्रतिनिधि रूपी उन पादुकाओं को अपने सीस पर लगा, दुःख सन्तस हो भरत जो सब प्रजाजनों से बोले ॥ १५ ॥

छत्रं धारयत क्षिप्रमार्यपादाविमौ मतौ ।

आभ्यां राज्ये स्थितो धर्मः पादुकाभ्यां गुरोर्मम ॥ १६ ॥

१ सन्न्यासं पादुके—खप्रतिनिधित्वेनन्यस्तेपादुके । (गा०) २ प्रकृति-मण्डलम्—प्रजासमूहं । (शि०)

इन पादुकाओं की साज्जात् श्रीरामचन्द्र जी के चरण समझ, इनके ऊपर शोब्र क्षत्र तानों, चँवर डुलाओ, क्योंकि ये मेरे परम गुरु की पादुकाएँ हैं और इनसे राज्य में मानों धर्म स्थापित हुआ है ॥ १६ ॥

[नोट—“पादुकाओं से राज्य में धर्म का स्थापित होना ” अर्थात् बड़े के रहते छोटे का राजसिंहासन पर बैठना अधर्म था । अतः ज्येष्ठ राज-कुमार श्रीरामचन्द्र जी को प्रतिनिधि रूप पादुकाओं के अब राजसिंहासन पर स्थापित होने से, अधर्म दूर हुआ है और धर्म स्थापित हुआ है ।]

भ्रात्रा हि मयि सन्न्यासो निक्षिसः सौहृदादयम्* ।
तमिमं पालयिष्यामि राघवागमनं प्रति ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने प्रेमपूर्वक जो यह धरोहर मुझे सौंपी है, सो इसकी मैं उनके लौट कर आने तक रक्षा करूँगा ॥ १७ ॥

क्षिप्रं संयोजयित्वा तु राघवस्य पुनः स्वयम् ।
चरणौ तौ तु रामस्य द्रक्ष्यामि सहपादकौ ॥ १८ ॥

फिर जब कि, वे अयोध्या जो में आ जायेंगे, तब मैं अपने हाथों उनके चरणों में ये पादुका पहिना, पादुका सहित उनके चरणों के दर्शन करूँगा ॥ १८ ॥

ततो निक्षिसभारोऽहं राघवेण समागतः ।
निवेद्य गुरवे राज्यं भजिष्ये गुरुवृत्तिताम्^२ ॥ १९ ॥

^१ पालयिष्यामि — सक्षियिष्यामि । (गो०) ^२ गुरुवृत्तिताम् भजिष्ये—पितरीवशुश्रांकिष्यामि । (गो०) * पाठान्तरे — “याहृदादसौम् ।”

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी से मिल और उनका राज्य उनको
सौंप पिता की जैसी सेवा पुत्र को करनी चाहिये, वैसी में उनकी
सेवा करूँगा ॥ १६ ॥

राघवाय च सन्न्यासं दत्त्वेमे वरपादुके ।

राज्यं चेदमयोध्यां च धूतपापोऽभवामि च ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र को इन धरोहर रूपों पादुकाओं को,
इस राज्य को और इस राज्यानो अयोध्या को सौंप, अपनी माता
के कारण अपने ऊपर लगे हुए अपवश को मैं धो डालूँगा ॥ २० ॥

अभिषिक्ते तु काकुतस्थे प्रहृष्टमुदिते जने ।

प्रीतिर्मम यशश्वैव भवेद्राज्याच्चतुर्गुणम् ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का राज्याभिषेक होने पर प्रजाजन, हर्षित
और आनन्दित होंगे । उस समय इस राज्य को श्रीरामचन्द्र जी के
अर्पण करने से लोगों की मेरे प्रति चौगुनी प्रीति ही नहीं होगी,
बल्कि मुझे यश भी मिलेगा । (अर्थात् अब जो अपवश मिला है
वह दूर हो कर मुझे यश की प्राप्ति होगी) ॥ २१ ॥

एवं तु विलपन्दीनो भरतः स महायशाः ।

नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं दुःखितो मन्त्रिभिः सह ॥ २२ ॥

महायशस्वो वीर भरत इस प्रकार विलाप कर और दीन दुःखी
हो, मंत्रियों की सहायता से नन्दिग्राम में रह, राज्य करने
लगे ॥ २२ ॥

स वल्कलजटाधारी मुनिवेषधरः प्रभुः ।

नन्दिग्रामेऽवसद्वीरः ससैन्यो भरतस्तदा ॥ २३ ॥

१ धूतपाप—इत्यत्रपापशब्देनकैक्यीनिमित्तमयशउच्यते । (गो०)

वीर भरत चौर वसन और जटाजूट धारण कर, मुनियों का
देष बना समस्त सेना सहित नन्दिग्राम में रहने लगे ॥ २३ ॥

रामागमनमाकाङ्क्षन्भरतो भ्रातृवत्सलः ।

भ्रातृवर्वचनकारी च प्रतिज्ञापारगस्तथा ॥ २४ ॥

पादुके त्वभिषिच्याथ नन्दिग्रामेऽवसत्तदा ।

सवालव्यजनं छत्रं धारयामास स स्वयम् ॥

भरतः शासनं सर्वं पादुकाभ्यां न्यवेदयत् ॥ २५ ॥

भ्रातृवत्सल, श्रीरामचन्द्र जी के आने की आकॉक्ता रखने
वाले, श्रीरामचन्द्र जी के आज्ञाकारी और अपनो प्रतिज्ञा को पूर्ण
करने वाले भरत जी राजसिंहासन पर श्रीरामचन्द्र जी को पादुकाओं
को अभिषिक्त कर नन्दिग्राम में रहने लगे । उन्होंने स्वयं उन पादु-
काओं पर छत्र तान और चैंबर डुला, समस्त राज्य का शासन
उन पादुकाओं को निवेदन किया ॥ २४ ॥ २५ ॥

ततस्तु भरतः श्रीमानभिषिच्यार्यपादुके ।

तदधीनस्तदा राज्यं कारयामास सर्वदा ॥ २६ ॥

तब श्रीमान् भरत जो इस प्रकार पादुकाओं का राज्या-
भिषेक कर उनके अधीन हो, राज्यशासन करने लगे ॥ २६ ॥

तदा हि यत्कार्यमुपैति किञ्चि-

दुपायनं चोपहृतं महार्हम् ।

स पादुकाभ्यां प्रथमं निवेद्य

चकार पश्चाद्दरतो यथावत् ॥ २७ ॥

इति पञ्चदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

उस समय राज्यशासन सम्बन्धी जो कुछ करना होता, वह पादुकाओं को जना कर किया जाता अथवा कोई बड़ी मूल्यवान भेट आती तो वह पहले पादुकाओं के सामने रखी जाती थी पीछे उसका यथाविधि व्यवहार किया जाता था ॥ २७ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ पद्धतियाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

षोडशोत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

प्रतिप्रयाते भरते वसन्नरामस्तपेषावने ।

लक्ष्यमासः^१ सोद्वेगमथौत्सुक्यं^२ तपस्विनाम् ॥ १ ॥

भरत जी जब अयोध्या में लौट आये तब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, चित्रकूट पर्वतवासी तपस्विगण डरे हुए हैं और वे स्थानान्तर में जाने को उत्सुक हो रहे हैं ॥ १ ॥

ये तत्र चित्रकूटस्य पुरस्तात्तापसाश्रमे ।

राममाश्रित्य निरतास्तानलक्ष्यदुत्सुकान् ॥ २ ॥

जो तपस्वी पहले चित्रकूट के सभीप तापसाश्रम में श्रीराम के सहारे रहा करते थे, उन्हें भी उस स्थान को छोड़ अन्यत्र जाने के लिये, श्रीरामचन्द्र जी ने उत्सुक देखा ॥ २ ॥

नयनैर्भुक्टीभिश्च रामं निर्दिश्य शङ्किताः ।

अन्योन्यमुपजल्पन्तः शनैश्चक्रुमिथः^३ कथाः ॥ ३ ॥

१ सोद्वेगं—सभयं । (गो०) २ अौत्सुक्यं—आश्रमान्तरगमनाभिलाषं । (गो०) ३ निरतास्तान्—उत्सुकानगमनोत्सुकान् । अलक्ष्यतरामः इत्यनुषङ्गः । (गो०) ४ मिथः—रहस्ये । (गो०)

क्योंकि वे नेत्रों और भूकुटियों के सङ्केतों से, श्रीराम को दिखा दिखा, सन्देह युक्त हो, आपस में बातचीत और धीरे धीरे कुछ गुप्त परामर्श किया करते थे ॥ ३ ॥

तेषामौत्सुक्यमालक्ष्य रामस्त्वात्मनि^१ शङ्कितः ।
कृताञ्जलिरुवाचेदमृषि कुलपतिं ततः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उनको उत्सुक देख और अपने विषय में उनको सशङ्कित देख, उनके अच्युत ऋषि से हाथ जोड़ कर कहा ॥ ४ ॥

न कच्छिद्गवन्निश्चित्पूर्ववृत्तमिदं मयि ।
दृश्यते विकृतं येन विक्रियन्ते तपस्त्विनः ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! क्या पूर्वकालीन मेरे आचरण में किसी प्रकार की त्रुटि आप लोगों का देख पड़ी, जिससे तपस्त्वि लोगों के मन में विकार पैदा हो गया है ॥ ५ ॥

प्रमादाच्चरितं किञ्चित्किञ्चिन्नावरजस्य^२ मे ।
लक्ष्मणस्यर्षिभिर्दृष्टं नानुरूपमिवात्मनः ॥ ६ ॥

अथवा क्या ऋषि लोगों ने मेरे क्षेत्रे भाई महानुभाव लक्ष्मण जी को अनवधानतावश कोई अन्यायाचरण करते देखा है ॥ ६ ॥

कच्छिद्गृष्ममाणा वः शुश्रूषणपरा मयि ।
प्रमदाभ्युचितां दृत्तिं सीता युक्तं न वर्तते ॥ ७ ॥

१ आत्मनि शङ्कितः—स्वस्मिन् संजातशङ्कः । २ अवरजस्य—लक्ष्मणस्य ।
(गो०) ३ नानुरूपं—अनुचितं । (रा०)

या आप लोगों की सेवा करती हुई और मेरी सुश्रूषा में
निरत सीता जी ने तो अनवधानतावश कोई ऐसा कार्य नहीं
किया, जो खियों के लिये अनुचित हो ॥ ७ ॥

अथर्विरया वृद्धस्तपसा च जरां गतः ।

वेपमान इवोवाच रामं भूतदयापरम् ॥ ८ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, एक बूढ़े महर्षि, जिनका
शरीर बहुत दिनों तक तप करते करते जीर्ण हो गया था, कौपते
हुए, सब प्राणियों पर दया करने वाले श्रीरामचन्द्र जो से बोले ॥ ८ ॥

कुतः कल्याणसत्त्वायाः^१ कल्याणाभिरतेस्तथा ।

चलनं तात वैदेह्यास्तपस्विषु विशेषतः ॥ ९ ॥

हे तात ! कल्याण स्वभाव वाली और प्राणियों का कल्याण
करने में तत्पर सीता जी क्या कभी किसी के साथ—सो भी विशेष
कर ऋषियों के साथ, किसी प्रकार का युक्तिविरुद्ध व्यवहार कर
सकती है ? ॥ ९ ॥

त्वन्निमित्तमिदं तावत्तापसान्प्रति वर्तते ।

रक्षाभ्यस्तेन संविग्राः कथयन्ति मिथः^२ कथाः ॥ १० ॥

यथार्थ बात तो यह है कि, आपके कारण, ऋषियों के ऊपर
राज्ञसों ने अत्याचार करना आरम्भ कर दिया है। इसी लिये
ऋषिगण भयभीत हो आपस में अपने वचाव के लिये गुप्त परामर्श
किया करते हैं ॥ १० ॥

^१ कल्याणसत्त्वायाः—कल्याणस्वभावायाः । (गो०) ^२ मिथः—

रहसि । (गो०)

रावणावरजः कश्चित्स्वरो नामेह राक्षसः ।

‘उत्पाद्य तापसान्सर्वाङ्गनस्थाननिकेतनान् ॥ ११ ॥

रावण का छोटा भाई खर नाम का राक्षस है, जो जनस्थान-वासी सब तपस्त्रियों को उनके जनस्थान के आश्रमों से निकाल बाहर कर रहा है ॥ ११ ॥

धृष्टश्च जितकाशी^१ च वृशंसः पुरुषादकः ।

अवलिप्तश्च पापश्च त्वां च तात न मृष्यते ॥ १२ ॥

हे तात ! वह बड़ा ढोठ और जयी है तथा ऐसा निष्ठुर है कि, मनुष्यों को मार मार कर खाया करता है । अतः वह महापातकी है और आपका यहाँ रहना उसको सहा नहीं है ॥ १२ ॥

त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे ।

तदाप्रभृति रक्षांसि विप्रकुर्वन्ति तापसान् ॥ १३ ॥

हे तात ! जब से तुम इस आश्रम में आ कर रहने लगे हो, तब से राक्षस लोग और भी अधिक तपस्त्रियों को सताने लगे हैं ॥ १३ ॥

दर्शयन्ति हि वीभत्सैः^२ षक्रौर्भीषणकैरपि ।

५नानारूपैर्विरूपैश्च^३ ७रूपैर्विकृतदर्शनैः^४ ॥ १४ ॥

वे लोग अनेक प्रकार के जुगुप्तित, भयङ्कर, भीषण, और विलक्षण विकट शक्तुं बना तपस्त्रियों को डराया करते हैं ॥ १४ ॥

१ उत्पाद्य—निष्कास्येति । (गो०) २ जितकाशी—जिताहवः । (गो०)

३ वीभत्सैः—जुगुप्तितैः । (गो०) ४ क्रौरैः—भयङ्करैः । (गो०) ५ नानारूपैः—अनेक प्रकारैः । (गो०) ६ विरूपैः—लोकविलक्षण संस्थानैः । (गो०)

७ रूपैः—शरीरैः । (गो०) ८ विकृत दर्शनैः—विकृतदृष्टिभिः । (गो०)

^१ अप्रशस्तैरशुचिभिः सम्प्रयोज्य च तापसान् ।

प्रतिग्रन्थ्यपरान्क्षप्रमनार्याः पुरतः स्थिताः ॥ १५ ॥

वे अशुभ और अपवित्र वस्तुएँ तपस्त्रियों के आश्रमों में डाल छूषियों को तंग करते हैं । अधिकतर तो वे सीधे सादे तपस्त्रियों को देखते ही मार डालते हैं ॥ १५ ॥

तेषु तेष्वाश्रमस्थानेष्वबुद्धैमवलीय च ।

रमन्ते तापसांस्तत्र नाशयन्तोऽल्पचेतसः^३ ॥ १६ ॥

वे क्षुद्र बुद्धि वाले राज्ञस क्षिप कर सर्वत्र घूमा करते हैं, और जहाँ कहीं किसी तपस्त्री को अचेत पाते हैं, तो तत्त्वण ही मार डालते हैं ॥ १६ ॥

अपश्चिपन्ति सुगभाण्डानग्रीन्मिश्रन्ति वारिणा ।

कलशांश्च प्रमृद्गग्निं हवने समुपस्थिते ॥ १७ ॥

जब तपस्त्रि लोग हवन करने बैठते हैं, तब राज्ञस आ कर, शुब्रों और यज्ञपात्रों को फेंक कर, अग्नि के ऊपर पानी डाल बुझा देते हैं और कलशों को फोड़ डालते हैं ॥ १७ ॥

तैर्दुरात्मभिरामृष्टानाश्रमान्प्रजिहासवः ।

गमनायान्यदेशस्य चोदयन्त्यृष्योऽद्य माम् ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! उन दुष्टों के उपद्रवों से तंग आ कर तपस्त्रि इन आश्रमों को त्याग कर दूसरे आश्रमों में चलने के लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं ॥ १८ ॥

^१ [अप्रशस्तैः—अशुभैः । (गो०) २ अबुद्धं—अविदितं । (गो०)

^३ अल्पचेतसः—क्षुद्रबुद्धयः (गो०)

तत्पुरा राम १शारीरामुपहिंसां तपस्विषु ।

दर्शयन्ति हि दुष्टास्ते त्यक्ष्याम इममाश्रमम् ॥ १९ ॥

हे श्रीराम ! वे दुष्ट राक्षस इस वन के तपस्वियों को मार डालने की धमकियाँ दिया करते हैं, अतः हम लोग इस आश्रम को त्यागे देते हैं ॥ १६ ॥

बहुमूलफलं चित्रमविदूरादितो वनम् ।

पुराणाश्रममेवाहं श्रियिष्ये सगणः पुनः ॥ २० ॥

यहाँ से थोड़ी ही दूर पर, महर्षि अश्व का, बहुत से कन्दमूल फलों से युक्त विचित्र तपोवन है। हम सब मुनियों को साथ ले, वहाँ जा बसेंगे ॥ २० ॥

खरस्त्वय्यपि चायुक्तं पुरा तात प्रवर्तते ।

सहास्माभिरितो गच्छ यदि बुद्धिः प्रवर्तते ॥ २१ ॥

हे तात ! अगर तुमको ठीक जान पड़े तो तुम भी हम लोगों के साथ वहाँ चलो। क्योंकि वह खर राक्षस तुमको भी तंग करेगा ॥ २१ ॥

सकलत्रस्य सन्देहो नित्यं यत्तस्य राघव ।

समर्थस्यापि हि सतो वासो दुःखमिहाव्य ते ॥ २२ ॥

हे राघव ! यद्यपि तुम उससे अपनी रक्ता करने में समर्थ हो, तथापि छोंटी को साथ ले कर यहाँ रहना सदा खटके से ख़ाली न होने के कारण, तुम्हारे लिये क्लेशदायी होगा ॥ २२ ॥

इत्युक्तवन्तं रामस्तं राजपुत्रस्तपस्विनम् ।

न शशाकोत्तरैर्वक्यैरवरोदुं समुत्सुकम् ॥ २३ ॥

१ शारीरसबनिधनीम्—हिसां तपस्विषुदर्शयन्ति । (शि०) * पाठान्तरे

“ समुत्सुकः । ”

कुलपति का ऐसा वचन सुन और जाने के लिये उनको अत्यन्त उत्सुक देख, राजकुमार श्रीरामचन्द्र किसी प्रकार भी समझा बुझा कर, वह स्थान त्यागने से उन्हें न रोक सके ॥ २३ ॥

अभिनन्द्य समापृच्छय समाधाय च राघवम् ।

स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह ॥२४॥

तदनन्तर कुलपति, श्रीरामचन्द्र जो की प्रशंसा कर, उनको समझा बुझा और उनसे विदा हो तथा सब तपत्वियों को साथ ले, उस आश्रम को त्याग कर, चल दिये ॥ २४ ॥

रामः १संसाध्य तृष्णिगणमनुगमनाद्

देशात्तस्मात्कुलपतिमभिवाद्य ऋषिम् ।

सम्यक्प्रीतैस्तैरनुमत उपदिष्टार्थः

पुण्यं वासाय स्वनिलयमभिसंपेदे ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब उन लोगों की प्रस्थान करने की तैयारी हुई, तब श्रीरामचन्द्र जी भी कुछ दूर तक उनको पहुँचाने गये । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी कुलपति की अनुमति ले और उनको प्रणाम कर, अपनी पवित्र पर्णशाला में लौट आये । जब श्रीरामचन्द्र जी लौटने लगे, तब ऋषियों ने प्रीतिपूर्वक योग्य कर्तव्यकर्म का भली भाँति उनको उपदेश दे, उनको विदा किया ॥ २५ ॥

आश्रमं तृष्णिविरहितं प्रभुः

क्षणमपि न विजहौ स राघवः ।

१ संसाध्य —प्रस्थाप्य । (गो०)

राघवं हि सततमनुगता-
 स्तापसाश्चर्षिचरितधृतगुणाः ॥ २६ ॥
 इति षोडशोत्तरशततमः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी उस ऋषिहीन आश्रम को ज्ञान भर के लिये भी सुना नहीं क्रोडते थे। उनमें से कुक्र ऋषि ऐसे थे जो श्रीरामचन्द्र जी का तपस्वियों जैसा आचरण देख, उनको अपना मन समर्पित कर चुके थे। अतः वे ऋषि श्रीरामचन्द्र जी को अपने मन में सदा स्मरण किया करते थे ॥ २६ ॥

[श्लोक २५, २६ का वृत्त भूषणकार ने चिन्त्य बतलाया है ।]

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—:*:—

सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः

—:o:—

राघवस्त्वथ यातेषु तपस्विषु विचिन्तयन् ।
 न तत्रारोचयद्वासं कारणैर्बहुभिस्तदा ॥ १ ॥

ऋषियों के उस आश्रम को त्याग कर चले जाने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने अनेक बातों को सोच विचार कर, वहाँ रहना ठीक न समझा ॥ १ ॥

इह मे भरतो दृष्टो मातरश्च सनागराः ।
 सा च मे स्मृतिरन्वेति तां नित्यमनुशोचतः ॥ २ ॥

१ ऋषिचरितेरामेधृतगुणाः—समर्पित मनसः तापसाः राघवं सततमनुगताः मनसा प्राप्ताः । (शि०)

श्रीरामचन्द्र ने विचारा कि, इस स्थान पर नगरवासियों से, भाई भरत से और माताश्री से मेरी भेंट हुई थी, सो यहाँ रहने से मेरी चित्तवृत्ति सदा उर्हाँकी ओर लगी रहती है, और वह मुझे शोकाकुल किया करती है ॥ २ ॥

स्कन्धावारनिवेशेन तेन तस्य महात्मनः ।

हयहस्तिकरीषैश्च उपमर्दः कृतो भृशम् ॥ ३ ॥

विशेष कर यहाँ महात्मा भरत की सेना के टिकने से, हाथों घोड़ों ने (जो लीद और मूष त्याग किया था अथवा) जो रोदा था, इससे यहाँ की भूमि अत्यन्त गन्दी हो गयी है ॥ ३ ॥

तस्मादन्यत्र गच्छाम इति सञ्चिन्त्य राघवः ।

प्रातिष्ठृत स वैदेह्या लक्ष्मणेन च सङ्गतः ॥ ४ ॥

अतः इस आश्रम को त्याग दूसरी जगह चलना ठीक है । इस प्रकार सोच विचार कर, श्रीरामचन्द्र जी अपने साथ सीता जी और लक्ष्मण को ले, वहाँ से चल दिये ॥ ४ ॥

सोऽत्रेराश्रममासाद्य तं बवन्दे महायशाः ।

तं चापि भगवानत्रिः पुत्रवत्प्रत्यपद्यत ॥ ५ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ से प्रस्थान कर, अत्रि मुनि के आश्रम में पहुँच, मुनि को प्रणाम किया । अत्रि मुनि ने भी उनको पुत्रभाव से देखा ॥ ५ ॥

स्वयमातिथ्यैमादिश्य सर्वमस्य सुसत्कृतम् ।

सौमित्रिं च महाभागां सीतां च समसान्त्वयत् ॥ ६ ॥

१ प्रातिष्ठृत—प्रथितः । (गो०) २ आतिथ्यमादिश्य—आतिथ्यं कृत्वा । (गो०) ३ समसान्त्वयत्—प्रतियुक्तेनचक्षुषापश्यत । (रा०)

अत्रि ऋषि ने स्वयं श्रीरामचन्द्र जी का यथाविधि अतिथि सत्कार कर, महाभाग लक्ष्मण और सीता जी को स्नेह की दृष्टि से देखा ॥ ६ ॥

पर्वीं च समनुप्राप्तां वृद्धामापन्त्य सत्कृताम् ।
सान्त्वयामास धर्मज्ञः सर्वभूतहिते रतः ॥ ७ ॥

सब प्राणियों के हित में रत, धर्मज्ञ अत्रि मुनि ने वहाँ पर उपस्थित, अपनी वृद्धा तपस्विनी पत्नी अनुसूया जी को बुला कर, उनको आदरपूर्वक बिठा कर समझाया ॥ ७ ॥

अनसूयां महाभागां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
प्रतिगृहीष्व वैदेहीमब्रवीदपिसत्तमः ॥ ८ ॥

तदन्तर ऋषिश्रेष्ठ अत्रि जी ने उन महाभाग्यवती, तपस्विनो और धर्म में निरत अनुसूया जी से कहा कि, जानकी जी हमारे आश्रम में आयी हैं, सो इनको अपने साथ ले जा कर, इनका आदर सत्कार करो ॥ ८ ॥

रामाय चाचक्षे तां तापसीं धर्मचारिणीम् ।
दश वर्षाण्यनावृष्ट्या दग्धे लोके निरन्तरम् ॥ ९ ॥

यया मूलफले सृष्टे जाहवी च प्रवर्तिता ।
उग्रेण तपसा युक्ता नियमैश्चाप्यलंकृता ॥ १० ॥

दश वर्षसहस्राणि यया तसं महत्तपः ।
अनसूयावतैः स्नात्वा प्रत्युहाश निवर्तिताः ॥ ११ ॥

तदन्तर अत्रि जी ने श्रीरामचन्द्र जी से तपस्विनी एवं धर्मचारिणी अनुसूया का वह सब वृत्तान्त कहा कि, दस वर्ष तक

बराबर जल की वृष्टि न होने से जब संसार भूमि होने लगा था, तब अनुसूया जी ने किस प्रकार अपनी उग्र तपस्या से ऋषियों के लिये फलमूल उत्पन्न किये और स्नान करने को गङ्गा नदी वही बहायी थैर किस प्रकार हजार वर्ष तक उग्र तपस्या कर और तपस्या के प्रभाव से, सब ऋषियों के तप के विघ्न नष्ट किये ॥ ६ ॥
॥ १० ॥ ११ ॥

देवकार्यनिमित्तं च यथा सन्त्वरमाणया ।

दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ॥ १२ ॥

अत्रि जी ने श्रीराम जी से कहा—हे अनघ ! यह वही अनुसूया हैं, जिन्होंने देवताओं का काम बनाने के लिये, तुरन्त ही इस रात की एक रात कर दी थी ॥ १२ ॥

तामिमां सर्वभूतानां नमस्कार्यां यशस्विनीम् ।

अभिगच्छतु वैदेही वृद्धामक्रोधनां सदा ॥ १३ ॥

अतः इन्हों सब कारणों से यह यशस्विनी सब प्राणियों से नमस्कार किये जाने योग्य अर्थात् सब की पूज्या हैं । इन बूढ़ी बड़ी तथा सदा क्रोध रहित मनवाली अनुसूया जी के साथ जानकी जी जाय ॥ १३ ॥

अनसूयेति या लोके कर्मभिः ख्यातिमागता ।

तां शीघ्रमभिगच्छ त्वमभिगम्यां तपस्विनीम् ॥ १४ ॥

जो अपने उल्कुष्ट कर्मों के कारण लोकों में अनुसूया के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन तपस्विनी एवं साथ जाने के योग्य अनुसूया के पास जानकी जी शीघ्र जाय ॥ १४ ॥

एवं ब्रुवाणं तमृषिं तथेत्युक्त्वा स राघवः ।

सीतामुवाच धर्मज्ञामिदं वचनमुत्तमम् ॥ १५ ॥

अत्रि जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने उनसे कहा “तथास्तु”—(वहुत अच्छा सीता अनुसूया जी के साथ जायेंगी) तदनन्तर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता जी से यह वचन कहा ॥ १५ ॥

राजपुत्रि श्रुतं त्वेतन्मुनेरस्य समीरितम् ।

श्रेयोर्थमात्मनः शीघ्रमभिगच्छ तपस्विनीम् ॥ १६ ॥

हे राजपुत्रि ! मुनि जी ने ज्ञा कहा से तो तुमने सुन ही लिया । अतः अब तुम अपने कल्याण के लिये शीघ्र इन तपस्विनी जी के साथ गमन करो ॥ १६ ॥

सीता त्वेतद्वचः श्रुत्वा राघवस्य हितैषिणः ।

तामत्रिपत्नीं धर्मज्ञामभिचक्राम मैथिली ॥ १७ ॥

हितैषी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, सीता जी, पति-व्रत धर्म की जानने वाली अत्रिपत्नी—अनुसूया के साथ गयीं ॥ १७ ॥

शिथिलां वलितां वृद्धां जरापाण्डुरमूर्धजाम् ।

सततं वेपमानाङ्गीं प्रवाते कदली यथा ॥ १८ ॥

अनुसूया जी का शरीर, बुद्धापे के कारण शिथिल हो गया था, सब शरीर की खाल सिकुड़ गयी थी और सिर के बाल सफेद हो गये थे । हवा के वेग से काँपते हुए केले के पेड़ को तरह, उनका शरीर सदा काँपा करता था ॥ १८ ॥

तां तु सीता महाभागामनसूर्यां पतिव्रताम् ।

अभ्यवादयदव्यग्रा स्वं नाम समुदाहरतः ॥ १९ ॥

उन महाभाष्यवती और पतिव्रता अनुसूया जी को, सीता जी ने अपना नाम ले कर प्रणाम किया ॥ १९ ॥

[नोट—धर्मशास्त्र में जहाँ प्रणाम करने की विधि लिखी है, वहाँ प्रणाम करने वालों के नामोच्चारण पूर्वक प्रणाम करने की विधि निर्दिष्ट है । यथा—“ अमुक गोत्रोत्प्रोऽहं अमुक शर्माऽहं अभिवादयामि । ”]

अभिवाद्य च वैदेही तापसीं तामनिन्दिताम् ।

बद्धाङ्गलिपुटा हृष्टा पर्यपृच्छदनामयम् ॥ २० ॥

उन अनिन्दिता तपस्विनी जी को वैदेही ने प्रणाम करके, तदुपरान्त हाथ जोड़ और प्रसन्न हो उनसे कुशल प्रश्न किया ॥ २० ॥

ततः सीतां महाभागां हृष्टा तां धर्मचारिणीम् ।

सान्त्वयन्त्यब्रवीद्धृष्टा दिष्ट्याः॒ धर्ममवेक्षसे॒ ॥ २१ ॥

धर्मचारिणी और महाभाष्यवती सीता जी को प्रणाम करते और कुशलप्रश्न पूँछते देख, अनुसूया जी ने धीरज बँधाने के लिये सीता जी से कहा —हे सीते ! यह बड़े सौभाग्य की बात है कि, तुम पतिव्रतधर्म की ओर भली भाँति ध्यान देती हो ॥ २१ ॥

त्यक्त्वा ज्ञातिजनं सीते ॑मानमृद्धिं च मानिनि॒ ।

॑अवरुद्धं वने रामं दिष्ट्याः॒ त्वमनुगच्छसि॒ ॥ २२ ॥

१ समुदाहरत—प्रणाम विधिविनेऽञ्चारथामास । (शि०) २ दिष्ट्या—भाग्येन । (गो०) ३ धर्ममवेक्षसे—पतिव्रत धर्ममवधानेन समीक्षसे । (गो०) ४ मान—अहंकारं । (गो०) ५ अवरुद्ध—नियुक्तं । (शि०) ६ दिष्ट्या—भाग्यमेतत् । (शि०) * पाठान्तरे—“ भामिनि ” ।

हे मानिनी ! तुम्हारे लिये यह बड़े ही सौभाग्य की बात है कि, तुम अपनी जाति वालों को, राजकुमारी होने के अहङ्कार को और धन सम्पत्ति को त्याग कर, बनवासी श्रीराम की अनुगामिनी हुई हो ॥ २२ ॥

नगरस्थो वनस्थो वा पापो वा यदि वा शुभः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोका महोदयाः ॥२३॥

पति वन में रहे अथवा नगर में रहे, पति पापी हो अथवा पुण्यात्मा हो ; जो स्त्री अपने पति से प्रीति रखती है, वह उत्तमोत्तम लोकों को प्राप्त होती है ॥ २३ ॥

दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः ।

स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं देवतं पतिः ॥ २४ ॥

भले ही पति क्रूर स्वभाव का हो, कामी हो, धनहीन हो, किन्तु श्रेष्ठ स्वभाव वाली स्त्रियों के लिये उनका पति देवता के तुल्य है अथवा पति ही उनका परम देवता है ॥ २४ ॥

नातो विशिष्टं पश्यामि बान्धवं विमृशन्त्यहम् ।

'सर्वत्र योग्यं वैदेहि तपः कृतमिवाव्ययम् ॥ २५ ॥

हे वैदेही ! मैंने भली भाँति विचार कर देखा, परन्तु पति से अधिक स्त्रियों का बन्धु कोई नहीं पाया । क्योंकि पति सब अवस्थाओं में, अक्षय तप की तरह, पह्ली की रक्षा करने में समर्थ है ॥ २५ ॥

न त्वेवमवगच्छन्ति गुणदोषमसत्त्वियः ।

कामवक्तव्यहृदया भर्तुनाथाश्चरन्ति याः ॥ २६ ॥

^१ सर्वत्रयोग्यं—सर्वावस्थासुरक्षणसमर्थं । (गो०)

हे वैदेही ! कामासक, पतियों की स्वामिनी दुष्टा स्त्रियाँ, भलाई बुराई का विचार नहीं करतीं ॥ २६ ॥

प्राप्नुवन्त्ययशश्वैर् धर्मभ्रंशं च मैथिलि ।

अकार्यवशमापन्नाः स्त्रियो याः खलु तद्विधाः ॥ २७ ॥

हे मैथिली ! ऐसी स्त्रियाँ निश्चय ही अनकरने कामों में फँस, अपनी निन्दा करवाती और धर्मभ्रष्ट भी होती हैं ॥ २७ ॥

त्वद्विधास्तु गुणैर्युक्ता दृष्ट्वोक्परावराः ।

स्त्रियः स्वर्गे चरिष्यन्ति यथा धर्मकृतस्तथा ॥ २८ ॥

किन्तु तुम्हारी तरह जिन गुणवती स्त्रियों ने संसार के अच्छे बुरे कर्मों को जान लिया है, वे पुण्यकर्मा पुरुषों की तरह स्वर्गप्राप्त करती हैं ॥ २८ ॥

तदेवमेनं त्वमनुव्रता सती

पतिव्रतानां समयानुवर्तिनी ।

भव स्वभर्तुः सह धर्मचारिणी

यशश्च धर्मं च ततः समाप्स्यसि ॥ २९ ॥

इति सप्तदशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे सती ! इसी प्रकार तुम पति के कहने में चल और पतिव्रताओं के आचरण करतो हुई, अपने पति की सहधर्मिणी हो । ऐसा करने से तुम्हें यश और पुण्य दोनों मिलेंगे ॥ २९ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः

— :०: —

सा त्वेवमुक्ता वैदेही त्वनसूयानसूयया ।
प्रतिपूज्य वचो मन्दं प्रवक्तुमुपचक्रमे ॥ १ ॥

जब निन्दारहित अनुसूया ने इस प्रकार कहा, तब सीता जी उनके कथन का अनुमोदन कर धीरे से बोलीं ॥ १ ॥

नैतदाश्चर्यमार्याया यन्मां त्वमनुभाषसे ।
विदितं तु मयाप्येतद्यथा नार्याः पतिर्गुरुः ॥ २ ॥

हे आर्ये ! आपका मुझे इस प्रकार का उपदेश देना—कोई आश्र्य की बात नहीं है । परन्तु मैं भी यह जानती हूँ कि, नारी का पति ही गुरु होता है ॥ २ ॥

यद्यप्येष भवेद्वर्ता ममार्ये वृत्तवर्जितः ।
'अद्वैधमुपचर्तव्यस्तथाप्येष मया भवेत् ॥ ३ ॥

यद्यपि पति अच्छी वृत्ति से हीन और दरिद्र ही क्यों न हो, तथापि मुझे जैसी लियों को उसके प्रति द्वैधी भाव न रखना चाहिये अर्थात् पति के साथ प्रोतिपूर्वक वर्तीव करना चाहिये ॥ ३ ॥

किं पुनर्यो गुणश्लाघ्यः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ।
स्थिरानुरागो धर्मात्मा रमातृवत्पितृवत्प्रियः ॥ ४ ॥

१ अद्वैधं—द्वैधीभावरहितं । (गो०) २ मातृवतपितृवत्प्रियः—अत्यन्तहित परत्वेन । (गो०)

फिर जो पति गुणवान होने के कारण सराहनीय है, दयावान्, जितेन्द्रिय, स्थिरानुरागी, धर्मज्ञ और माता पिता की तरह अत्यन्त हित तत्पर है, उसका तो कहना ही क्या है ॥ ४ ॥

यां वृत्तिं वर्तते रामः कौसल्यायां महाबलः ।
तामेव नृपनारीणामन्यासामपि वर्तते ॥ ५ ॥

देखिये, श्रीरामचन्द्र जी की जो भावना अपनी जननी कौशल्या में है, उनकी वही भावना महाराज की अन्य सब रानियों में भी है। अर्थात् उनको भी श्रीराम निज मातृवत् समझ उनके साथ माता जैसा व्यवहार करते हैं ॥ ५ ॥

सकृददृष्टास्वपि स्त्रीषु नृपेण नृपवत्सलः ।
मातृवद्वर्तते वीरो मानमुत्सृज्य धर्मवित् ॥ ६ ॥

इतना ही नहीं—किन्तु, महाराज दशरथ ने जिन स्त्रियों की ओर एक बार भी आँख उठा कर देख लिया अर्थात् अपनी स्त्री मान कर देखा, उन स्त्रियों को भी महाराज के प्यारे वीरवर धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र मातृवत् सम्मान की दृष्टि से देखते हैं ॥ ६ ॥

आगच्छन्त्याश्र विजनं वनमेवं भयावहम् ।
समाहितं वे शवश्रवा च हृदये तद्वत् महत् ॥ ७ ॥

मैं जब इस भयानक निर्जन वन को आने लगी, तब सास कौशल्या जी ने आपकी तरह मुझे जो उपदेश दिया था, वह मेरे हृदय में है अर्थात् मेरे हृदयपट्टल पर अङ्कित है ॥ ७ ॥

पाणिप्रदानकाले च यत्पुरा त्वग्निसन्धिष्ठौ ।
अनुशिष्ठा जनन्यास्मि वाक्यं तदपि मे धृतम् ॥ ८ ॥

विवाह के समय अग्नि के सामने मेरी माता ने मुझे जो उपदेश दिया था, वह भी मुझे याद है ॥ ८ ॥

नवीकृतं च तत्सर्वं वाक्यैस्ते धर्मचारिणि ।

पतिशुश्रूषणान्नार्यास्तपो नान्यद्विधीयते ॥ ९ ॥

हे धर्मचारिणी ! पतिसेवा को छोड़ खी के लिये दूसरी तपस्या नहीं है—इत्यादि उपदेश जो मेरे बन्धुवान्धवों ने मुझे दिये थे, उनको आपने पुनः (आज) मेरो स्मृति में ताज़े (नवीन) कर दिये ॥ ९ ॥

सावित्री पतिशुश्रूषां कृत्वा स्वर्गे महीयते ।

तथावृत्तिश्च याता त्वं पतिशुश्रूषया दिवम् ॥ १० ॥

देखिये, सावित्री आपने पति की सेवा कर के ही, स्वर्ग में, आदर प्राप्त कर निवास करती हैं। इसी प्रकार आप भी पतिसेवा द्वारा स्वर्ग पावेंगी ॥ १० ॥

वरिष्ठा सर्वनारीणामेषा च दिवि देवता ।

रोहिणी न विना चन्द्रं मुहूर्तमपि हश्यते ॥ ११ ॥

सब द्वियों में श्रेष्ठ और स्वर्ग की देवी रोहिणी भी, चन्द्रमा के विना एक जल भी नहीं देख पड़ती ॥ ११ ॥

एवंविधाश्च प्रवराः स्त्रियो भतुद्दद्वताः ।

देवलोके महीयन्ते पुण्येन स्वेन कर्मणा ॥ १२ ॥

इसी प्रकार की श्रेष्ठ भी अनेक उत्तम द्विया, जो दृढ़वत धर्म धारण करने वाली हैं, वे अपने पुण्यरूपों के प्रभाव से स्वर्ग में जाती हैं ॥ १२ ॥

ततोऽनसूया संहृष्टा श्रुत्वोक्तं सीतया वचः ।

शिरस्याद्य चोवाच मैथिलीं हर्षयन्त्युत ॥ १३ ॥

सोता जो की ये बातें सुन, अनुसूया जो हर्षित हुई और सीता जी का मस्तक सुँघ उनको हर्षित कर, कहने लगीं ॥ १३ ॥

नियमैर्विविधैरासं तपो हि महदस्ति मे ।

तत्संश्रित्य बलं सीतेच्छन्दये त्वां शुचिस्मिते ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैंने अनेक प्रकार के ब्रतनियम आदि का पालन कर, जो तपःफल सञ्चित किया है, वह थोड़ा नहीं बहुत अधिक है। अतः हे शुचिस्मिते ! उस तपःफल के बल मैं तुझे बर देना चाहती हूँ सो तू बर माँग ॥ १४ ॥

उपपञ्चं मनोऽङ्गं च वचनं तव मैथिलि ।

प्रीता चास्म्युचितं किं ते करवाणि ब्रवीहि मे ॥ १५ ॥

क्योंकि हे मैथिली ! तूने जो उचित एवं मनोहर वचन कहे हैं, उनसे मैं नर ऊपर बहुत प्रसन्न हूँ। अब तू बतला कि, मैं तेरा क्या प्रियकार्य करूँ ॥ १५ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा विस्मिता मन्दविस्मया ।

कृतमित्यब्रवीत्सीता तपोबलसमन्विताम् ॥ १६ ॥

पतिब्रतधर्म की जानने वाली तपोबलं से युक्त अनुसूया जी के यह वचन सुन, सीता जी ने विस्मित हो तथा मुसङ्ख्या कर, कहा कि, आपके अनुग्रह ही से मेरी सब कामनाएँ पूर्ण होंगी ॥ १६ ॥

सा त्वेवमुक्ता धर्मज्ञा तया प्रीततराऽभवत् ।

सफलं च प्रहर्षं ते हन्त सीते करोम्यहम् ॥ १७ ॥

पतिव्रतधर्म की जानने वाली अनुसूया जी सीता जी के यह वचन सुन, उन पर और भी अधिक प्रसन्न हुई और बोलीं—हे सीते ! तुम्हे देख कर मुझे जो हर्ष हुआ है, उसके अनुरूप उसे मैं अवश्य सफल करूँगी ॥ १७ ॥

इदं दिव्यं वरं माल्यं वस्त्रमाभरणानि च ।

अङ्गरागं च वैदेहि महार्हं चानुलेपनम् ॥ १८ ॥

यह उत्तम दिव्य माला, वस्त्र, भूषण, अङ्गराग तथा मूल्यवान् उबटन, जो मैं देती हूँ, इनसे तेरे अंग सुशोभित होंगे ॥ १८ ॥

मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत् ।

अनुरूपमसंक्लिष्टं नित्यमेव भविष्यति ॥ १९ ॥

अङ्गरागेण दिव्येन लिपाङ्गी जनकात्मजे ।

शोभयिष्यति भर्तारं यथा श्रीर्विष्णुमव्ययम् ॥२०॥

हे जनकनन्दिनी ! इन वस्तुओं का नित्य व्यवहार करने से भी ये कभी मैली नहीं होंगे और तेरे शरीर के लिये ठीक होंगे और तेरे अंगों को शोभा बढ़ावेंगी । मेरे दिये हुए इस दिव्य अङ्गराग को अपने अंगों में लगाने से तुम अपने पति को उसी प्रकार शोभित करोगी जैसे लक्ष्मोदेवी नाशरहित भगवान् श्रीर्विष्णु को शोभित करती हैं ॥ १९ ॥ २० ॥

सा वस्त्रमङ्गरागं च भूषणानि सजस्तथा ।

मैथिली प्रतिजग्राह प्रीतिदानमनुत्तमम् ॥ २१ ॥

जानकी जी ने अनुसूया जी के दिये हुए उत्तम प्रेमोपहार वस्त्र, अङ्गराग, आभूषण और माला आदि को ग्रहण किया ॥ २१ ॥

१ अनुरूपं—तद्गात्रानुरूपं । (गो०) २ असंक्लिष्टं—अवाधिवशोभ-
मित्यर्थः । (गो०)

प्रतिगृह्य च तत्सीता प्रीतिदानं यशस्विनी ।

शिलष्टाञ्जलिपुटा तत्र समुपास्त तपेधनाम् ॥ २२ ॥

यशस्विनी सीता ने अनुसूया जी के दिये हुए, उस प्रेमोपहार का ग्रहण किया और हाथ जोड़ कर तपस्विनी अनुसूया के पास बैठीं ॥ २२ ॥

तथा सीतामुपासीनामनसूया दृढव्रता ।

वचनं प्रष्टुमारेभे कथां कांचिदनुप्रियाम्* ॥ २३ ॥

जानकी जी को पास बैठी देख, दृढव्रत धारण करने वाली अनुसूया जी सीता जी से कोई मनोरञ्जन वात सुनने की इच्छा से पूँछने लगीं ॥ २३ ॥

स्वयंवरे किल प्राप्ता त्वमनेन यशस्विना ।

राघवेणेति मे सीते कथा श्रुतिमुपागता ॥ २४ ॥

हे जानकी ! इन यशस्वी श्रीरामचन्द्र ने तुमको स्वयंवर में पाया यह कथा मैं संक्षेप से तो सुन चुकी हूँ ॥ २४ ॥

तां कथां श्रोतुमिच्छामि विस्तरेण च मैथिलि ।

यथाऽनुभूतं कात्स्न्येन तन्मे त्वं वक्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

किन्तु हे मैथिली ! इस वृत्तान्त को मैं विस्तार पूर्वक सुनना चाहती हूँ । सो जो कुछ हुआ वह समस्त मुझे सुनाओ ॥ २५ ॥

एवमुक्ता तु सा सीता तां ततो धर्मचारिणीम् ।

श्रूयतामिति चोक्त्वा वै कथयामास तां कथाम् ॥ २६ ॥

सीता जी ने, अनुसूया जी के ये वचन सुन, धर्मचारिणी तपस्विनी अनुसूया जी से यह कहा कि, सुनिये वह वृत्तान्त सुनाती हूँ ॥ २६ ॥

* पाठान्तरे—“कांचित्प्रयकथामनु” ।

मिथिलाधिपतिर्वर्णो जनको नाम धर्मवित् ।

क्षत्रधर्मे हाभिरता न्यायतः शास्ति मेदिनीम् ॥ २७ ॥

सीता जी बोली—मिथिला के अधिपति, वीर और धर्मज्ञ महाराज जनक, ज्ञात्रकर्त्तव्य पालन में सदा तत्पर रहते हैं, और न्यायपूर्वक राज्य का शासन करते हैं ॥ २७ ॥

तस्य लाङ्गूलहस्तस्य कर्षतः क्षेत्रमण्डलम् ।

अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता ॥ २८ ॥

यज्ञ के लिये यज्ञभूमि का संरक्षार करने की जब हल हाथ में ले वे द्वेष जोतने लगे, तब मैं पृथिवी को भेद कर, उनकी पुत्री के रूप में निकल आयी ॥ २८ ॥

स मां दृष्ट्वा नरपतिर्मुष्टिविक्षेपतत्परः ।

पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं जनको विस्मितोऽभवत् ॥ २९ ॥

उस समय राजा जनक जो मंत्रपाठपूर्वक सुट्टी में ले औषधि के बीज बोने में तत्पर थे, मेरे सारे शरीर में धूल लगी देख, विस्मित हुए ॥ २९ ॥

*अनपत्येन च स्नेहादङ्गमारोप्य च स्वयम् ।

ममेयं तनयेत्युक्त्वा* स्नेहो मयि निपातितः ॥ ३० ॥

सन्तानहीन होने के कारण, उन्होंने स्नेह से स्वयं मुझे उठा अपनी गोदी में लिया और यह कहा कि, यह मेरी बेटी है—मेरे ऊपर बड़ा स्नेह करने लगे ॥ ३० ॥

अन्तरिक्षे च वागुक्ताप्रतिमामानुषी किल ।

एवमेतन्नरपते धर्मेण तनया तव ॥ ३१ ॥

१ अनपत्येनचतेन—स्नेहान्मामङ्गमारोप्य । (गो०)

* पाठान्तरे—“तनयेत्युक्ता” ।

उस समय आकाश से मनुष्य जैसी बोली में यह वचन सुन पड़े कि—हे राजन् ! निश्चय ही यह तुम्हारी धर्मपुत्री है ॥ ३१ ॥

ततः प्रहृष्टो धर्मात्मा पिता मे मिथिलाधिपः ।

‘अवासो विपुलामृद्धि मामवाप्य नराधिपः ॥ ३२ ॥

तब तो मेरे धर्मात्मा पिता मिथिलाधीश बहुत प्रसन्न हुए और मेरे मिलने से नरेन्द्र को बड़ी समृद्धि प्राप्त हुई ॥ ३२ ॥

दत्ता चास्मीष्टवदेव्यै॒ ज्येष्ठायै॒ पुण्यकर्मणा॑ ।

तथा संभाविताऽ॒ चास्मि स्तिं धया मातृसौहृदात् ॥३३॥

सदा यज्ञानुष्ठान करने वाले महाराज जनक ने मुझे अपनी पटरानी को जो सन्तान की इच्छा रखती थीं, ईप्सित-वस्तु की तरह सौंप दिया । वे आदर और स्नेह से माता जैसे अनुराग से मेरा लालन पालन करने लगीं ॥ ३३ ॥

५पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्टा तु मे पिता ।

चिन्तामध्यगमदीनो वित्तनाशादिवाधनः ॥ ३४ ॥

मुझे विवाह करने के योग्य उम्र में पहुँची देख, पिता जी उसी प्रकार चिन्ताग्रस्त और विकल हुए, जिस प्रकार धन के नाश से निर्धन मनुष्य विकल और चिन्ताग्रस्त होता है ॥ ३४ ॥

सदृशाच्चापकृष्टाच्च लोके कन्यापिता जनात् ।

६प्रधर्षणायवामोति शक्रेणापि समो भुवि ॥ ३५ ॥

१ मल्लामेतरं तस्य महतो समृद्धिर्जतेति भावः । (रा०) २ इष्टवदेव्यै—
—इच्छावत्यै देव्यै । (गो०) ३ यद्वा सन्तानेच्छावत्यै देव्यै । (रा०) ३ पुण्य-
कर्मणा—अनवरतयज्ञादिकर्मयुक्तेनजनकेन । (गो०) ४ संभाविता—
संवर्धितेत्यर्थः । (गो०) ५ पतिसंयोग सुलभं—पाणिप्रहणोचितं । (रा०)
६ प्रधर्षण—तिरस्क्यां । (गो०)

क्योंकि, कन्या का पिता चाहे इन्द्र के समान ही क्यों न हो, और वर के पक्ष के लोग बराबर या हीन दर्जे ही के क्यों न हों, किन्तु कन्या के पिता को, नीचा ही देखना पड़ता है ॥ ३५ ॥

तां धर्षणामदूरस्थां दृष्टा चात्मनि पार्थिवः ।

चिन्तार्णवगतः पारं नाससादाषुवो यथा ॥ ३६ ॥

अतः मेरे पिता उस तिरस्कार के होने में कुछ भी विलम्ब न देख, चिन्तासागर में निमग्न हो गये और नौकाही न जन की तरह वे उस चिन्तासागर के पार न जा सके ॥ ३६ ॥

अयोनिजां हि मां ज्ञात्वा नाध्यगच्छद्विचिन्तयन् ।

सदृशं चानुरूपं च महीपालः पतिं पम ॥ ३७ ॥

पिता जी, मुझे अयोनिजा जान मेरे सदृश और मेरे योन्य वर, बहुत हृदने पर भी न पा सके। अतः उनका इस बात की सदा चिन्ता बनी रहती थी ॥ ३७ ॥

तस्य बुद्धिरियं जाता चिन्तयानस्य सन्ततम् ।

स्वयंवरं तनूजायाः करिष्यामीति धीमतः ॥ ३८ ॥

निरन्तर सोचते सोचते मेरे बुद्धिमान् पिता ने यह विचारा कि, इस पुत्री के विवाह के लिये स्वयंवर की योजना करना उचित है ॥ ३८ ॥

महायज्ञे तदा तस्य वरुणेन महात्मना ।

दत्तं धनुर्वरं प्रीत्या तूणी चाक्षयसायकौ ॥ ३९ ॥

पूर्वकाल में किसी समय किसी महायज्ञ में मेरे पिता जी के किसी पूर्वज को, वरुण जी ने प्रीतिपूर्वक एक श्रेष्ठ धनुष, और श्रद्धय वाणों से पूर्ण दो तरकस दिये थे ॥ ३९ ॥

असंचालयं मनुष्यैश्च यत्रेनापि च गौरवात् ।

तन्न शक्ता नमयितुं स्वप्नेष्वपि नराधिपाः ॥ ४० ॥

यह धनुष इतना भारी था कि, अनेक मनुष्य मिल कर बड़ा प्रयत्न करने पर भी उसे सरका भी नहीं सकते थे, और राजा लोग स्वप्न में भी उसको नहीं लचा सकते थे ॥ ४० ॥

तद्भुः प्राप्य मे पित्रा व्याहृतं सत्यवादिना ।

समवाये नरेन्द्राणां पूर्वमामन्त्र्य पार्थिवान् ॥ ४१ ॥

मेरे सत्यवादो पिता महाराज जनक ने पुरुषानुक्रम से वह धनुष पाया था । सो उन्होंने राजाओं को निमंत्रण दे एकत्र किया और फिर उन सब के सामने बोले ॥ ४१ ॥

इदं च धनुरुद्यम्य सज्यं यः कुरुते नरः ।

तस्य मे दुहिता भार्या भविष्यति न संशयः ॥ ४२ ॥

हे राजा लोगो ! आप लोगों में से जो पुरुष इस धनुष को उठा कर, इस पर रोदा चढ़ा देगा, मैं अपनी पुत्री उसीको व्याह दूँगा । इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ ४२ ॥

तच्च दृष्ट्वा धनुःश्रेष्ठं गौरवादगिरिसन्निभम् ।

अभिवाद्य नृपा जग्मुरशक्तास्तस्य तोलने ॥ ४३ ॥

राजा लोग पहाड़ की तरह भारी उस धनुषश्रेष्ठ को देख, और उसे उठाने को अपने में शक्ति न पा कर, धनुष को प्रणाम कर के चले गये ॥ ४३ ॥

सुदीर्घस्य तु कालस्य राघवोऽयं महाद्युतिः ।

विश्वामित्रेण सहितो यज्ञं द्रष्टुं समागतः ॥ ४४ ॥

स्वयंवर होने के बहुत दिनों बाद यह महाद्युतिमान् श्रीरामचन्द्र जी विश्वामित्र जी के साथ, पिता जी का यज्ञ देखने आये ॥ ४४ ॥

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा रामः सत्यपराक्रमः ।

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा मम पित्रा सुपूजितः ॥ ४५ ॥

मेरे पिता जी ने भाई लक्ष्मण के साथ आये हुए सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी और धर्मात्मा विश्वामित्र जी का भली भाँति आदर सत्कार किया ॥ ४५ ॥

प्रोवाच पितरं तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

सुतौ दशरथस्येमौ धनुर्दर्शनकाङ्क्षिणौ ॥ ४६ ॥

तदनन्तर विश्वामित्र जी ने मेरे पिता से कहा कि, ये महाराज दशरथ के दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण हैं और यह आपका धनुष देखना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

धनुर्दर्शय रामाय राजपुत्राय दैविकम् ।

इत्युक्तस्तेन विप्रेण तद्भनुः समुपानयत् ॥ ४७ ॥

अतः आप श्रीरामचन्द्र जी को वरुण का दिया हुआ वह धनुष दिखला दीजिये । विश्वामित्र जी के यह कहने पर, जनक जी ने वह धनुष मँगवा दिया ॥ ४७ ॥

निमेषान्तरमात्रेण तदानम्य महाबलः ।

ज्यां समारोप्य भटिति पूरयामास वीर्यवान् ॥ ४८ ॥

और पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने पलक मारते उस धनुष को नवा, उस पर झट रोदा चढ़ा दिया और उसे टंकोरा ॥ ४८ ॥

तेन पूरयता वेगान्मध्ये भग्नं द्विधा धनुः ।

तस्य शब्दोऽभवद्ग्रीमः पतितस्याशनेरिव ॥ ४९ ॥

टंकोर देने के लिये ज़ोर से डोरी खींचने के कारण बीच से डसके दो टुकड़े हो गये । उसके ट्रूटने से ऐसा भब्डूर शब्द हुआ मानों कहीं वज्र गिरा हो ॥ ४९ ॥

ततोऽहं तत्र रामाय पित्रा सत्याभिसन्धिना ।

निश्चिता दातुमुद्यम्य जलभाजनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

तदनन्तर मेरे सत्यसन्धि पिता ने मेरा दान करने के लिये उत्तम जलपात्र मँगवाया और श्रीरामचन्द्र को मुझे देने को वे उद्यत हुए ॥ ५० ॥

दीयमानां न तु तदा प्रतिजग्राह राघवः ।

अविज्ञाय पितुश्छन्दमयोध्याधिपतेः प्रभोः ॥ ५१ ॥

किन्तु देने के लिये उद्यत होने पर भी, अयोध्याधिपति अपने पिता का अभिप्राय जाने विना, श्रीरामचन्द्र जी ने मुझे ग्रहण करना स्वीकार न किया ॥ ५१ ॥

ततः इवशुरमामन्य वृद्धं दशरथं नृपम् ।

मम पित्रा त्वं दत्ता रामाय विदितात्मने ॥ ५२ ॥

तब मेरे पिता ने मेरे वृद्ध ससुर महाराज दशरथ जी को निमंत्रण भेज बुलवाया और उनकी अनुमति से जगत् में प्रसिद्ध (अथवा आत्मवेत्ता) श्रीरामचन्द्र जी को मुझे सौंप दिया अर्थात् उनके साथ मेरा विवाह कर दिया ॥ ५२ ॥

^१ छन्दं—अभिप्रायं । (गो०)

मम चैवानुजा साध्वी उर्मिला प्रियदर्शना ।

भार्यार्थे लक्ष्मणस्यापि दत्ता पित्रा मम स्वयम् ॥ ५३ ॥

मेरी छोटी, सीधी सादी और सुन्दर वहिन उर्मिला को, मेरे पिता ने स्वयं लक्ष्मण को भार्या रूप में दिया । अर्थात् लक्ष्मण के साथ उसका भी विवाह कर दिया ॥ ५३ ॥

एवं दत्तास्मि रामाय तदा तस्मिन्स्वयंवरे ।

अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ॥ ५४ ॥

इति अष्टादशोत्तरशततमः सर्गः ॥

हे तपोधने ! मैं उस स्वयंवर में इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी को दी गयी । तब से मैं धर्मानुसार पराक्रमवालों में श्रेष्ठ ध्यपने पति श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करने में अनुरागिनी हूँ ॥ ५४ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

—*—

एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः

—:०:—

अनसूया तु धर्मज्ञा श्रुत्वा तां महर्तीं कथाम् ।

पर्यष्वजत वाहुभ्यां शिरस्याग्राय मैथिलीम् ॥ १ ॥

पतिव्रताधर्म को जानने वाली अनसूया जी ने सीता के विवाह का सविस्तर वृत्तान्त सुन, जानकी जी का मस्तक सुँधा और दोनों हाथों से पकड़, उनको अपने हृदय से लगा कर, कहा ॥ १ ॥

व्यक्ताक्षरपदं चित्रं^१ भाषितं मधुरं^२ त्वया ।

यथा स्वयंवरं वृत्तं तत्सर्वं हि श्रुतं मया ॥ २ ॥

तु ने स्वयंवर का जो समस्त वृत्तान्त, साफ साफ, मनोहर और विचित्र रीति से कहा, सो मैंने सब सुना ॥ २ ॥

रमेऽहं कथया ते तु दृढं मधुरभाषिणि ।

रविरस्तं गतः श्रीमानुपोहा रजनीं शिवाम् ॥ ३ ॥

हे मधुरभाषिणी ! यद्यपि तेरी इस कथा के सुनने में मेरा मन बहुत लगता है, तथापि अब सूर्य भगवान् अस्ताचलगामी हो चुके हैं और सुन्दर रात होना चाहती है ॥ ३ ॥

दिवसं प्रतिकीर्णानामाहारार्थं पत्रिणाम् ।

सन्ध्याकाले निलीनानां निद्रार्थं श्रूयते ध्वनिः ॥ ४ ॥

देखो न ! दिन भर भोजन की खोज में इधर उधर उड़ते हुए पक्षी, सन्ध्या हुई देख बसेरा लेने के लिये अपने अपने घोंसलों में आ गये हैं । यह उन्हींका शब्द सुन पड़ता है ॥ ४ ॥

एते चाप्यविषेकाद्रा मुनयः कलशोद्यताः ।

सहिता उपवर्तन्ते सलिलाप्लुतवल्कलाः ॥ ५ ॥

ये मुनि लोग स्नान कर भींगे हुए बल्कल बस्त्र तथा जल के कलसे लिये हुए, साथ साथ आ रहे हैं ॥ ५ ॥

ऋषीणामग्निहोत्रेषु हुतेषु विधिपूर्वकम् ।

कपोताङ्गारुणो धूमो दृश्यते पवनोद्धतः ॥ ६ ॥

१ चित्रं — बहुविधञ्च्यज्ञनाविशिष्ठम् । (शि०) २ मधुरं — मनोहरं । (शि०)

ऋषियों के विधि विधान से किये हुए अग्निहोत्र का धुआ, जो कबूतर की गरदन के रंग के समान लाल (धुमैले लाल) वर्ण का है, वायु के बेग से आकाश की ओर उठता हुआ देख पड़ता है ॥ ६ ॥

अल्पपर्णा हि तरवो घनीभूताः समन्ततः ।

विप्रकुष्टेऽपि देशेऽस्मिन्न प्रकाशन्ति वै दिशः ॥ ७ ॥

ये सब अल्प पत्तों वाले पेड़, जो यहाँ से दूर हैं ने के कारण साफ नहीं दिखलायी पड़ते, चारों ओर से अन्धकार के कारण सघन जान पड़ते हैं । दिशाएँ भी अन्धकार छा जाने से प्रकाश रहित हो गयी हैं । अथवा अंधेरा छा जाने के कारण चारों ओर दूर दूर खड़े हुए थे ऐ पत्ते वाले पेड़ भी सघन जान पड़ते हैं । अब किसी दिश में भी उजियाला नहीं देख पड़ता ॥ ७ ॥

रजनीचरसत्त्वानि प्रचरन्ति समन्ततः ।

तपोवनमृगा ह्येते वेदितीर्थेषु शेरते ॥ ८ ॥

देखा निशाचर चारों ओर धूमने लगे हैं और तपोवन के मृग अग्निहोत्र की बेदी के पवित्र स्थानों में पड़े से रहे हैं ॥ ८ ॥

संप्रवृत्ता निशा सीते नक्षत्रसमलंकृता ।

ज्योत्स्नाप्रावरणश्वन्दो दृश्यतेऽभ्युदितोऽम्बरे ॥ ९ ॥

हे सीते ! देखा रात भी तारागणों से भूषित हो आ पहुँची और चन्द्रमा भी चाँदनी फैलाता हुआ आकाश में उदय हो रहा है ॥ ९ ॥

गम्यतामनुजानामि रामस्यानुचरी भव ।

कथयन्त्या हि मधुरं त्वयाऽहं परितोषिता ॥ १० ॥

१ रजनीचरसत्त्वा—निशाचराः । (शि०) २ वेदितीर्थेषु—पावन-
बेदिषु । (शि०)

अब मेरी अनुमति से तुम जा कर श्रीरामचन्द्र जी की सेवा करो। तुम्हारी मनोहर कथावार्ता सुन मुझे बहुत ही सन्तोष हुआ ॥ १० ॥

अलंकुरु च तावत्वं प्रत्यक्षं मम मैथिलि ।

प्रीतिं जनय मे वत्से दिव्यालङ्कारशोभिता ॥ ११ ॥

हे मैथिली ! तुम इन दिव्य अलंकारों को मेरे सामने ही धारण करो और इनसे भूषित हो, मेरी प्रसन्नता बढ़ाओ। अर्थात् मुझे प्रसन्न करो ॥ ११ ॥

सा तथा समलंकृत्य सीता सुरसुतोपमा ।

प्रणम्य शिरसा तस्यै रामं त्वभिमुखा ययौ ॥ १२ ॥

तब देवकन्या के तुल्य सीता जी उन अलङ्कारों से अपने शरीर को सजा कर और अनुसूया जी के चरणों में अपना सीस रख, (अर्थात् प्रणाम कर) श्रीरामचन्द्र जी के पास गयीं ॥ १२ ॥

तथा तु भूषितां सीतां ददर्श वदतांवरः ।

राघवः प्रीतिदानेन तपस्विन्या जहर्ष च ॥ १३ ॥

वचन बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी सीता जी को भूषित देख, अनुसूया जी के दिये हुए प्रेमोपहार से बहुत प्रसन्न हुए ॥ १३ ॥

न्यवेदयत्ततः सर्वं सीता रामाय मैथिली ।

प्रीतिदानं तपस्विन्या वसनाभरणस्तजम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर अनुसूया जी के दिये हुए प्रेमोपहार अर्थात् वस्त्र, आभूषण, माला आदि के मिलने का वृत्तान्त सीता जी ने श्रीराम-

चन्द्र जी से कहा अथवा प्रेमोपहार की वस्तुएँ सीता जी ने श्रीराम-
चन्द्र जी को दिखलाई ॥ १४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवद्रामो लक्ष्मणश्च महारथः ।

मैथिल्याः सत्कियां दृष्टुं मानुषेषु सुदुर्लभास् ॥ १५ ॥

मनुष्यों के लिये अलभ्य, अनुसूया जी के किये हुए जानकी जी के सत्कार को देख, श्रीरामचन्द्र और महारथो लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए । अथवा अनुसूया जी ने जानकी जी का जो सत्कार किया, वह मनुष्यों के लिये दुर्लभ है, अतः उसे देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए । अथवा मनुष्यों को दुर्लभ जो वस्त्राभूषण प्रेमोपहार में अनुसूया जी ने जानकी जी को दिये थे, उन्हें देख श्रीरामचन्द्र और महाबलवान् लक्ष्मण अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥

ततस्तां शर्वरीं प्रीतः पुण्यां॑ शशिनिभाननः ।

अर्चितस्तापसैः॒ सिद्धैरुखास रघुनन्दनः ॥ १६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने तपस्त्रियों और सिद्धों से सत्कारित हो, और अनुसूया जी के दिये हुए वस्त्राभरणों से भूषित चन्द्रमुखी सीता जी को देख, वह रात वहीं रह कर बिताई ॥ १६ ॥

तस्यां॑ रात्र्यां॑ व्यतीतायामभिषिच्य॒ हुताग्निकान् ।

आपृच्छेतां॑ नरव्याघ्रौ॒ तापसान्वनगोचरान् ॥ १७ ॥

जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब दोनों पुरुषसिंहों ने स्नान और सन्ध्योगासन अग्निहोत्रादि कर्मों से निश्चिन्त

१ पुण्यां—अनुसूययापुण्ययालंकारां सीतां दृष्टृवा । (रा०) २ अभिषिच्य हुताग्निकान्—स्नात्वाकृतहोमान् । (गो०)

हो, वनवासी तपस्त्रियों से आगे वन में जाने के लिये विदा माँगी ॥ १७ ॥

तावृचुस्ते वनचरास्तापसा धर्मचारिणः ।

वनस्य तस्य सञ्चारं राक्षसैः समभिष्ठुतम् ॥ १८ ॥

तब धर्मचारी और वनवासी तपस्त्रियों ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—हे राघव ! इस वन में मनुष्यों को धूमना फिरना, राक्षसों के कारण बड़ा भयावह है। अथवा राक्षसों के उपद्रव से यह वन प्रदेश बड़ी जेाखों का स्थान हो रहा है ॥ १८ ॥

रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव ।

वसन्त्यस्मिन्महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः ॥ १९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! इस वन में नाना रूपधारो एवं नरमासभेजी राक्षस और रक्त पीने वाले हिंसपशु रहते हैं ॥ १९ ॥

'उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वातापसं धर्मचारिणम् ।

अदन्त्यस्मिन्महारण्ये तान्निवारय राघव ॥ २० ॥

वे राक्षस और जंगली हिंसपशु इस वन में किसी धर्मचारी तपस्त्री को कभी अपवित्र दशा में या असावधान पाते हैं तो मार कर खा जाते हैं। अतः हे राघव ! आप इन दुष्टों को मारें। (राक्षस अपवित्र दशा में रहने वाले तपस्त्रियों को और वन्य जन्तु सिंह ध्याव्रादि असावधान तपस्त्रियों को) ॥ २० ॥

एष पन्था महर्षीणां फलान्यहरता वने ।

अनेन तु वनं दुर्गं गन्तुं राघव ते क्षमम् ॥ २१ ॥

हे राघव ! इस रास्ते से तपस्वी लोग वन में फल लेने जाते हैं, अतः इसी रास्ते से आपका भी इस दुर्गम वन में जाना ठीक है ॥ २१ ॥

इतीव तैः प्राञ्जलिभिस्तपस्विभि-
द्विजैः कृतस्वस्त्ययनः परन्तपः
वनं सभार्यः प्रविवेश राघवः
सलक्ष्मणः सूर्य इवाभ्रमण्डलम् ॥ २२ ॥

इति एकोनविंशत्युत्तरशततमः सर्गः ॥

जब तपस्वियों ने हाथ जोड़ मङ्गल आशीर्वाद दे कर इस प्रकार कहा, तब शत्रुघ्नों के तपाने वाले श्रीराम और लक्ष्मण ने सीता जी सहित, उस दुर्गम वन में, उसी प्रकार प्रवेश किया, जिस प्रकार सूर्यदेव मेघमण्डल में प्रवेश करते हैं ॥ २२ ॥

अयोध्याकाण्ड का एक सौ उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

॥ अयोध्याकाण्ड समाप्त हुआ ॥
इत्यर्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये
चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्
अयोध्याकाण्डः समाप्तः ॥

— : * : —

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः
श्रीवैष्णवसम्प्रदायः



एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रश्याहरत विस्त्रिधं बलं विष्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं द्वाभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याययेन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनोयगुणाभ्यये ।
चक्रवर्तितनृजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मेहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलानगरीपते� ।
 भाग्यानां परिपाकाय भव्यहृषय मङ्गलम् ॥ ८ ॥

पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सीतया ।
 नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ९ ॥

त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
 सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥

सौमित्रिणा च जानक्या चापबाणासिधारिणे ।
 संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥

दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
 गृध्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥

सादरं शवरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
 सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्त्वोद्रिकाय मङ्गलम् ॥ १३ ॥

हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायने ।
 वालिप्रमथानायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥

श्रीमते रघुवीराय सेतूलुड्डितसिन्धवे ।
 जितरात्मसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥

आसाद्य नगरो दिव्यामभिषिकाय सीतया ।
 राजाविराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥

मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
 सर्वैश्च पूर्वोराचार्यैः सकृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

माध्वसम्प्रदायः
 स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
 न्यायेन मार्गेण महीं महीशाः ।
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥
 काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
 देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥
 लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
 येषामिन्दीवरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणावधये ।
 चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥
 कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
 नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः
 स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
 न्यायेन मार्गेण महीं महीशाः ।
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥
 काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
 देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥
 अपुत्राः पुत्रिणः सन्तु पुत्रिणः सन्तु पौत्रिणः ।
 अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
 एकैकमङ्गरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ३ ॥
 शृणुवन्नामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
 स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥
 रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
 रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥
 यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्तुते ।
 वृत्रनाशे समभवत्तते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
 चक्रवर्तितनूजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥
 यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
 अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥
 अमृतोत्पादने दैत्यान्मतो वज्रधरस्य यत् ।
 अदितिर्मङ्गलं प्रादातत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥
 श्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
 यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥
 अमृतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
 मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥
 कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
 नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥